व्यक्तित्व

इसके विकास के उपाय

लेखक की Personality का अनुवाद

लेखक
जे० एम० ग्राहम एम० ए०

अनुवादक
श्री जी० पी० सिंह

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड
दिल्ली।

मूल्य एक रुपया

मुद्र
गोपीनाथ से

क्रम

प्रस्तावना

यदि आप पश्चिम की पत्रिकाओं के विज्ञापन-पृष्ठ देखें तो उनमें से अधिकांश में मनोविज्ञान की नई-नई विचार-धाराओं की झलक पावेंगे। यदि एक में आपको प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा असाधारण व्यक्तिगत आकर्षण प्रदान करने की शक्ति बताई गई है तो दूसरे में ऐसे तरीके बताए गए हैं जो आपको गुलामी से निकालकर एक महत्वपूर्ण पद पर पहुंचा सकते हैं। उन्हें पढ़कर ऐसा प्रतीत होगा कि यदि आप इन विज्ञापनों के कहे अनुसार चलें तो जीवन के सभी सम्भव आनन्द आपके चरणों में लोटते फिरेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक ऐसा कोई प्रलोभन नहीं देती और न ही कोई ऐसा तरीका बतलाती है जिससे आपके व्यक्तित्व में एकाएक क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाय। हाँ, इतना इसका दावा अवश्य है कि यदि आप इसमें बताए हुए सिद्धान्तों पर आचरण करेंगे तो आपकी अन्तर्निहित शक्ति के अनुसार आपके चरित्र और व्यक्तित्व का पूरा विकास हो सकता है तथा आप उच्च श्रेणी का वैयक्तिक नैपुण्य और संतुलन (पॉयज़) प्राप्त कर सकते हैं।

एक महत्व की बात, जिसका ध्यान हमेशा रखना चाहिए, यह है कि व्यक्तित्व केवल एक प्रकार का ही नहीं होता। उसके

अनेक प्रकार हैं; उनमें से प्रत्येक का अपना स्थान है तथा प्रत्येक प्राप्त करने योग्य है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल की प्रतियोगितापूर्ण दुनिया मे किसी-न-किसी प्रकार का व्यक्तित्व होना एक अत्या-वश्यक गुण है। करीव-करीव हर मालिक आजकल ऐसे स्त्री या पुरुष की खोज में रहता है जिसके ऊपर जिम्मेदारी का बोझ डाला जा सके तथा जिस पर हर परिस्थिति-विशेष में विश्वास किया जा सके।

ये ही एक पूर्ण और सुविकसित व्यक्तित्व के आवश्यक गुण हैं।

: १ :

व्यक्तित्व क्या है ?

अधिकांश लोग 'व्यक्तित्व' का अर्थ [illegible], प्रफुल्लता, साहस या विलक्षणता समझते हैं। सभा-सोसाइटियों में प्रभावशाली और दबंग आचरण को भी व्यक्तित्व का प्रतीक समझा जाता है।

असल में आपका व्यक्तित्व वह खास चीज है जो आपको सर्व-साधारण की भीड़ में भी निराला बनाए रखती है, या जिसकी तरफ इशारा करते समय हम कह उठते हैं, "अरे, वह तो दूसरों से भिन्न है।"

कई लोग कह उठेंगे, "अतुल एक अद्भुत व्यक्तित्व वाला पुरुष है। अपने काम में गज़ब की निपुणता रखता है। यदि एक बार उसने समझ लिया कि अमुक चीज़ उसे पानी है, तो फिर उसे पाकर ही दम लेता है। मुझे तो उससे ईर्ष्या होती है।"

संभवतः अतुल कद में लम्बा, देखने में सुन्दर, शरीर से सुसज्जित और हर प्रकार से एक चुस्त नवयुवक है, फौरन लोगों को प्रभावित कर लेता है। हम सभी इस श्रेणी के व्यक्तियों से परिचित हैं।

लेकिन दूसरी तरफ ऐसे लोगों की संख्या भी कम न होगी जो महसूस करेंगे कि अतुल कुछ-कुछ आक्रामक (एग्रेसिव) तथा आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति है, काम की धुन में

अनेक प्रकार हैं; उनमे से प्रत्येक का अपना स्थान है तथा प्रत्येक प्राप्त करने योग्य हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल की प्रतियोगितापूर्ण दुनिया में किसी-न-किसी प्रकार का व्यक्तित्व होना एक अत्यावश्यक गुण है। करीव-करीव हर मालिक आजकल ऐसे स्त्री या पुरुष की खोज में रहता हैं जिसके ऊपर जिम्मेदारी का बोझ डाला जा सके तथा जिस पर हर परिस्थिति-विशेष में विश्वास किया जा सके।

ये ही एक पूर्ण और सुविकसित व्यक्तित्व के आवश्यक गुण हैं।

: १ :

व्यक्तित्व क्या है ?

अधिकांश लोग 'व्यक्तित्व' का अर्थ उत्साह, प्रफुल्लता, साहस या विश्वस्तता समझते है। सभा-सोसाइटियों मे प्रभावशाली और दबंग आचरण को भी व्यक्तित्व का प्रतीक समझा जाता है।

असल में आपका व्यक्तित्व वह खास चीज़ है जो आपको सर्व-साधारण की भीड़ में भी निराला बनाए रहती है, या जिसकी तरफ इशारा करते समय हम कह उठते हैं, "अरे, वह तो दूसरों से भिन्न है।"

कई लोग कह उठेंगे, "अतुल एक अद्भुत व्यक्तित्व वाला पुरुष है। अपने काम में गज़ब की निपुणता रखता है। यदि एक बार उसने समझ लिया कि अमुक चीज़ उसे पानी है, तो फिर उसे पाकर ही दम लेता है। मुझे तो उससे ईर्ष्या होती है !"

संभवतः अतुल कद से लम्बा, देखने में सुन्दर, शरीर से सुसज्जित और हर प्रकार से एक चुस्त नवयुवक है, फौरन लोगों को प्रभावित कर लेता है। हम सभी इस श्रेणी के व्यक्तियों से परिचित है।

लेकिन दूसरी तरफ ऐसे लोगों की संख्या भी कम न होगी जो महसूस करेंगे कि अतुल कुछ-कुछ आक्रामक (एग्रेसिव) तथा आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति है, काम की धुन में

हमेशा अपने ही अन्दर डूबा रहता है, किसी सांस्कृतिक व्यसन का जैसे उसके जीवन मे कोई स्थान ही न हो, मानो दुनिया में आगे बढ़ते जाना ही सब कुछ है, और ऐसा करने मे शायद उसे अपने कार्य-साधनों के औचित्य-अनौचित्य का भी बहुत ख्याल नहीं रहता।

फिर भी आक्रामक श्रेणी का व्यक्तित्व ऐसा है जिसकी आजकल के ज़माने में बड़ी कद्र की जाती है। कारण यह है कि ऐसा व्यक्ति वर्तमान युग की प्रवृत्ति से अभिभूत होता है, और चूँकि वह किसी भी मूल्य पर सफलता प्राप्त करने के लिए तुला होता है, उसका दृष्टिकोण एक कट्टर व्यक्तिवादी का होता है।

कभी-कभी आदमी की सांसारिक सफलता को ही उसके व्यक्तित्व का प्रतीक मान लिया जाता है। अनेक लोग सुन्दर व्यक्तित्व और अच्छी वेश-भूषा, सम्पन्नता या साधारण सफलता को एक ही चीज समझते है। इसका कारण यह है कि दुनिया में एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की हैं, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व के बल पर गरीबी से निकलकर सम्पन्नता प्राप्त की है या नगण्य अवस्था से उन्नति करके किसी महत्वपूर्ण पद पर पहुँच गए है।

लेकिन व्यक्तित्व के और भी कई प्रकार है। सांसारिक अर्थ मे धनी होना ही जीवन का सर्वस्व और एकमात्र लक्ष्य नहीं है। एक ऐसा सर्वांगपूर्ण जीवन व्यतीत करना, जो सच्चे मैत्री

सम्बन्धों तथा सुन्दर अनुभवों से भरा हुआ हो तथा जिसमें व्यक्ति को यह सन्तोष हो कि उसने जीवन के श्रेष्ठतम आदर्शों और विश्वासो के अनुकूल आचरण किया है, सुन्दर व्यक्तित्व के लिए कम आवश्यक नहीं है।

बावजूद इस विश्वास के कि 'प्रायः आदमी की बाहरी वेश-भूषा से ही उसकी असलियत का अन्दाजा लग जाता है', वेश-भूषा एक नगण्य महत्त्व की चीज है।

एक बार किसी सरकारी भवन के उद्घाटन के अवसर पर प्रतिष्ठित लोगो की एक मण्डली उपस्थित थी। अधिकांश लोग अपेक्षित शिष्टाचार के अनुकूल सुबह के कपड़े पहन कर आये हुए थे। लेकिन उस दिन का सबसे अच्छा भाषण एक ऐसे व्यक्ति ने दिया जो सोने के समय पहने हुए कपड़ो मे ही चला आया था और वह भी बहुत गन्दे कपड़े। निस्सन्देह वह एक बहुत उच्च श्रेणी का व्यक्तित्व रखने वाला व्यक्ति था।

एक और प्रकार का व्यक्तित्व होता है जो अपेक्षाकृत शान्त रहने वाले व्यक्तियो मे पाया जाता है। उसकी विशेषताएं होती है सज्जनता, विनय-शीलता, शिष्टता, उदारता, सरलता और गहरा आत्म-विश्वास। ये उस व्यक्ति के गुण है जो स्वयं अपने को तथा अपने साथियो को भली-भाँति समझता है।

इनके अलावा एक और श्रेणी भी होती है जिसे सच्चे अर्थों मे 'मनमोहक' व्यक्तित्व कहा जा सकता है। ऐसे व्यक्तित्व वाले लोग महत्वाकांक्षाओं के पीछे नहीं दौड़ते। उनमे दूसरो के

लिए असीम सद्भावना और मैत्री की भावना भरी होती है तथा वे सभी के दुख-सुख के साथी होते है। साथ ही सांसारिक सफलता की दृष्टि से भी ऐसे लोग महत्वाकांक्षी व्यक्तियों की अपेक्षा बुरे नहीं होते।

जैसा पहले कहा गया है वेश-भूषा से व्यक्तित्व नहीं बनता, लेकिन आत्म-स्थापन (सेल्फ-असर्शन) उसका एक आवश्यक अंग है। शिक्षा यद्यपि महत्वपूर्ण वस्तु है, परन्तु व्यक्तित्व के लिए उतनी आवश्यक नहीं है। कुछ लोगों का तो यह भी विचार है कि भलमनसाहत भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि महान् व्यक्तित्व वालों मे जहां एक ओर कई संत हुए है, वहीं और शायद उनसे भी बड़ी [संख्या मे पापात्मा भी हुए है। सौंदर्य अलबत्ता एक महत्वपूर्ण चीज़ है, परन्तु केवल सौंदर्य नगण्य होता है। अनेक सुन्दर अभिनेत्रियाँ अपने कार्य मे असफल रह जाती हैं क्योंकि उनकी सुन्दरता के पीछे व्यक्तित्व का अभाव होता है।

उच्च परिवार में पैदा होने से भी व्यक्तित्व का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। कितने ही लम्बी उपाधियों से विभूषित लोग अत्यन्त मनहूस और प्रभाव-शून्य होते है।

यदि हम उन विशेषताओं का ठीक-ठीक पता लगा ले, जिन्होंने नेपोलियन या नेलसन, मुसोलिनी या हिटलर, लायड जार्ज या चर्चिल, गांधी या टालसटाय, टैगोर या बर्नार्ड शा को इतना ऊपर उठा दिया तो शायद हम इस समस्या की जड़ के

निकट पहुंच जायंगे।

प्रत्येक ऐसे व्यक्ति में, जो अपने साथियों की तुलना में बहुत ऊपर उठ जाता है, कुछ मौलिक गुण पाए जाते है।

मनुष्य के चेहरे से निकलता हुआ जीवट या कार्य-क्षमता का प्रकाश, जिससे दूसरों पर उसकी अदम्य शक्ति की छाप पड़ती है, इन गुणों में से एक है। सुन्दर स्वास्थ्य दूसरा गुण है, हालांकि यह अनिवार्य नहीं है। शारीरिक स्वास्थ्य के बारे में प्रसिद्ध समाजशास्त्री और नाटककार श्री बर्नार्ड शा क्या कहते है यह ध्यान देने योग्य है, "यदि आपके पास अच्छा स्वास्थ्य है, तो उससे काम लीजिए, क्योंकि यही उसकी उपादेयता है। स्वास्थ्य को संचित मत करिए, नहीं तो बासे दूध की तरह उसके बिगड़ जाने का खतरा है।"

एक दूसरी आवश्यकता बुद्धि है; और जैसा कि कुछ लोगों का ख्याल है इस गुण का धनी या अच्छे परिवार में पैदा होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि हिसाब लगाकर देखा गया है कि धनियों की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप अपेक्षाकृत गरीब परिवारों ने ही अधिकांश उच्च व्यक्तित्व के लोगों को पैदा किया है।

कुमारी मेगनी ने 'व्यक्तित्व' नामक अपनी पुस्तक में कहा है कि "अधिकांश लोग स्वभावतः प्रेम, पौरुष, सौन्दर्य, सौम्यता और सुन्दर स्वभाव को पसन्द करते हैं, परन्तु बुद्धि या मस्तिष्क को नहीं पसन्द करते।"

पहले सभी गुण वांछनीय है, प्रत्येक आदमी इस बात को स्वीकार करेगा: परन्तु बुद्धि का महत्व नहीं है सब लोग ऐसा मानने के लिए तैयार न होंगे।

अन्य आवश्यक गुण ये है—साहस, हार्दिकता, कष्ट झेलने की सामर्थ्य, सामने मौजूद काम पर पूरा ध्यान दे सकने की क्षमता, व्यवहार-चातुर्य, उत्साह, मौलिकता, खतरा उठाने की योग्यता, और परिपक्व निर्णय-शक्ति।

परन्तु व्यवहार चातुर्य, उत्साह और निर्णय-शक्ति के बीच परस्पर सम्बन्ध होना आवश्यक है, जिससे व्यक्ति के जीवन मे उचित संतुलन की स्थापना हो सके। आवश्यकता से अधिक उत्साही व्यक्ति कभी-कभी ऐसा आचरण कर सकता है कि देखने मे मूर्ख प्रतीत हो। अधिक दुनियादार और चालाक लोग ऐसे व्यक्ति को फंसाकर अपना स्वार्थ-साधन करते है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि उत्साह के वेग को थोड़ा दबाकर रखा जाय।

लार्ड नार्थक्लिफ ने एक बार कहा था कि जिस आदमी को सफलता प्राप्त करनी हो उसे अपनी विनोद-वृत्ति को सदा के लिए दबा देना चाहिए। लेकिन विनोद-वृत्ति एक कीमती गुण है। वास्तव में लार्ड नार्थक्लिफ का मतलब यह था कि आवश्यकता से अधिक विनोद-वृत्ति वालों को हमेशा इस बात का खतरा बना रहता है कि न तो वे स्वयं जीवन की समस्याओं का गम्भीरता-पूर्वक सामना कर सके और न अन्य लोग ही उनकी बातों पर कोई ध्यान दे सके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि विनोद-वृत्ति

मनुष्य को सनकी बना दे या इसके कारण वह जीवन को एक बड़ा मजाक समझने लगे तो वह एक बड़ी बाधा का रूप धारण कर लेती है।

इस समस्या की असली गुत्थी पर हम उस वक्त पहुंचते है जब हम समझ ले कि व्यक्तित्व एक सामाजिक गुण है। यह वह चीज है जिसकी परख तब तक नहीं हो सकती जब तक व्यक्ति को अपने साथियों के सम्पर्क मे न देखा जा सके। साथियों के बीच आदमी का व्यवहार कैसा होता है,इसे देखकर ही बताया जा सकता है कि उसमे व्यक्तित्व है अथवा नही।

इस प्रकार मनुष्य की यह छठी वृत्ति अर्थात् सामाजिक वृत्ति (सोशल सेन्स) ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। किसी भी सामाजिक ढांचे के अन्दर आसानी से समा जाने की योग्यता को ही 'सामाजिक वृत्ति' (सोशल सेन्स) कहते है। यदि आप में यह गुण मौजूद है तो कभी आप लोगो से दब नहीं सकते; आपको पता है कि किन साथियो के साथ कैसा व्यवहार करने की आवश्यकता है, क्योंकि आप उनकी दुर्वलताओ से भली-भांति परिचित हैं।

इसके अलावा हो सकता है कि आपमे कोई विलक्षण गुण न हो या आपने कभी कोई बहुत बड़ी सफलता भी न प्राप्त की हो, फिर भी महज इसलिए कि आपके अन्दर 'सामाजिक-वृत्ति' मौजूद है, आप अपने से अधिक योग्यता वाले साथियो से आगे बढ़ सकते है। इसका मतलब यह हुआ कि आप मे

लोगों से मिलने-जुलने की योग्यता अच्छी है।

मुझे अनेक ऐसे दृष्टांतों का पता है जहां बिना किसी शिक्षा-सम्बन्धी या अन्य गुणों के केवल 'सामाजिक वृत्ति' के बल पर लोगों ने अपने धन्धे या व्यापार में काफी ऊंचा दर्जा हासिल कर लिया है, और मेरा विश्वास है कि पाठकों में से भी कई के अनुभव इस प्रकार के होंगे।

सामाजिक वृत्ति व्यवहार-कौशल (टैक्ट) से ही मिलती-जुलती चीज है। दूसरे शब्दों में यह उस मनुष्य की विशेषता है जो समझता है कि किस प्रकार दूसरों की बात सुननी चाहिए, कब अपना मुंह एकदम बंद कर लेना चाहिए तथा विभिन्न लोगों और परिस्थितियों को किस प्रकार सुलझाना चाहिए। ये उसी व्यक्ति में आ सकते है जो अपने साथियों की हर बात को जानने और समझने का कष्ट करता है, उनमें दिलचस्पी लेता है तथा कन्धे से कन्धा मिलाकर उनके बीच उठता-बैठता है। पुस्तकों से ये बाते नहीं सीखी जा सकतीं।

सामाजिक वृत्ति उस व्यक्ति मे नही आ सकती जो ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आने पर जिन्हे वह अपने से अधिक चतुर या धनी समझता है, हीन-भाव (इनफीरिआरिटी काम्प्लेक्स) का अनुभव करने लगे। इसकी विशेष व्याख्या आगे चलकर की जायगी।

निम्नलिखित सूची संक्षिप्त विवरण के रूप मे उपयोगी होगी :—

व्यक्तित्व को बनाने वाले तत्व	व्यक्तित्व को बिगाडने वाले तत्व
जीवन-शक्ति	जीवन-शक्ति का अभाव
सुन्दर स्वास्थ्य	अस्वास्थ्य
तीव्र बुद्धि	मन्द बुद्धि
साहस	कायरता
एकाग्रचित्त	चंचलता
व्यवहार-कौशल	व्यवहार-कौशल की कमी
उत्साह	निरुत्साह
मौलिकता	मौलिकता का अभाव
खतरा उठाने की प्रवृत्ति	हिचकिचाहट और भय
परिपक्व निर्णय-शक्ति	कमजोर निर्णय-शक्ति
आत्म-संयम	असंयम
चरित्र	चरित्र की दुर्बलता
सामाजिक वृत्ति	सामाजिक वृत्ति का अभाव
सौम्यता और संतुलन	भद्दापन
स्वाभाविकता	कृत्रिमता
संस्कृति	अज्ञान
विनय-शीलता	प्रवंचना
उदारता	स्वार्थपरता
मूक आत्म-विश्वास	उद्दण्डता और कट्टर-पंथिता

दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की क्षमता	असहिष्णुता
	अनावश्यक हठ
	स्वयं से घृणा (आत्म-निन्दा)
	निराशा की भावना
	भाग्यवादिता और सनकीपन

अब हमें देखना होगा कि ये गुण किस श्रेणी के लोगों मे पाए जाते है। एक प्रकार से व्यक्तियो की दो स्पष्ट श्रेणियां हमे दिखाई पड़ती है—वहिर्मुख (एक्स्ट्रावर्ट) और अन्तर्मुख (इंट्रावर्ट)।

वहिर्मुख वह व्यक्ति है, जिसकी अभिरुचि वाहर की तरफ होती है, यानी वाहरी दुनिया की चीजों से दिलचस्पी होती है। अन्तर्मुख वह व्यक्ति है जिसकी अभिरुचि अन्तर्मुखी होती है, अर्थात् जिसकी दिलचस्पी का केन्द्र उसका अपना आंतरिक जीवन ही होता है।

वहिर्मुख व्यक्ति के प्रधान गुण है काम करने की प्रवल इच्छा तथा दूसरों पर अधिकार जमाने की प्रवृत्ति। ऐसे लोग शांत-प्रकृति होते है, न कि भावुक। चूंकि उनका अधिकांश ध्यान वाहरी दुनिया की तरफ होता है, चिंतन या मनन के लिए उनके जीवन मे वहुत स्थान नहीं होता। आन्तरिक विकास की

दृष्टि से उनका जीवन अपूर्ण होता है। इतना ही नहीं, आंतरिक जीवन की माँगको दबाने के लिए वे निरन्तर अपने को बढ़ती हुई कार्यशीलता मे फेंकते जाते है। यह सब होते हुए भी बहिर्मुख व्यक्ति अपने विचारो को अपने चारों तरफ को वास्तविकता के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते है।

ऐसे व्यक्ति पर परिस्थितियों का प्रभाव शीघ्र पड़ता है। चूंकि उसके जीवन का लक्ष्य ही अपने को जीवन की माँगों के अनुकूल बनाना होता है, वह अपने वातावरण में भली-भाँति खप जाता है। उसके विचार सर्व-साधारण के तथा उसकी जीवन-शैली परम्परागत होती है।

दुनिया किन गुणों की प्रशंसा करती है, इसे वह भली-भांति समझता है। बातों का जवाब देते समय सहज मुसकान से उसका चेहरा खिल जाता है, उसके अंग-अंग से स्फूर्ति टपकती प्रतीत होती है। और यही कारण है कि अन्तर्मुख व्यक्ति की अपेक्षा उसका व्यक्तित्व अधिक निखरा हुआ होता है। उसके ये गुण शीघ्र ही उसे जनता की निगाहों के सामने ले आते है। लोग उसकी प्रशंसा करते है, कहते है, 'उसका व्यक्तित्व असाधारण है।'

दूसरी तरफ, अन्तर्मुख व्यक्ति मितभाषी होता है तथा उसमे कार्यशीलता का थोड़ा अभाव होता है। साधारणतः गम्भीर प्रकृति होने के कारण उसका हृदय शान्त नहीं, वरन् भावुक होता है। वह निरन्तर विचार-मग्न रहता है और यही उस विश्रान्ति

(रिपोज़) का कारण है जो कभी-कभी सुस्ती की हद तक पहुंच जाती है तथा एक आदत का रूप धारण कर लेती है।

वहिर्मुख व्यक्ति के ठीक विपरीत वह अपनी भावनाओं को अपने ही अन्दर रखे रहता है। साधारणतः उसकी आदतें लोगों को पसन्द नहीं आती, वे समझते हैं कि उसकी सारी दिलचस्पी अपने ही तक केन्द्रित है। वह अपने विचारों को वास्तविकताओं के अनुकूल बनाने का उतना प्रयत्न नहीं करता जितना वास्तविकताओं को अपने विचारों के अनुकूल। अधिकांश लोग कह उठेंगे कि यही मनुष्यों की वह श्रेणी है जिसमें व्यक्तित्व का अभाव होता है।

जिस प्रकार वहिर्मुख व्यक्ति में आक्रामक वृत्ति (एग्रेसिवनेस) आत्म-विज्ञापन और विवेक की कमी आदि अवगुणों के आ जाने की सम्भावना होती है, ठीक उसी प्रकार भावात्मक जीवन के विकृत हो जाने के कारण अतिशय अन्तर्मुख व्यक्ति में सहृदयता का अभाव हो जाना स्वाभाविक है और यह उसके मित्रों की निराशा का सबसे बड़ा कारण है।

असल में यह कहना मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति एकदम वहिर्मुख या एकदम अन्तर्मुख होता है। अधिकांश लोग दोनों के मिश्रण होते हैं तथा साधारणतया जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर लेते हैं। फिर भी चूंकि इन दोनों श्रेणियों की अलग-अलग विशेषताएं हैं, किसी भी व्यक्ति में इनका स्पष्ट रूप में पाया जाना असम्भव नहीं है।

जीवन के प्रति आपके दृष्टिकोण को "जीवन-पद्धति" (लाइफ-स्टाइल) कहते है और इस दृष्टिकोण के अनुरूप ही आपके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। पैतृक परम्परा से प्राप्त गुणों तथा पालन--पोषण के वातावरण से प्राप्त संस्कारों के आधार पर ही आपकी जीवन-पद्धति बनती है।

मनोविज्ञान मे एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त होता है जिसे परिपूरण और अधिक परिपूरण (काम्पेन्सेशन एण्ड ओवर काम्पेन्सेशन) का नियम कहते है। जब कोई व्यक्ति स्वास्थ्य, सम्पत्ति सामाजिक स्थिति या अन्य किसी विषयमे औरों के मुकाबले हीनता का अनुभव करता है तो वह अनेक प्रकार के उपायों द्वारा उनसे भी आगे बढ़कर अपनी इस कमी को पूरा करने या उसका मुआविज़ा हासिल करने का प्रयत्न करता है।

ऐसा करने मे उसे मनुष्य की उस मौलिक प्रेरणा से सहायता मिलती है जिसे शक्ति-लालसा (विल-टु-पावर) कहते है और जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर निहित होती है। मनुष्य का हीन-भाव जितना गहरा होगा, उसकी शक्ति-लालसा की गति उतनी ही तीव्र होगी। यदि हीन-भाव और शक्ति-लालसा के इस संघर्ष मे सफलता मिली तो व्यक्ति का विकास होगा और यदि असफलता हुई तो व्यक्ति का पतन होगा और वह समाज-द्रोही, आत्म-हन्ता या क्रूर लुटेरा—कुछ भी बन सकता है।

सारी वैज्ञानिक उन्नति तथा मानव-समाज की असंख्य कला-कृतियाँ केवल इसलिए सभव हो सकी है कि अनेक व्यक्तियों

ने अपनी शक्ति-लालसा को कार्य-शील रखा है। यही वह शक्ति है जो हमे जीवन मे आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है।

यदि शक्ति-लालसा को खुली छूट दे दी जाय तो अपने लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग मे पड़ने वाली किसी भी मानवीय या भौतिक बाधा को कुचल डालने मे उसे संकोच नहीं होगा। लेकिन सौभाग्य से शक्ति-लालसा के ऊपर एक दूसरी उतनी ही मौलिक और प्रबल शक्ति का नियन्त्रण होता है, जिसे 'सामूहिक चेतना' (विल टु कम्यूनिटी) कहते है। यह चेतना निरंतर हमे अपने साथियो तथा समाज के जीवन से ऐक्य स्थापित करने की प्रेरणा देती रहती है।

यदि व्यक्ति ने अपने अन्दर संघर्ष करने वाली इन दो विरोधी इच्छाओं के बीच सामंजस्य स्थापित कर लिया तो उसका व्यक्तित्व निश्चय ही उच्च कोटि का होगा, क्योंकि ऐसी अवस्था मे उसे एक ठोस जीवन-पद्धति प्राप्त हो जायगी। इसके विपरीत यदि यह सामंजस्य न प्राप्त किया जा सका तो मनुष्य का व्यक्तित्व धुंधला, दृष्टिकोण विकृत तथा जीवन अस्वाभाविक होगा।

ये दोनों इच्छाएं हमारे अन्दर मौजूद है, इसे हम भली-भाँति जानते ही नहीं, वरन् उनकी प्रेरणा का निरंतर अनुभव कर चुके हैं तथा करते रहते है। हमे पता लगाना चाहिए कि उनका पारस्परिक संबंध सामंजस्यपूर्ण है अथवा संघर्ष-मय।

यदि संयोग से आपको इन दोनों के बीच एक उपयोगी

और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने मे सफलता मिल चुकी है तो आप भली-भॉति समझ सकते है कि पिछले पृष्ठों मे जिक्र की हुई सामूहिक-चेतना का अभिप्राय क्या है। पूर्ण रूप से विकसित सामूहिक चेतना को ही सामाजिक वृत्ति (सोशल सेन्स) कहते है।

यदि आपने उपरोक्त सामंजस्य स्थापित कर लिया है तो आप स्वार्थ-परता, असामाजिकता, मिथ्याभिमान और आक्रामकता आदि दुर्गुणों के शिकार न होंगे। व्यक्तितत्व सम्बन्धी ये दुर्गुण तभी उत्पन्न होते हैं जब सामूहिक चेतना की सहज अभिव्यक्ति से मुंह मोड़कर शक्ति-लालसा को एकदम बेलगाम छूट दे दी जाती है।

व्यक्ति के अन्दर इस अनियंत्रित वृत्ति की प्रधानता उस वक्त होती है जब वह अपने साथियों के मुकाबिले एक गहरे हीन-भाव का अनुभव करने लगता है तथा प्रतियोगिता मे उनसे हार जाने के भय से उनका साथ छोड़कर ऐसे उपायों की खोज मे लगता है जिनसे वह अपनी इन दुर्वलताओं पर काबू पा सके।

निश्चय रखिए कि ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका मतलब यह नहीं है कि आपको अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, समाज मे प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने के लिए या धनोपार्जन के लिए अपनी शक्ति-लालसा का प्रयोग करना ही नहीं चाहिए। उसका अर्थ केवल इतना है कि यदि उपरोक्त प्रयत्न करते समय

आप अपने साथियों का ख्याल रखेंगे तथा उनके साथ पूर्ण सहयोग करते हुए आगे बढ़ेंगे तो बहुत अच्छे रहेंगे।

आरम्भ में हम बहिर्मुख और अंतर्मुख व्यक्तित्वों की चर्चा कर चुके हैं। अब यदि हम उसके बाद कही हुई बातों की दृष्टि से उन पर विचार करते हैं तो हम इतना और जोड़ दे सकते हैं कि यदि बहिर्मुख व्यक्ति सामूहिक चेतना से काम नहीं लेता, अपने साथियों से सहयोग करने की योग्यता नहीं रखता, तथा अपने को समाज के लिए भारस्वरूप बना लेता है तो निश्चय ही उसका व्यक्तित्व विकृत हो जायगा।

ऐसा क्यों? इसलिए कि जो व्यक्ति अपने साथियों से अलग रहकर जीवन बिताता है वह प्रेम के स्निग्ध और रचनात्मक प्रभाव से एकदम शून्य रह जाता है जबकि एक सुन्दर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए इन चीजों का होना परमावश्यक है। अपने ही में मस्त रहने वाले ऐसे व्यक्तियों के अन्दर दूसरों के लिए कोई सहानुभूति नहीं हो सकती, न उन्हें किसी में दिलचस्पी होगी और न किसी को उनमें। अनेक मानस-शास्त्रियों के अनुभव से इस सत्य की पुष्टि की जा चुकी है।

इतना ही नहीं, बल्कि इस प्रकार के व्यक्ति में कई समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के उत्पन्न हो जाने की संभावना रहती है—जैसे क्रूरता, परपीड़नरति (सैडिज्म) या मद्यपान। और ऐसे व्यक्ति को कभी भी अच्छे व्यक्तित्व वाला नहीं कहा जा सकता।

मानव-जीवन की करीब-करीब सभी समस्याएं सामाजिक

है और यही कारण है कि उन्हें सुलझाने के लिए सामाजिक वृत्ति का होना परमावश्यक है। परन्तु चूँकि बहिर्मुखी व्यक्ति में इस वृत्ति का अभाव होता है, जब भी कभी जीवन की कोई प्रमुख समस्या उसके सामने आती है, उसे एक ऐसा धक्का लगता है जो उसकी समाज-विरोधी भावनाओं का कारण बन जाता है।

ऐसे बहिर्मुखी व्यक्ति के सामने जब कोई ऐसी समस्या आ जाती है जिसे वह सुलझा नहीं सकता तो तुरंत असामाजिक आचरण करने लगता है, असीम क्रूरता या परिपीड़न पर उतारू हो जाता है। लेकिन चूंकि उसके जीवन की प्रबलतम वृत्ति उसकी अंधाधुंध कार्यशीलता है, इस असफलता में भी उसकी जीवन-पद्धति देखी जा सकती है।

इसी प्रकार सामाजिक वृत्ति से हीन अन्तर्मुखी व्यक्ति की जीवन-पद्धति उस समय देखी जा सकती है जब वह किसी ऐसी समस्या से हार मानकर बैठ जाता है, जिसके लिए उस वृत्ति का होना आवश्यक है। उसकी अकर्मण्यता का अनुमान उस मानसिक विकार की भयंकर अवस्था से लगाया जा सकता है जिसमें वह असफलता उसे डाल देती है जैसे कि स्नायु-रोग या निद्रानाश।

कहा जाता है कि स्नायु-रोगी व्यक्ति संसार का सबसे दुःखी प्राणी है। फिर, ऐसे व्यक्ति में सुन्दर व्यक्तित्व कहाँ से आ सकता है!

हम अब तक के विवेचन का सारांश इस प्रकार रख सकते हैं:—'सुन्दर व्यक्तित्व उसे कहते हैं, जिसमें व्यक्ति की सम्पूर्ण निहित शक्तियों का सर्वाङ्ग विकास हो चुका हो'। स्पष्ट है कि इन शक्तियों के विकास में मानव की शक्ति-लालसा और सामूहिक चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति भी सम्मिलित है।

दोनों इच्छाओं के सुन्दर सामंजस्य से बना हुआ व्यक्तित्व ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व कहा जा सकता है।

स्मरणीय बातें

१. अपने अन्दर निहित सभावनाओ को भली-भाँति समझिए तथा उनका अधिक-से-अधिक विकास करने का प्रयत्न कीजिए।

२. सामाजिक वृत्ति पैदा कीजिए।

३. शक्ति-लालसा और सामूहिक-चेतना के बीच सामंजस्य स्थापित करिए। कभी भी एक को दूसरे पर हावी न होने दीजिए।

: २ :

व्यक्तित्व-निर्धारक तत्व

विलियम मैकडागल ने, जो आजकल के मानस-शास्त्रियों में एक विशिष्ट स्थान रखते है, व्यंक्तित्व निर्धारक तत्वों को पाँच भागों मे वॉटा है—(१) मन की प्रवृत्ति (डिस्पोजिशन), (२) स्वभाव (टेम्परामेण्ट), (३) मनःस्थिति (टेम्पर), (४) चरित्र (कैरेक्टर) और (५) मेधा (इण्टलेक्ट)।

हम भी इन्हीं पाचों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

(१) व्यक्ति के मन की प्रवृत्ति पर कई आन्तरिक ग्रन्थियों (ग्लैण्ड्स) का, जिन्हें प्रणाली-हीन ग्रन्थियाॅ (एण्डाक्रीन ग्लैड्स) कहते हैं, वड़ा प्रभाव पड़ता है—इस विषय की अनेक खोजें पिछले वर्षो मे की गई है। इन ग्रन्थियों से एक प्रकार का स्राव (सीक्रेशन) होता है जो व्यक्ति की विभिन्न प्रवृत्तियों के वीच एक उचित संतुलन स्थापित किये रहता है। चिकित्सा-शास्त्र का यह एक वहुत परिचित सिद्धान्त है कि यदि चुल्लिका (थीरायड) और पीयूष (पिट्यूटरी) नामक प्रणाली-हीन ग्रन्थियों मे अव्यवस्था उत्पन्न हो जाय तो व्यक्ति के अन्दर कई उग्र परिवर्तन आ जाते हैं।

चुल्लिका ग्रन्थि के दो खण्ड होते है, जो स्वरयंत्र (लेरिंक्स) के दोनों तरफ फैले हुए होते है। इससे जो स्राव होता है उसे

रक्त-नालिकायें (ब्लड-वेसेल्स) सोख लेती हैं । यदि इसके ठीक प्रकार से काम करने में कोई पैदायशी दोष होता है तो आदमी बौना या जड़मति (इडियट) हो जाता है, और यदि यह दोष बाद के जीवन में आया तो वह सुस्त और मन्दबुद्धि हो जाता है । इसके विपरीत यदि ये आवश्यकता से अधिक तेज़ी से काम करती है तो आँखों की पुतलियाँ सूजकर गंडमाला (ग्वायटर्) का रूप धारण कर लेती है।

पीयूष ग्रन्थि के भी दो खंड होते हैं और यह खोपड़ी की तलहटी में स्थित होती है। इनमें से एक खंड का स्राव आदमी के शरीर को बढ़ाता है। यदि इसके कार्य करने की गति बहुत तीव्र हुई तो शरीर बेहिसाब बढ़ जायगा और यदि उसमें कोई कमी हुई तो उसका शारीरिक और लैङ्गिक विकास रुक जायगा।

उपरोक्त विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति के अन्दर झुकाव विशेष की सृष्टि करने वाले यही आन्तरिक स्राव (सीक्रेशन) होते हैं और इन्हीं का प्रभाव हमारी प्रवृत्ति (डिस्पोज़िशन) पर भी पड़ता है।

उदाहरण के लिए लैङ्गिक ग्रन्थियों (सेक्स ग्लैण्ड्स) को ही ले लीजिए। जब इनसे निकलने वाला स्राव रक्त-प्रवाह से जाकर मिलता है तभी मनुष्य में काम-वृत्ति जागती है और वह वासना-तृप्ति की तरफ कार्यशील होता है। परन्तु यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है।

कतिपय डाक्टर और मानसशास्त्री यह धारणा उत्पन्न करते है कि मनुष्य का अस्तित्व केवल इन प्रणालीहीन ग्रन्थियों की कार्यशीलता का फल है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्तित्व-निर्धारक तत्वों के ऊपर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। परन्तु ऐसा मान लेना विषय का अतिरंजन करना है।

एडलर (एक प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता) का भी यही मत है कि लोगों ने ग्रन्थियों का महत्व आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया है। वास्तव में हम उनके उतने बड़े गुलाम नहीं है, जितना ये 'ग्रन्थिवादी' हमें बताते है।

मैं डाक्टर एफ० जी० क्रुकशैंक का एक थोड़ा लम्बा उद्धरण देने के लिए क्षमा चाहता हूँ। वैयक्तिक मनोविज्ञान सम्बन्धी मेडिकल सोसाइटी के समक्ष भाषण देते हुए इसे उन्होने अपने एक लेख से पढ़कर सुनाया था।

"वैयक्तिक मनोविज्ञान (इन्डिविज्वल साइकालोजी) इस बात का खण्डन करने में कि हमारी जीवन-शैली शारीरिक बनावट या ग्रन्थिक संतुलन पर ही निर्भर होती है, केवल एक ऐसे अकाट्य सत्य का प्रतिपादन करता है जिसकी प्रामाणिकता चिकित्सा-गृहों के ठोस अनुसंधानों से सिद्ध की जा चुकी है। हमने बीथोवन जैसे बहरे संगीतज्ञ, डिमास्थनीज जैसे हकलाने वाले वक्ता, धुंधली निगाहों वाले चित्रकार तथा ऐसी मनमोहक अभिनेत्रियाँ देखी है जिनको किसी प्रकार भी सुन्दर नहीं कहा जा सकता। कई आदमी देखने मे नपुंसक मालूम होने

हैं परन्तु नपुंसक होते नहीं; कितने ही खिलाड़ी जिनको पौरुषवान समझा जाता है, नपुंसक या समजाति-कायुक (होमोसेक्स्वल) होते हैं। हम कई ऐसी औरतों को जानते हैं जो देखने में स्त्रियोचित कोमलता और सौन्दर्य की मूर्ति प्रतीत होती हैं, परन्तु उनके अन्दर नारीत्व या मातृत्व की भावना का लेशमात्र भी नहीं होता। इसी प्रकार कई पुरुषों के चेहरों से मर्दानगी टपकती है, परन्तु उनका हृदय स्त्री से भी दुर्बल होता है।"

डाक्टर क्रुकशैङ्क ने आगे कहा कि "मेरे विचार से इतना सही हो सकता है कि एक सीमित हद तक हमारे बनाने में ग्रन्थिक संतुलन का हाथ हो, परन्तु यह उससे कहीं ज़्यादा सही है कि जीवन के मध्य-काल में ग्रन्थिक-संतुलन स्वयं जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण से प्रभावित होने लगता है।"

इस प्रकार हम देखेंगे कि व्यक्ति की प्रवृत्ति और व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाले उसके अंग या स्राव-सम्बन्धी आंतरिक दोष नहीं होते, वरन् उस प्रतिक्रिया की रूप-रेखा होती है जो इन दोषों के कारण उसके मन में उठती है।

(२) थकावट का मनुष्य के स्वभाव (टेम्परामेण्ट) पर उतना ही असर होता है जितना आन्तरिक स्रावों का। मैकडागल ने मोस्सो द्वारा कुत्तों पर किये हुए प्रयोगों का उल्लेख किया है। इस अनुसंधान-कर्ता ने प्रयोग करके यह दिखा दिया है कि यदि किसी थके हुए कुत्ते का खून एक स्वस्थ और ताने जान-

वर के शरीर में इंजेक्शन द्वारा पहुंचा दिया जाय तो उसमें तुरन्त थकावट के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं।

आन्तरिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप मनुष्य के रक्त में अधिक मात्रा में उत्पन्न अवांछित वस्तुएं मस्तिष्क की कार्य-गति धीमी कर देती है और थकावट के लक्षण पैदा कर देती हैं।

मान लीजिए दो आदमी एक ही काम पर लगे हुए हैं और उनमे से एक पहले थक जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि थक जाने वाला व्यक्ति अपने रक्त की अवांछित वस्तुओं को उतनी तेजी से दूर नहीं कर सकता जितनी तेजी से दूसरा कर लेता है। दूसरे शब्दों में थकावट का असर उस पर जल्द पड़ता है बनिस्बत उसके साथी के। यह उसके स्वभाव का एक अंग है और उस जीवन-शक्ति का जो सुन्दर व्यक्तित्व का प्रधान गुण है, ठीक उलटा है।

परन्तु स्रावों (सीक्रेशन्स) के विषय में जो कुछ कहा गया है वह इस पर भी लागू होता है। थकावट के सिद्धान्त में सत्यता है लेकिन इसका बहुत महत्व नहीं है। वास्तविक महत्व की बात तो यह है कि व्यक्ति पर इस थकावट की प्रतिक्रिया क्या होती है।

बहुत लोगों का विश्वास है कि स्वभाव एक जन्मजात वस्तु है, उसे बदला नहीं जा सकता तथा हमारी मानसिक प्रवृत्ति उसका ही फल है। मेरा ख्याल है कि अब तक हमने जो कुछ कहा है वह इसका पर्याप्त उत्तर है।

इसी प्रकार अन्य बहुतेरे लोग समझते हैं कि मनुष्य की सारी बातें उसके वंश पर ही निर्भर होती हैं। उनका कहना है कि जन्म से ही आदमी सर्वाङ्ग या क्षीणाङ्ग पैदा होता है, वहीं से वह प्रतिभावान, मन्दबुद्धि या औसत बुद्धि वाला बनकर आता है, वहीं से उसकी अच्छी या बुरी नैतिक रूप-रेखा भी बन चुकी होती है तथा जो कुछ मनुष्य के हिस्से में होता है, उसे मिल चुका होता है।

लेकिन बात ऐसी नहीं है। अधिकाधिक लोग अब इस बात को महसूस करने लगे है कि केवल वंश ही नहीं किन्तु हमारे वातावरण का हम पर और हमारा उस वातावरण पर प्रभाव और हमारी शिक्षा इत्यादि सभी हमारे जीवन-निर्माण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

वातावरण को इतना महत्व दिया जाने लगा है कि इसके समर्थकों की एक "वातावरणवादी" विचारधारा ही चल पड़ी है। ये लोग कहते है कि केवल वातावरण ही वह चीज है जो मनुष्य की रुप-रेखा निर्धारित करती है। लेकिन मेरे ख्याल से यह अतिरंजन की दूसरी सीमा पर दौड़ जाना है।

वंश और वातावरण के इस विवादग्रस्त प्रश्न पर अधिकांश मानस-शास्त्री यही मत रखते है कि चूँकि हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि व्यक्ति-विशेष का स्वभाव वंश की या वातावरण की देन है, हमें इस विषय पर निष्पक्ष रहते हुए यही कहना चाहिए कि स्वभाव के निर्माण में दोनों

ही का हाथ है।

जो भी हो, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है महत्व स्वभाव का नहीं है वरन् इस इस बात का है कि आप इसके बारे में करते क्या हैं।

यदि आपका स्वभाव ऐसा है, जिसके द्वारा आप अपने अन्दर निहित सम्भावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित करके जीवन को सफल बना सकते है, तो स्पष्ट है कि आपको इस बारे मे कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है।

परन्तु यदि इसके विपरीत आप सुस्त हैं, आपमें आत्म-नियंत्रण का अभाव है, भावुक हैं तथा जल्दी-जल्दी आने वाले हर्ष और विषाद के झोंको से परेशान हो जाते है, तो आपको कुछ-न-कुछ करना ही होगा।

फिर करना क्या चाहिए ? अपनी शक्ति-लालसा के उचित प्रयोग द्वारा अपने दोषों का परिपूरण या मुआविजा हासिल करना चाहिए।

ऐसी अनेक घटनाएं हो चुकी है जहां कुन्दजेहन लोग महान् विद्वान् तथा डरपोक लोग प्रतिभाशाली वक्ता बन गए हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ऐसे लोगो की तो कोई गिनती नहीं जिन्होंने अपच, कलेजे की बीमारी, हृद्रोग तथा अन्य अनेक तकलीफो को दूर कर लिया है। सच पूछा जाय तो शक्ति-लालसा के उचित प्रयोग की सम्भावनाएं असंख्य है।

उचित प्रयोग का मतलब क्या है ?

शक्ति-लालसा का उचित प्रयोग उसे कहा जायगा जिसमें सामूहिक चेतना का कोई विरोध न हो, जब आपका लक्ष्य केवल अपना स्वार्थ-साधन न हो, बल्कि इस बात का प्रयत्न हो कि आप अपने साथियों के जीवन में भली-भाँति समा जायं।

इसका अनुचित प्रयोग उस वक्त होता है जब आप किसी काल्पनिक या शारीरिक हीनता का अनुभव करते है और आक्रामकता (एग्रेसिवनेस) के द्वारा एक प्रकार की श्रेष्ठता प्राप्त करके उस हीनता पर विजय पाना चाहते है।

उदाहरण के लिए आप राम और श्याम को ले लीजिए। राम का विवाहित जीवन सुखी है, उसकी पत्नी हर प्रकार से अच्छी है, तीन बच्चे हैं, शहर में उसे एक अच्छी-सी नौकरी मिली हुई है, उसका भविष्य उज्वल है, वह एक कुशल खिलाड़ी है तथा उसके मित्रों की संख्या लम्बी है।

श्याम भी कोई बुरा आदमी नहीं है, हालांकि कभी-कभी अपने आक्रामक (एग्रेसिव) स्वभाव के कारण वह लोगों को नाराज़ कर देता है। उसकी भी शादी काफी सुखप्रद थी, दो सुन्दर बच्चे थे, वह अपने पिता के दफ्तर में काम करता था और करीब-करीब निश्चित था कि किसी दिन वही उनकी जगह लेगा। एक समय था जब वह भी खेला करता था, लेकिन अब उसको खेलने में दिलचस्पी न रही; उसके दोस्त भी बहुत कम हो गए।

जब पहली बार दोनों किसी कारोबार के सिलसिले में मिले

तो राम को देखते ही श्याम ने एक प्रकार के हीन-भाव का अनुभव करना आरम्भ कर दिया था। उसको लगा कि राम आत्म-विश्वास से भरा हुआ है और हालांकि वह कोई हर्षोन्माद से पागल नहीं हो रहा था, फिर भी एक आशा-भरा उत्साह उसके चेहरे पर खेल रहा था। साथ ही वह अपने को भली-भाँति समझता था: आत्म-विश्वास से पूर्ण होते हुए भी वह आक्रामक न था: उसने अपने को समाज मे एक दम खपा लिया था।

श्याम जब कभी ऐसे लोगों के सम्पर्क मे आता था जिन्हें वह अपने से अधिक भाग्यशाली, चतुर, स्वस्थ या सुखी समझता था, तो एक गहरे हीन-भाव का अनुभव किया करता था।

जब इस हीन-भाव के कारण वह समझता था कि उसके आत्म-सन्मान को एक और ठेस लगी है तो उसकी प्रतिक्रिया विचित्र होती थी। आत्म-ग्लानि के क्षोभ से पीड़ित होकर वह अपने रहे-सहे मित्रो से भी किनारा कस लेता था और बराबर इसी प्रयत्न मे लगा रहता था कि जिन लोगों से वह हीनता अनुभव करता है, किस प्रकार उनके ऊपर विजय प्राप्त करे।

ऐसे व्यक्ति का हीन-भाव जितना ही गहरा और उग्र होगा, परिपूरण प्राप्त करने का उसका प्रयत्न उतना ही तेज और अव्यवस्थित होगा। अन्त मे उसके ये अव्यवस्थित प्रयत्न उसे दिवा-स्वप्न (डे-ड्रीमिंग) की अवस्था मे ला देते है, जहां वह ऐसे क्षेत्रों मे सफलता प्राप्त करने का दुष्प्रयत्न करता है जिनके लिए वह एक दम अयोग्य है।

श्याम ने भी अनेक दिवा-स्वप्न देखे। वह हमेशा यह सोच कर अपने को सान्त्वना दे लिया करता था कि यदि उसके पेट में शूल की तकलीफ न होती तो अवश्य ही वह अपनी लक्षित सफलता को प्राप्त कर लिये होता।

इसके बदले, चाहिए यह था कि वह अपने शारीरिक दोष को बिना किसी संकोच के स्वीकार किये होता तथा अपनी सीमाओं के साथ-साथ अपनी योग्यताओं को भली-भाँति समझ कर विश्वास के साथ आगे बढ़ते हुए उनका अच्छा-से-अच्छा उपयोग किये होता। यह उसके अन्दर सामाजिक दिलचस्पी या अनुभव की कमी या दूसरे शब्दों मे सामाजिक वृत्ति का अभाव ही था जिसके कारण वह नई परिस्थितियों तथा अजनवी लोगों के बीच हीन-भाव का अनुभव करता रहा।

वह इन परिस्थितियों से डरता रहा और इसीलिए उनसे भागता फिरा। लेकिन आदमी के लिए आवश्यकता से अधिक एकान्तवास अच्छा नहीं होता। श्याम ने यह नहीं देखा कि उसका आचरण एक दूपित चक्कर से घूम रहा है—हीन-भाव से आरम्भ करके उसने लोगों से सम्पर्क बढ़ाया—उसका हीन-भाव और भी तीव्र हो गया, उसने भय का रूप धारण कर लिया। अब वह लोगों के सम्पर्क से भागने लगा—हीन-भाव उग्रता की सीमा तक पहुंच गया।

राम के जीवन मे पर्याप्त मात्रा में सामंजस्य था, क्योंकि उसने अपने साथियों से सम्पर्क बनाए रखा। उसका व्यक्तित्व

निखर गया था। उसके साथ लोगों की अच्छी पटती थी क्योंकि मनुष्यों के अनुभव ने उसे उनकी तथा अपनी दुर्बलताओं से अच्छी तरह परिचित करा दिया था और इस कारण वह किसी से भी कोई अनुचित आशा न रखता था।

वह खिलाड़ी था और उसके अनेक मित्र थे। केवल इतना ही न था—उसने अपने को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी भी बना रखा था, यहाँ तक कि स्थानीय दान-संस्थाओं की व्यवस्था करके उसने अपने को समाज का एक अनिवार्य अंग बना लिया था। दूसरे शब्दों मे उसने अपनी सामूहिक चेतना का पूर्ण विकास किया था, जब कि श्याम ने उससे एकदम मुँह मोड़ लिया था।

लेकिन यदि आप चाहे तो भी सामूहिक चेतना से विमुख होकर आप इसका फल भोगे बिना नहीं रह सकते।

यह हमारी एक मौलिक चेतना है और अपनी पुकार सुनकर ही दम लेती है। आप उससे भाग नहीं सकते। इसलिए आवश्यक यह है कि आप स्वेच्छा से सामूहिक चेतना की यह पुकार सुने, उसका पूरा विकास करे, और फिर अच्छा-से-अच्छा व्यक्तित्व आपका है—ठीक राम जैसा व्यक्तित्व।

राम के व्यक्तित्व की विशेषताएं अनेक थी—चूंकि वह अपनी कीमत को अच्छी तरह समझता था, उसमे गम्भीर आत्म-विश्वास था. लोगों से मिलने-जुलने मे पटु था, इसलिए उसके व्यवहार मे एक सहज प्रफुल्लता थी. उसमे सामाजिक वृत्ति पर्याप्त थी और इसकी मदद से वह अपने मालिक तथा

अन्य लोगों को प्रसन्न किये रहता था; सबका लिहाज़ और उदारता उसके सामान्य गुण थे तथा जीवन-शक्ति, जिसके द्वारा वह लोगों के ऊपर अपनी गुप्त प्रतिभा की अमिट छाप डालता था, भी उसमें कम न थी।

ऐसे व्यक्ति की वैयक्तिक पटुता हमेशा उच्च श्रेणी की होती है। उसमे वह दुर्बलताएं होती ही नही जो व्यक्तित्व को कुरूप बना देती है, उदाहरणार्थ—अकर्मण्यता, उदासीनता, क्षुद्रता, कायरता, व्यर्थ की भावुकता, अहंकार या आक्रमण-शीलता।

(३) व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाली तीसरी चीज़ व्यक्ति की मनःस्थिति (टेम्पर) है। यहाँ पर भी शक्ति-लालसा की कार्य-शीलता दिखाई पड़ती है।

जब आपकी शक्ति-लालसा का उद्देश्य सफलता प्राप्त करना है, परन्तु साथ ही आप समाज के जीवन मे पूरी तरह घुल-मिल भी जाना चाहते है,तो अवश्य ही आपकी मनःस्थिति ऐसी बनेगी कि आप जितने लोगो के सम्पर्क मे आएं सबसे उचित सहानु-भूति रख सके।

इस प्रकार जब अपने साथियों से आपका पूर्ण ऐक्य स्था-पित हो जायगा तो आप उनके तौर-तरीके अच्छी तरह समझ लेगे और यह जानकारी आपको स्वयं अपने को समझने मे मदद देगी। इससे आपको एक उचित दृष्टिकोण की प्राप्ति होगी तथा आपकी मन स्थिति स्थिर और सुव्यवस्थित बन जायगी,

लोगों के साथ आपका सम्बन्ध अच्छा होगा।

इसके विपरीत, वह व्यक्ति जो अपनी शक्ति-लालसा का प्रयोग केवल दूसरों पर विजय पाने के लिए करता है और चाहता है कि 'लोग उसकी ओर देखें' अपने को कड़वा, अवांछित, सनकी और क्षुब्ध बना लेता है।

उपरोक्त बातों का यह मतलब नहीं है कि हम अपच से उत्पन्न अव्यवस्था तथा किसी तेज दर्द से होने वाले कष्ट को मनःस्थिति की क्षुब्धता का कारण समझते ही नहीं। वास्तव में वंश और स्रावों के बारे में कही हुई बात यहाँ भी लागू होती है। यदि कोई गठिया से पीड़ित है तो यह रोग उसे इस बात की तीव्र प्रेरणा दे सकता है कि वह अपनी तिल्लियों को एकदम स्वस्थ रखे।

(४) चरित्र व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। मैकडॉगल ने चरित्र को वह चीज़ बताया है जो व्यक्ति को संगतता (कांसिस्टेन्सी), दृढ़ता, आत्म-नियंत्रण, आत्म-निर्देशन या स्वतन्त्र निर्णय की शक्ति प्रदान करता है।

परन्तु चरित्र मे और भी कई चीजे आती हैं। उसका एक नैतिक पहलू भी है। सच तो यह है कि नैतिक-शिक्षण और चरित्र-गठन दोनो एक चीज़ है। इसका प्रमाण यह है कि जीवन मे भलमनसाहत, न्याय या सत्य जैसे आदर्शों की कद्र दोनों का एक आवश्यक अंग है।

आरंभ मे ही हमे समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति और

उसका चरित्र एक ही वस्तु नहीं है; दोनों अलग-अलग चीजें हैं। व्यक्ति जहाँ जीवन-भर वही बना रहता है, उसका चरित्र अनुभव के साथ-साथ बदलने मे समर्थ ही नहीं, वरन् बदलता ही रहता है।

चरित्र-निर्माण के लिए ज्ञान एक उपयोगी वस्तु है, परन्तु अनिवार्य नही। अतएव शिक्षा या संस्कृति का बड़ा महत्व है। शिक्षा ही से आप अधिकांश अनुभव प्राप्त करते है, तथा अपने बिखरे हुए विचारों को एक सुसंबद्ध शृंखला मे आयोजित करते है।

यदि आप यह समझते है कि क्या अच्छा है क्या बुरा, क्या सही है क्या गलत, क्या मूल्यवान है तथा क्या नगण्य है, तो आपके निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण होंगे तथा चरित्र-गठन में सहायता मिलेगी।

मनुष्य के विचारों और कार्यों की संगतता, जो सुन्दर चरित्र-गठन के लिए सबसे जरूरी चीज़ है, कई प्रकार से प्राप्त की जा सकती है। मैकडॉगल का विश्वास है कि यदि हम न्याय और कर्त्तव्य आदि की भावनाओं का एक विशाल भाव-पुंज के अन्दर एकीकरण कर सके तो हम आवश्यक संगतता प्राप्त कर सकते हैं।

हम सभी ऐसे व्यक्तियों से परिचित है जिन्हे स्वयं अपने मन का पता नहीं होता। ऐसे लोगों मे जिस चीज़ का अभाव है वह है आचरण की संगतता। मैकडागल का कहना है कि यदि

हम यह संगतता प्राप्त करना चाहते है तो हमें एक ऐसी सार्वभौम प्रवृत्ति या विशाल भाव-पुंज का विकास करना चाहिए जिसके अन्दर और सारी प्रवृत्तियाँ समा जायं।

यह भाव ऐसा होना चाहिए जो उसके जीवन पर शासन कर सके, चाहे वह एक महान् प्रेम हो या कोई ऐसा शौक (हॉबी) हो, जिसका उसके मन पर अधिकार हो। जब एक बार इस सार्वभौम भाव की सृष्टि हो जाती है तो अन्य छोटी-छोटी इच्छाएं और भावनाएं अपनी-अपनी तीव्रता और महत्व के अनुसार अपने उचित स्थान पर स्थिर हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन की एक योजना बन जाती है तथा उसके आचरण और व्यवहार मे संगतता आ जाती है।

मैकडागल के अनुसार ऐसा श्रेष्ठ और सार्वभौम भाव "आत्म-पर्यवेक्षण" (सेल्फ-रिगार्डिङ्ग) है, क्योंकि वह व्यक्ति के प्रत्येक कार्य और निर्णय में एक ज़बरदस्त प्रेरक-हेतु (मोटिव) का काम देता है।

लेकिन मेरे अपने विचार से यह चरित्र की एक बहुत संकुचित और स्वार्थपूर्ण परिभाषा प्रतीत होती है। मेरा विश्वास है कि यदि आप समाज का एक सदस्य होने के नाते अपना कर्त्तव्य समझते हैं तथा उसका पालन करते है तो आपका चरित्र ठोस होगा, क्योंकि उस वक्त आप महसूस करेंगे कि जो कुछ समाज ने आपके लिए किया है उसके बदले में आपको अपने कार्यों का एक हिस्सा अपने साथियों के हित के लिए अलग कर देना **चाहिए**।

दूसरे शब्दों मे "आपको अपने साथियों से उतना ही प्रेम करना होगा, जितना आप स्वयं अपने से करते है।"

यह दृष्टिकोण आपके अन्दर जीवन की श्रेष्ठतर मान्यताओं के प्रति अनुराग उत्पन्न करेगा जिसका अर्थ होगा स्वयं परमात्मा के प्रति अनुराग तथा जीवन की सच्ची पूर्णता। और इस प्रकार आप सुन्दर चरित्र का निर्माण कर सकेगे।

(५) मेधा की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह हर चीज़ को अपने उचित स्थान पर रख सके। मेधा का कर्त्तव्य यह है कि वह मस्तिष्क द्वारा सामने लाई हुई चीजोंमे से सर्वश्रेष्ठ को चुनकर आपकी इच्छा के सामने उपस्थित करे, जिससे इच्छा उसे सर्वप्रथम स्थान दे सके। न्याय-प्रियता को इस दृष्टि से प्रथम स्थान प्राप्त है। इसके द्वारा ही आप समझते है कि क्यों आप कोअपने साथियोंकेसाथ तथा स्वयं अपने साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति की सामूहिक चेतना का सहज विकास हो जाता है।

स्मरणीय बाते

१. आपके दोष, चाहे वे वास्तविक हो या काल्पनिक, उतने महत्वपूर्ण नहीं है जितनी उनके प्रति आपकी प्रतिक्रिया।

२. सुन्दर चरित्र के लक्षण है सामाजिक वृत्ति, आत्म-विश्वास, दूसरों का लिहाज, उदारता तथा जीवन-शक्ति। इनका विकास करना परमावश्यक है।

३ चरित्र-गठन और नैतिक-शिक्षण दोनों एक चीज़ है।

: ३ :

व्यक्तित्व के गुण और दोष

बहुत से लोग समझते है कि जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए एक दबंग और रोबदार व्यक्तित्व की आवश्यकता है। परन्तु यदि वे असलियत पर थोड़ा ध्यान से विचार करें तो पता चलेगा कि उस आदमी का व्यक्तित्व, जिसका स्वभाव मैत्रीपूर्ण है, जो मिलनसार है तथा फिर भी जिसमें आत्म-सम्मान की कमी नहीं है, कहीं बहुत अधिक पसन्द किया जाता है बनिस्बत तथाकथित शानदार व्यक्तित्व के।

लोग यह कल्पना करने लगते है कि जो आदमी अधिक दबंग और आक्रामक है उसे दुनिया मे अधिक सफलता मिलती है क्योंकि उसके सामाजिक सम्पर्क विस्तृत होते है और वह रुपये-पैसे से धनी होता है। परन्तु हो सकता है कि सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से काफी सफलता प्राप्त कर लेने पर भी उसका व्यक्तित्व एक अति सामान्य श्रेणी का ही रह जाय। अनेक रचनात्मक कार्यों मे लगे हुए नेता इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। उनके पास न तो धन है और न असाधारण ख्याति, फिर भी उनका व्यक्तित्व सर्वोत्कृष्ट श्रेणी का है।

यह सब जानते हुए भी अनेक ऐसे लोग है जो इस

का तथाकथित व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए काफी परिश्रम करते हैं। वे अच्छे-से-अच्छे कपड़े पहनकर बड़ी शान से चलते हैं, ऊंची आवाज़ मे अपनी तरक्की की बाते करते है और हमेशा लोगों के ऊपर अपनी पटुता की धाक जमाने की कोशिश किया करते है।

एक प्रशान्त आत्म-विश्वास सुन्दर व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण गुण है तथा इसके विपरीत आत्म-विश्वास का अभाव उसका सबसे बड़ा दोष है।

जब आप अपने को भली-भॉति समझते है और अपने गुणों और दोषों का—न कि आमदनी का—ठीक-ठीक हिसाब जान लेते है, तो आप आत्म-विश्वास के मार्ग पर अग्रसर हुए होते है। लेकिन यदि इस जानकारी के बावजूद भी आप अपने दोषों पर ही सोचना अधिक पसन्द करते है तथा हमेशा उन लोगों की ईर्ष्या मे व्यस्त रहते है जिन्हे आप अपने से श्रेष्ठ समझते हैं तो आप मे संतुलन का अभाव हो जाना तथा निरन्तर बेचैनी के साथ अपनी योग्यता मे सन्देह करने लगना अनिवार्य हो जाता है।

उपरोक्त दृष्टिकोण का परिणाम यह होता है कि आप आवश्यकता मे अधिक महत्वाकांक्षी होते जाते है और चूंकि आपकी आकांक्षा पूरी नहीं होती, आप दिन-ब-दिन अधिक क्षुब्ध, असन्तुष्ट, कातर और बेचैन बनते जाते है।

लेकिन जो व्यक्ति अपने साथियो के निकट सम्पर्क मे रहता

है, कभी भी हीनता की भावना से पीडित नहीं होता क्योंकि उसकी आंखों के सामने हमेशा ही मानव-प्रकृति की दुर्बलता के दृष्टान्त मौजूद रहते है। फलस्वरूप वह अपनी थोड़ी-बहुत योग्यताओं के लिए कृतज्ञ होता है, लेकिन अपनी मजबूरियों के लिए कभी लज्जित नही होता। चूंकि आत्म-विश्वास उसके अन्दर कूट-कूटकर भरा होता है वह अपना सही मूल्य समझता है।

जो लोग प्रभावशाली व्यक्तित्व प्राप्त करना चाहते है वे शायद ही विनम्रता जैसे गुण को अपने लिए आवश्यक समझे, परन्तु है यह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण चीज। दुनिया मे आप अभिमान और ऐंठबाजी से अप्रियता के अतिरिक्त और क्या पा सकते हैं?

कुछ लोगों की आदत होती है कि यदि वे किसी गोष्ठी मे बैठे हो और वहाँ उनके अलावा कोई और बातचीत मे धाक जमा ले तो वे बड़े दुखी हो जाते है, जैसे उनका कोई भारी अपमान हो गया हो। ऐसे लोगों के पास जब कभी कोई कहने लायक बात न भी हो तो भी वे अनायास बकवाद करते जायगे, जब कि कभी-कभी आदमी को स्वयं चुप होकर पीछे बैठने का अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से मनुष्य आत्म-चिन्तन तथा सयम की तरफ प्रवृत्त होता है।

अभिमानी लोग अपने को इतना बड़ा और महत्वपूर्ण बनाए रखने का ढोंग किये होते है कि सामान्य लोग उनके पास पहुंच

ही नहीं सकते । इतना ही नहीं, निरन्तर अपनी झूठी शान की रक्षा के फिराक में वे स्वयं अपने को भी दयनीय बना लेते हैं।

सच बात तो यह है कि अभिमान हमारी एक दुर्बलता है यह उन लोगों का हथियार है जो विना इसके अपने साथियों पर कोई प्रभाव डाल ही नहीं सकते तथा जिनको अपने पर जरा भी विश्वास नही है । यदि किसी व्यक्ति को स्वयं अपनी योग्यता का सही अनुमान लगाने के लिए अभिमान की मदद लेनी पड़े तो निस्सन्देह उसे अपनी शक्तियों पर विश्वास नहीं है और अभिमान की शरण लेकर वह अपने आंतरिक भय पर काबू पाना चाहता है।

अतएम अभिमान से आपको उसी प्रकार बचना चाहिए जैसे प्लेग की बीमारी से । आत्म-सम्मान की रक्षा अवश्य कीजिए, परन्तु आत्म-सम्मान को ही सब कुछ बनाकर उसे अभिमान मे परिणत न कर दीजिए । यदि आपने ऐसा किया तो लोगों को यही प्रतीत होगा कि आपको अपने प्रभाव पर विश्वास नही है और अन्त मे हो भी यही जायगा ।

संवेदनशील स्वभाव एक सुन्दर चीज है । कलाकार, संगीतज्ञ, कवि और शिल्पकार के लिए तो, जो मानव की आत्मा के अन्तस्तल तक पहुंचना चाहते है,इसका होना परमावश्यक है। संवेदनशीलता (सेन्सिटिवनेस) की पृष्ठभूमि मे सहानुभूति का होना भी जरूरी है। प्रत्येक व्यक्ति को इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

लेकिन एक और प्रकार की संवेदनशीलता (सेन्सिटिवनेस)

होती है, जो वाहर से देखने मे उतनी ही अच्छी मालूम होती है, लेकिन होती है ठीक इसके विपरीत। यह उस आदमी का अस्त्र है जो हमेशा अपने साथियों से एक विशेष रियायत की आशा रखता है।

कमज़ोर आदमी भी इस भावुकता की शरण लेते है क्योंकि मिथ्याभिमानी व्यक्तियों की तरह वे भी स्वीकार करते है कि साधारण तरीकों से वे अपने साथियों से आदर नही प्राप्त कर सकते और इसीलिए उन्हे बिगड़े हुए बच्चों का तरीका अख्तियार करना पड़ता है। वे संघर्ष करके सफलता प्राप्त करने मे सर्वथा असमर्थ है।

ऐसा व्यक्ति झूठी कल्पना के सहारे अपने को महत्वपूर्ण समझता है। वह अपने को धोखा देता है कि उसका स्वभाव सर्व-साधारण से कहीं वहुत अच्छा और कोमल है, उसकी आत्मा उत्कृष्ट है, उसकी चेतना जागृत है,उसका स्वभाव कलात्मक है तथा स्वयं वह एक निराली सुकुमारता वाला व्यक्ति है।

कुछ लोग अपने पालन-पोषण की परिस्थितियों के फलस्वरूप औरों से अधिक भावुक होते है। उदाहरण के लिए इकलौते बच्चों को ले लीजिए। वड़े होने पर वहुधा ऐसे बच्चों में भावुकता अधिक आ जाती है। वे अपने साथियों से वही प्रेम और लिहाज पाने की आशा करते है जो उनको अपनी आवश्यकता से अधिक स्नेही माता से मिला होता है। परन्तु चूंकि उन्हे यह चीज मिलती नही, वे अपने साथियों के सम्पर्क से

दूर हट जाते हैं तथा अपने अशिष्ट व्यवहार को 'भावुकता' के पर्दे में छिपाना चाहते है।

गंभीरता व्यक्तित्व का एक दूसरा लक्षण है, जिसे गुण या दोष दोनों ही का रूप दिया जा सकता है। गुण के रूप मे विनम्रता से इसका निकट सम्बन्ध है। दोष के रूप मे यह मिथ्या भावुकता से ही मिलती-जुलती चीज है।

गभीरता दोष कब बन जाती है? उस वक्त जब व्यक्ति किसी काम को करना चाहता है परन्तु महसूस करता है कि औरों के सामने वह उसे पूरा नही कर सकता। आत्म-विश्वास के अभाव मे तथा हीन-भाव से पीड़ित होने के कारण वह अकेला रहने लगता है और कभी भी दूसरों के मुकाबिले अपनी ताकत का अनुमान लगाने की हिम्मत नही कर पाता।

उसे सबसे दूर रहना अच्छा मालूम देने लगता है। वह बराबर इस कल्पना से अपने को धोखा दिया करता है कि वह अपने साथियो से उच्चतर श्रेणी का व्यक्ति है या यदि कोशिश करे तो हो सकता है। लेकिन यह बात निश्चित है कि यदि उसे विश्वास हो कि वह लोगों से मिल-जुलकर सामाजिक सफलता प्राप्त करने की योग्यता रखता है तो उसे कभी भी ऐसा करने मे झिझक न होगी।

सहज मुसकान एक साधारण गुण प्रतीत होता है, परन्तु जब आप उसके अर्थ पर विचार करते है तो पता चलता है कि मुसकान वह सिगनल है जो किसी मित्र के शुभागमन

की सूचना देता है।

जब कोई व्यक्ति बिना किसी मित्र-भाव का अनुभव किये हुए भी मुस्करा देता है, उस वक्त भी कम-से-कम इतना तो वह समझता ही है कि नम्रता मनुष्य का एक सामाजिक धर्म है। मुस्कराने की परम्परा हमसे ऐसा व्यवहार करा देती है मानो हम एक दूसरे के मित्र हों।

फिर भी जिस मुसकान के पीछे सच्चा स्नेह होता है वह श्रेष्ठ मुसकान है। जिस व्यक्ति में यह भाव होता है उसका दूसरों के प्रति उदार होना अनिवार्य है, क्योंकि मनहूस चेहरा उसी व्यक्ति का होता है जिसके हृदय में अपने साथियों के प्रति विरोध की भावना होती है, और जहाँ विरोध है वहाँ ईर्ष्या का होना अवश्यम्भावी है। जहाँ कोई व्यक्ति अपने साथियों या प्रतियोगियों को हराना या अपमानित करना चाहता है, वहाँ ईर्ष्या और विरोध का उत्पन्न हो जाना एकदम स्वाभाविक है।

जो आदमी अपने साथियों के प्रति शत्रुता का भाव रखता है, प्रायः वह बहुत महत्वाकांक्षी होता है। अपनी शत्रुता की भावना के द्वारा वह औरों के ऊपर एक प्रकार की श्रेष्ठता का अनुभव करना चाहता है। लेकिन यदि उसने अपना यह रवैया न बदला तो उसका कष्ट में पड जाना एकदम तय है। कारण यह है कि चूंकि हमेशा वह खुले आम अपना विरोध नहीं प्रकट कर सकता, उसे छिपकर काम करना पडता है और इससे उसके व्यवहारों में 'दुहरापन' आ जाता है, जिसे कभी भी अच्छे,

व्यक्तित्व का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

यदि आप चाहते है कि लोग आपको श्रेष्ठ 'व्यक्ति' समझे तो आपको एक उपयुक्त मन:स्थिति प्राप्त करनी चाहिए, और ऐसा तभी हो सकता है जब आप अपने कार्यों से उन्हे समझा दें कि आप उनके साथ हमेशा सहयोग करने के लिए इच्छुक और तैयार रहते है।

इसके विपरीत यदि आपके कार्यो से प्रतीत हुआ कि आप आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी है तथा हमेशा इसी कोशिश मे रहते है कि अपने साथियों से दूर हटकर अकेले अपना स्वार्थ-साधन कर सके, तो कभी भी लोग आपको अच्छे व्यक्तित्व वाला आदमी नही समझ सकते।

पहले कही हुई बातों को कभी न भूलिए। व्यक्तित्व एक सामाजिक चीज है। किसी आदमी के अन्दर व्यक्तित्व है या नही, इसे आप कभी नही बता सकते जब तक कि आप उसे अपने साथियों के बीच व्यवहार करते न देख ले।

अब तक हमने कई जगह महत्वाकांक्षा का जिक्र किया है, परन्तु हमेशा प्रशंसा के भावमे नही। आइए, अब हम इस विषय पर थोड़ा विस्तृत विचार करे और देखे कि कहाँ तक इसकी आलोचना ठीक है।

आपने कई बार ऐसी शिकायत सुनी होगी कि अमुक व्यक्ति मे जरा भी महत्वाकांक्षा नही है। संभवत: वह व्यक्ति एक ऐसी नौकरी पर है, जिसमे सुरक्षा तो पर्याप्त है परन्तु वेतन बहुत

कम है। फिर भी उस आदमी में योग्यता इतनी है कि यदि वह परवाह करता तो तरक्की कर सकता था। लेकिन प्रतीत होता है कि वह कभी इसकी परवाह नहीं करता।

क्या हमें इस बात का अधिकार है कि हम उसे सुस्त कह सकें?

यदि उसके पास इतना रुपया है कि वह अपनी साधारण जिम्मेदारियों को पूरा कर सकता है तो यह कहना कठिन है कि उसके आचरण में कोई खराबी है। फिर भी, कई लोग कहेंगे ही कि "अरे हटाओ, छोड़ो उसकी बात, निहायत सुस्त आदमी है। आदमी के पास अकल किसलिए होती है? आगे बढ़कर अच्छा स्थान प्राप्त करने के लिए ही तो?"

असल में महत्वाकांक्षा से एकदम शून्य होना बुरी बात है। लेकिन, महत्वाकांक्षा के दो प्रकार होते हैं; जिनमें से एक अधिक प्रशंसनीय होता है बनिस्बत दूसरे के।

यदि मनुष्य की सारी महत्वाकांक्षा यही है कि वह अपना कर्तव्य अच्छे-से-अच्छे ढंग से सम्पादन कर सके, बिना किसी प्रकार का अशोभनीय प्रयत्न किये अपनी स्थिति अधिक-से-अधिक सुधार सके अपने को स्वतन्त्र और दूसरों के लिए उपयोगी बना सके, तो कहा जायगा कि उसकी महत्वाकांक्षा ठीक है।

लेकिन यदि उसका लक्ष्य किसी भी कीमत पर सफलता प्राप्त करना और धनी बनकर ऐसी शान और इज्जत प्राप्त करना है कि और लोग 'चौंधिया जाय' तो वह खतरनाक महत्वाकांक्षा है।

प्रशंसनीय महत्वाकांक्षा उस वक्त उत्पन्न होती है जब मनुष्य अपने जिम्मे लिये हुए कार्य को अच्छे-से-अच्छे ढंग से सम्पन्न करने के लिए इच्छुक होता है। वह महसूस करता है कि समाज के प्रति उसका एक कर्तव्य है और जी-जान से उसे पूरा करने का प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में उसकी प्रेरक-शक्ति का स्रोत सामूहिक चेतना होती है।

इसके विपरीत दूसरे प्रकार की महत्वाकांक्षा का कारण केवल शक्ति-लालसा की कार्यशीलता होती है। अतएव इस प्रकार की महत्वाकांक्षा वाला व्यक्ति केवल अपने साथियों से आगे बढ़ जाने की होड़ मे लगा हुआ होता है न कि किसी सामाजिक हित के काम मे।

इसके अलावा यदि दूसरे प्रकार की महत्वाकांक्षा वाला व्यक्ति किसी क्षेत्र मे सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता से अधिक जोर लगाकर भी असफल हो जाता है तो स्पष्ट है कि वह अपने ही पैरों मे कुल्हाड़ी मारता है न कि किसी और के।

अच्छा हो यदि आप शान्तिपूर्वक एक जगह बैठकर इस दृष्टि से अपने अन्तर को टटोले। अपने से पूछें कि आप प्रथम श्रेणी मे आते हैं या द्वितीय मे। आप देखेंगे कि जीवन के अन्य क्षेत्रों की ही भाँति यहाँ भी मध्यम मार्ग का अनुसरण करना सब से श्रेयस्कर है।

उद्दण्डता और अभिमान झूठी प्रशंसा से उत्पन्न होते हैं। यदि आप दूसरों के साथ उचित सहानुभूति से व्यवहार करना

सीख लें तो आप हमेशा इनसे बचे रहेंगे। हममें से अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति मे भी शायद ही कोई ऐसी विशेषता हो जिस पर हमें मिथ्याभिमान हो सके। अच्छे व्यक्तित्व मे इनके लिए एकदम गुंजाइश नहीं होती।

आत्म-विश्वास घबड़ाहट या कातरता का ठीक उलटा है। कोई भी आदमी बहुत भीरु या घबड़ाए हुए व्यक्ति की कदर नहीं करता। क्यों ? इसलिए कि अधिकांश लोग इस बात को अस्पष्ट रूप से समझ जाते है कि ये लक्षण प्रायः एक ऐसी छिपी हुई इच्छा के परिणाम होते है जिसके वशीभूत होकर वह व्यक्ति अपनी निस्सहाय अवस्था दिखाकर औरों पर प्रभुत्व जमाने की ताक मे है।

यह स्नायु-रोगी हमेशा अपनी ही चिंता मे रहता है और यही सोचता रहता है कि वह लोगों की निगाह मे कैसे दीखता है या यह कि वह दूसरों पर कैसा प्रभाव डाल रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है मानो उसने समझ लिया है कि साधारण प्रयत्नों द्वारा वह लोगों पर प्रभुत्व नहीं जमा सकता और इसीलिए इन उपायों से लोगों से विशेष रियायत प्राप्त करना चाहता है।

आप कभी भी स्नायु-तनाव से पीड़ित न होंगे यदि आप अपने साथियों की सेवा करने की बात अधिक सोचे बनिस्बत उनकी निगाहों मे अपना महत्व स्थापित करने की। यदि आपको अपनी और अपने व्यक्तित्व की अनावश्यक चिंता नहीं

है तथा आप उपयोगी कार्यों को सम्पन्न कर डालने की तरफ अधिक प्रवृत्त है, तो आपको अनायास ही सुन्दर व्यक्तित्व प्राप्त हो जायगा।

किसी विषय पर शीघ्रता के साथ सही राय कायम कर लेने की योग्यता सुन्दर व्यक्तित्व का एक प्रधान गुण है। जब आप किसी प्रभावशाली व्यक्तित्व का ख्याल करते है तो पहली चीज जिसका आपके दिमाग पर सबसे अधिक असर पड़ता है, वह है उस व्यक्ति मे गम्भीर प्रश्नों पर बिना किसी हिचकिचाहट के शीघ्र निर्णय कर लेने की योग्यता। कभी-कभी ये निर्णय इतनी जल्दी किये जाते है कि आपको जल्दबाजी-सी (रेकलेसनेस) प्रतीत होने लगती है। फिर भी, प्रायः सभी ऐसे निर्णय सही निकलते है।

दूसरी तरफ तथाकथित भावुक स्वभाव वाले अनेक ऐसे व्यक्ति होते है जो कोई निर्णय करने या कार्य प्रारम्भ करने के पहले बहुत देर तक हिचकिचाते रहते हैं। क्यों? इसलिए कि ऐसे लोग बुरे अर्थ मे आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी होते है।

चूंकि उनका एकमात्र ध्येय सफलता प्राप्त करना तथा लोगों की निगाह मे ऊंचा बनना होता है, असफलता की संभावना से भी वे डरते रहते है। उनके ख्याल से असफल हो जाना उनके आत्माभिमान के लिए एक जबरदस्त धक्का होगा तथा लोगों की निगाह मे उनकी शान मिट्टी मे मिल

जायगी। यही कारण है कि वे इतना हिचकिचाते है।

कभी-कभी तो वे निर्णय को इतने दिन तक टालते है कि उससे और आगे टालना असम्भव हो जाता है। इसके बाद वे घबड़ा जाते है और एकाएक निर्णय कर बैठते हैं। उनका यह सारा आचरण सफलता के पीछे आँख मूँद कर दौड़ने का फल है।

इस बात का प्रमाण यह है कि यदि उनका निर्णय सही निकल गया तो तुरन्त कह बैठेगे, "देखा, यह भी कोई मामूली बात है ? और वह भी जब कि आखिरीवक्त पर इतनी जल्दी में मुझे फैसला करना पड़ा था।" लेकिन अगर कहीं फैसले में गलती हो गई तब भी उन्हे कहने की गुंजाइश रहेगी, "और आशा ही क्या की जा सकती थी ? मैं तो जल्दी के मारे परेशान था और एकाएक मुश्किल मामले का फैसला करना पड़ गया।"

आदमी अपनी गलती को छिपाने के लिए इस हद तक जा सकता है और फिर भी अपने को सफल समझने कीमूर्खता से बाज नहीं आता। हमेशा वह कोई-न-कोई ऐसा बहाना ढूंढ लेता है जो उसकी निगाह मे एकदम सही मालूम होता है। प्राय. वह और लोगों को भी इन बहानों से धोखा दे देता है। लेकिन कुशल निरीक्षक यह देख ही लेते है कि निर्णय-शक्ति का यह अभाव असफल होने के भय से खतरा उठाने की अनिच्छा का फल है। ऐसा व्यक्ति कभी भी जीवन में कोई

जिम्मेदारी उठाने के लिए तैयार नहीं होता। उसमे साहस का, जो व्यक्तित्व का एक परमावश्यक गुण है, सर्वथा अभाव होता है।

सत्य-निष्ठा व्यक्तित्व का एक और गुण है और व्यवहार-पटुता को कभी भी इस पर हावी नहीं होने देना चाहिए। किसी महान् व्यक्ति को अनेक विरोधों के बावजूद भी सत्य पर अटल रहते देखना सभी को बहुत प्रिय लगता है।

लेकिन इसमें भी धोखा हो सकता है। सत्य-प्रेम भी कभी-कभी गुण के स्थान पर दुर्गुण बन सकता है। उन अतिशय तार्किक लोगों को छोड़कर जो तर्क में हर हालत में विजय की ही आशा करते है, कुछ ऐसे भी लोग होते है जो सत्य-प्रेम का दावा करते है परन्तु इस प्रेम को दूसरों पर प्रभुत्व जमाने मे ही उपयोग करते हैं।

ऐसे लोग अपने को सर्वसाधारण से बहुत ऊपर समझते है, जबकि उनका तथाकथित सत्य-प्रेम केवल लोगों के ऊपर रोब जमाने का साधन होता है। आप देखेगे कि ऐसे लोग सत्य को प्रगट करने के लिए सदा अनुपयुक्त मौका खोजेंगे, उदाहरण के लिए ऐसा कोई अवसर जब उस बात के प्रकाश में आ जाने से किसी और का जीवन ही चौपट हो जाय।

हमेशा उस आदमी से सावधान रहिए जिसका सत्य-प्रेम उसे इस प्रकार से बाते करने के लिए मजबूर करता है, "हालाँकि मुझे ऐसी बातें कहते हुए घृणा होती है परन्तु कर्त्तव्य मुझे

मजबूर करता है कि मैं आपको सावधान कर दूँ कि अमुक व्यक्ति आपके विरुद्ध...आदि" और फिर किसी आपसी मित्र की निन्दा और चुगली शुरू कर देता है ।

एक और प्रकार का सत्य-प्रेमी होता है जो सत्य के ऊपर शहीद' हो जाता है। यह वह व्यक्ति होता है जिसको दुनिया समझ नहीं पाती' और 'तकलीफ' देती है। ऐसा व्यक्ति अपने सभी सहकारियों और मित्रों के विरोध के बावजूद भी 'सत्य' पर अड़ा रहता है, और जब अन्त तक सब उसे पीड़ा पहुंचाना बन्द नहीं करते तो वह अपनी नौकरी से इस्तीफा दे देता है, या उस मण्डली को छोड़ देता है, या उस सभा-विशेष से असहयोग कर देता है। संयोग से ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है।

थोड़ा ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि इस प्रकार के लोग वास्तव मे आवश्यकता से अधिक अभिमानी होते । वे किसी प्रकार का भी मतभेद सहन नहीं कर सकते क्योंकि इसे वे अपने आत्म-सम्मान के लिए घातक समझते है। वे आक्रामक होते है तथा छिप कर लोगों पर वार किया करते है।

हठधर्म भी दोष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह विगड़े दिमाग लोगों का एक लक्षण है। हठी व्यक्ति जबरदस्ती अपने विचारों को आपके ऊपर लादने का प्रयत्न करता है। उसकी बातचीत का तरीका ऐसा होता है—"देखिए, मैं आपको बतलाता हूँ कि यह बात ऐसी ही है: मैं जो कुछ कहता हूँ उसे ठीक मानिए"—आदि ।

जिम्मेदारी उठाने के लिए तैयार नहीं होता। उसमें साहस का, जो व्यक्तित्व का एक परमावश्यक गुण है, सर्वथा अभाव होता है।

सत्य-निष्ठा व्यक्तित्व का एक और गुण है और व्यवहार-पटुता को कभी भी इस पर हावी नहीं होने देना चाहिए। किसी महान् व्यक्ति को अनेक विरोधों के बावजूद भी सत्य पर अटल रहते देखना सभी को बहुत प्रिय लगता है।

लेकिन इसमें भी धोखा हो सकता है। सत्य-प्रेम भी कभी-

जरूर करता है कि मैं आपको सावधान कर दूँ कि अमुक व्यक्ति आपके विरुद्ध...आदि" और फिर किसी आपसी मित्र की निन्दा और चुगली शुरू कर देता है ।

एक और प्रकार का सत्य-प्रेमी होता है जो सत्य के ऊपर 'शहीद' हो जाता है। यह वह व्यक्ति होता है जिसको दुनिया 'समझ नहीं पाती' और 'तकलीफ' देती है। ऐसा व्यक्ति अपने सभी सहकारियों और मित्रों के विरोध के वावजूद भी 'सत्य' पर अड़ा रहता है, और जब अन्त तक सब उसे पीड़ा पहुंचाना बन्द नहीं करते तो वह अपनी नौकरी से इस्तीफा दे देता है, या उस मण्डली को छोड़ देता है, या उस सभा-विशेष से असहयोग कर देता है। संयोग से ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है।

थोड़ा ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि इस प्रकार के लोग वास्तव मे आवश्यकता से अधिक अभिमानी होते । वे किसी प्रकार का भी मतभेद सहन नहीं कर सकते क्योंकि इसे वे अपने आत्म-सम्मान के लिए घातक समझते हैं। वे आक्रामक होते है तथा छिप कर लोगों पर वार किया करते है।

हठधर्म भी दोष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह विगड़े दिमाग लोगों का एक लक्षण है। हठी व्यक्ति जवरदस्ती अपने विचारों को आपके ऊपर लादने का प्रयत्न करता है। उसकी वातचीत का तरीका ऐसा होता है—"देखिए, मैं आपको वतलाता है कि यह वात ऐसी ही है; मैं जो कुछ कहता हूँ उसे ठीक मानिए"—आदि ।

हठधर्मी किसी प्रकार का विरोध सहन नहीं कर सकता, क्योंकि उसको हमेशा ऐसा मालूम होता है जैसे उसका प्रतिद्वन्द्वी उसे नीचे गिराने की कोशिश कर रहा हो। वह किसी और को सत्य का अन्वेषक होने का आदर नहीं दे सकता, वरन् अकेले अपने को ही इसका अधिकारी समझकर आत्म-प्रवंचना में पड़ा रहता है।

क्योंकि ऐसी अवस्था में इसका उद्देश्य आत्म-रक्षा न रहकर स्वार्थ-साधन हो जाता है।

आवश्यकता से अधिक आत्म-स्थापक व्यक्ति लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए बराबर अपने को आगे ठेलता जाता है। कभी-कभी वह अपने प्रयत्न में सफल भी हो जाता है, परन्तु उसको अच्छे व्यक्तित्व वाला कभी नहीं कहा जा सकता।

व्यक्तित्व चाहने वाले को आशावादी होना चाहिए। आशावादी के चेहरे से सहज प्रसन्नता टपकती रहती है। लोग तुरन्त उसके प्रफुल्ल स्वभाव से आकर्षित हो जाते हैं। उसकी जीवन-शैली ठोस होती है, क्योंकि बिना इसके लोग देर तक आशावादी बने रहने का ढोंग नहीं कर सकते।

निराशावाद उस आदमी में होता है जो आवश्यकता से अधिक सावधान होता है तथा जिसने तय कर लिया होता है कि वह कभी एकाएक किसी नई परिस्थिति में पड़ने पर भी घबराएगा नहीं। वह किसी भी आकस्मिक घटना के लिए पूरी तरह तैयार होता है। इस प्रकार की असामान्य स्नायविक तैयारी के कारण जो कुछ भी उस पर बीतती है उसे वह सह सकता है।

निराशावाद के हथियार हैं सनकीपन, आवश्यकता से अधिक सतर्कता, सन्देह तथा हर ऐसी चीज को जान लेने की उत्कट जिज्ञासा, जिससे आदमी को किसी असफलता की संभावना हो। निराशावादी इन सभी हथियारों से सुसज्जित होकर

एक बहुत चालाक और जानकार निगाह लिये हुए तथा सतर्क होकर जीवन के मोर्चे पर अग्रसर होता है। वह उन लोगों का मजाक करता है जो जीवन को एक प्रोत्साहक संघर्ष समझते हैं।

जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति की आँखों मे चमक, उसके कदमों में दृढ़ता तथा उसकी मुट्ठियों मे शक्ति होती है। उसमे साहस और विश्वास कूट-कूटकर भरा होता है। जिम्मेदारियोंसे दूर भागने के लिए वहबहाने नहीं बनाता, बल्कि उन्हे उठाने के लिए आवश्यक आत्म-अनुशासन का स्वागत करता है। उसका व्यक्तित्व सर्वोत्कृष्ट श्रेणी का होता है।

इसके विपरीत काल्पनिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति अपने हर काम मे हिचकिचाने वाला होता है, वह अपने दुर्गुणों का शिकार होता है, जीवन से दूर भागने वाला होता है।

धीरे-धीरे वह हर ऐसे मौके से बचने की कला मे प्रवीण हो जाता है, जिसमे उसकी योग्यताओं की परीक्षा की संभावना हो। कारण यह है कि उसने अपने पड़ोसियों से सहयोग न करने का निश्चय कर लिया है तथा और तरीकों से ही उनसे आगे बढ़ जाना चाहता है।

अगर आप व्यक्तित्व प्राप्त करना चाहते है तो मन्द-बुद्धि, सुस्त और नीरस नहीं बने रह सकते। ये व्यक्तित्व के वह दुर्गुण है जो दिवा-स्वप्न लेने वाले मनुष्य मे उत्पन्न होजाते है।

लोग दिवा-स्वप्न देखना तभी आरम्भ करते हैं जब वे अपनी कमजोरियों से एक दम ऊब जाते है तथा अपनी शक्ति-लालसा को खुली छूट दे देते है।

अपना उत्साह हमेशा बनाए रखिए। जीवन से सही अनुराग पैदा कीजिए। कभी सुस्ती या थकावट आपके निकट न आएगी। दिखावट के लिए आपके पास समय ही न रहेगा। आपको शिकायत होगी कि जो सब काम आप करना चाहते हैं उनके लिए पर्याप्त समय ही नहीं है।

स्मरणीय बाते

१. कोशिश करके यह आदत बनाइए कि यदि कभी-कभी लोग आप को एकदम पीछे डाल दें तो भी आप अपना संतुलन न खो दें।

२. यदि सौभाग्य से आपके अन्दर ऊपर लिखे हुए व्यक्तित्व के दुर्गुण नहीं हैं तो उसके गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए।

३. अच्छा व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए आवश्यकता से अधिक परेशान न होइए। यदि आप जीवन के उचित कर्त्तव्यों का सम्पादन करते रहेंगे तो आपके व्यक्तित्व का विकास अपने आप होता जायगा।

: ४ :

अच्छा व्यक्तित्व प्राप्त करने के तरीके

अपने अन्दर निहित सद्गुणों का अच्छा-से-अच्छा उपयोग करके ही आप अच्छा व्यक्तित्व प्राप्त कर सकते हैं।

सबसे पहले आक्रामक-वृत्ति (एग्रेसिवनेस) को लीजिए। यदि आप उसे जड़ से नष्ट नहीं कर सकते तो कम-से-कम इस को एक दम दबाकर रखना तो बहुत आवश्यक है। कितने ही आदमी जो अत्यन्त साधारण बुद्धि वाले होते हैं परन्तु मिलने-जुलने मे तेज होते है, केवल अपने सौजन्य के कारण अच्छे व्यक्तित्व वाले समझे जाते है। और सौजन्य आक्रामक-वृत्ति का ठीक उलटा है।

अनेक लोग कार्यपटुता (एफिशेन्सी) की बाते करते है और कहते हैं कि व्यक्तित्व के लिए इसका होना अनिवार्य है। ठीक है, कार्यपटुता निस्संदेह व्यक्तित्व का एक अमूल्य गुण है। लेकिन इसे प्राप्त करना कोई बहुत मुश्किल बात नहीं है। कार्य-पटुता का ही दूसरा नाम सहज-बुद्धि है। यदि आपका जीवन विवेकपूर्ण है, आप अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करते, तथा अपने जीवन और दैनिक कार्य मे जो कुछ ज्ञातव्य है, ध्यान लगा कर उसे सीख लेते हैं, तो स्वभावतः आप कार्यपटु होंगे।

जहां तक दूसरों के ऊपर प्रभाव डालने की बात है, कार्य-

पटुता, शक्ति या सामर्थ्य एक ही ढंग के गुण हैं। ये ही जीवन-शक्ति के रूप में प्रस्फुटित होते है तथा जिस व्यक्ति के अंदर वर्तमान होते है वह तुरंत लोगों के ऊपर प्रभाव डालता है। यदि लोग प्रभावित न हो सके तो समझना चाहिए कि इन गुणों का अभाव है।

इसके बाद मैं बतलाऊंगा कि मेरे विचार से अच्छे व्यक्तित्व की आवश्यकताएं क्या है।

१. शारीरिक स्वास्थ्य पर पूरा ध्यान दीजिए। भोजन, व्यायाम और निद्रा-सम्बन्धी सभी हानिकारक आदतों से बचिए। यदि आप हर चीज मे संयम से काम लेते हुए एक विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करे, तो कभी थकावट या सिरदर्द से पीड़ित न होंगे और न ही आप इस दुखदायी भावना के शिकार होंगे कि "यों ही तबियत कुछ खराब रहा करती है।"

फिर भी इस दिशा मे बहुत शक्की-मिजाज होने की जरूरत नहीं है। जी० के० चेस्टरटन (अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध साहित्यिक और परिहास-लेखक) इस शताब्दी के महानतम व्यक्तियों मे से थे, परन्तु फिर भी वे खूब खाते और पीते थे, धूम्रपान भी कम न करते थे। वे प्रसिद्ध दार्शनिक और नाटककार जार्ज बर्नार्डशा के शाकाहार और नशा-परहेज का मजाक किया करते थे और कहा करते थे कि इन कट्टरपन्थी लोगों द्वारा जीवन की अच्छी चीजों का आनन्द लेने मे इनकार करना एक प्रकार से रोग-भ्रम या अति स्वास्थ्य-चिंता (हाइपोकान्ड्रिया)

का प्रतीक है।

बहुत उच्च कोटि के स्वास्थ्य का अभाव फिर भी कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि आदमी अच्छा व्यक्तित्व प्राप्त करने का अपना प्रयत्न ही छोड़ दे। कई अत्यन्त क्षीण-काय व्यक्ति, जैसे कि पिछले महायुद्धों मे एकदम अपाहिज बने हुए व्यक्ति, अपने व्यक्तित्व के कारण ही श्रेष्ठ सहचर प्रमाणित होते हैं। ये बहादुर आदमी अपनी तकलीफों के बावजूद भी हमेशा मुसकराते रहते है।

अनेक लोगों का, जो पुराने अपच से पीड़ित होते है, सारा दृष्टिकोण ही इस रोग की मनहूसियत से रंगा हुआ होता है। उनके व्यक्तित्व पर भी इसकी छाप होती है। ये लोग एक गहरे हीन-भाव से पीड़ित होते है।

ऐसे लोग अपने मन मे बराबर कहा करते है कि, "मै तो जीवनसंग्राम के लिए वैसे ही कमज़ोर हूँ। मुझसे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि मैं सामान्य स्वास्थ्य वाले व्यक्तियों की भाँति प्रसन्न रहूँ या सफलता प्राप्त कर सकूं।"

लेकिन शारीरिक हीनता के लिए जिस बात का महत्व है, वह डाक्टर एफ० जी० क्रुकशैंक के शब्दों मे यह है कि, "व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाली चीज़ स्वयं हीनता नहीं होती, बल्कि व्यक्ति की वह प्रतिक्रिया होती है जो उसके मन में इस हीनता के प्रति उठती है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि आप में कोई शारीरिक

दोष आ गया है, परन्तु आप सफलतापूर्वक उसका परिपूरण (कॉम्पेन्सेशन)प्राप्त कर लेते है तो नुकसान के बजाय वही दोष आपकी उन्नति का कारण बन जाता है।

परिपूरण प्राप्त करने की क्रिया में यह दोष आपको पूर्णता तथा आत्म-सिद्धि की ओर अग्रसर होने मे उत्साहित किया करता है। लेकिन यदि आप परिपूरण प्राप्त करने मे असफल रहे तो आप निराशावादी हो जायंगे, आपका व्यक्तित्व आकर्षण-हीन हो जायगा और फिर कोई बड़ी सफलता प्राप्त करना आप के लिए कठिन हो जायगा।

असफल परिपूरण उसी समय मिलता है जब आदमी अपने दोष के कारण साहस खो बैठता है और अपने अन्दर एक गहरा हीन-भाव विकसित कर लेता है।

ऐसा हो जाने पर वह अपने से अधिक सफल लोगों के प्रति एक आक्रामक आचरण का प्रयोग करने लगता है,अपनी हीनता के मूल कारण तथा सम्पर्क मे आने वाले लोगों से दूर भागता फिरता है तथा सामाजिक जीवन से एकदम परे हट जाता है।

डाक्टर एल० ई० विश की एक पुस्तक है जिसका शीर्षक है, "प्रसन्न होइए कि आप स्नायु-रोगी है"। इस पुस्तक मे ऐसे लोगों की एक लम्बी सूची दी गई है जिनके शरीरों मे कोई दोष आ गया था परन्तु जिन्होंने सफलतापूर्वक इनके बुरे प्रभाव को मिटा दिया। डाक्टर विश कहते है, "प्रसन्न होइए कि आपके अन्दर कोई दोष आ गया। सभी महान् विचारक और कर्मवीर

इस पर प्रसन्न हो चुके है।"

आपको हमेशा अपनी योग्यता का ठीक अनुमान होना चाहिए। कभी मत सोचिए कि आप औरों के मुकाबले इतने हीन है कि आपके लिए उनकी बराबरी कर पाना मुश्किल है।

और न ही आपको कभी इस प्रकार तर्क करना चाहिए, "हाय, मेरे पास कुछ भी तो नहीं है, जो मैं अपने साथियों के सन्मुख प्रस्तुत कर सकूं। लोग मुझसे ऊब जाते है। मैं किसी लायक भी नहीं।"

अपनी मजबूरियों के विरुद्ध विद्रोह से उत्पन्न इस आत्म-निन्दा का कारण नम्रता नहीं है। जब कोई यह सिद्ध करना चाहता है कि उसे अपने साथियों से सहयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है तो वह जो तर्क देता है यह उसका एक नमूना है।

यह ठीक उस निराशा के समान है जिसे लोग इसलिए अनुभव करते हैं कि वे कोई महान् योद्धा या नायक नहीं है। व्यक्तित्व के विकास के लिए यह अत्यन्त घातक है।

लोग सनकी और सदा रोने-पीटने वाले आदमियों को पसन्द नहीं करते। जीवन तथा निरन्तर प्रफुल्लता की उपयोगिता में विश्वास रखिए। यही वे चीजें है, जिन्हे लोग पसन्द करते हैं तथा औरों से पाने की आशा रखते है।

यदि आपके अन्दर एक भी प्रतिभा मौजूद है तो उसे छिपाइए नहीं। बाहर लाइए और यदि हो सके तो बढ़ाकर

उसे दुगुनी कर लीजिये। यदि नही तो जितना आप कर सकते है, उतना अवश्य करिये। ऐसा करने में ही आपको जीवन के वे अनुभव प्राप्त होंगे जिनसे आपके अन्दर आत्म-विश्वास और संतुलन की सृष्टि होगी और आत्म-विश्वास के ही द्वारा आपमें शक्ति और सामर्थ्य की वह भावना आयगी जिसके विना व्यक्तित्व का निर्माण हो ही नही सकता।

२. आपको अपने और अपने साथियों तथा समाज के बीच उचित व्यवस्थापन (एडजस्टमेण्ट) कायम करना चाहिए। अपनी सामूहिक चेतना को विकसित होने का पूरा मौका दीजिए।

इसका यह अर्थ नहीं है कि आप अपनी शक्ति-लालसा को अभिव्यक्ति का कोई अवसर ही न दें। यदि आपने यह गलती की तो आपकी प्रायः वैसी ही बुरी हालत होगी जैसी शक्ति-लालसा को एकदम छूट दे देने पर।

जो व्यक्ति अपनी शक्ति-लालसा को एकदम खुला छोड़ देता है, उसके लिए औचित्य-अनौचित्य को एकदम भूल जाने का खतरा रहता है तथा वह अपने साथियों के सम्पर्क मे बिलकुल दूर हो जाता है। इस नुकसान के साथ-साथ जोकि कोई मामूली नुकसान नहीं है, उसमें समाज-विरोधी आचरण की प्रवृत्ति भी उदय हो जाती है, जो अच्छे व्यक्तित्व का घोर शत्रु है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति केवल सामूहिक चेतना को अपने जीवन पर शासन करने देता है धीरे-धीरे अपने पृथक् व्यक्तित्व को खोकर अपने साथियों में एकदम मिल जाता है और

झुंड में से एक बन जाता है। उसका अपना कोई मत नहीं होता; उसकी विचार-धारा अखबारों, भाषणों, पुस्तकों या अपने साथियों से बनी हुई होती है।

अधिकांश लोग प्रायः अपनी शक्ति-लालसा को ही आवश्यकता से अधिक छूट दे देने की गलती करते है। लेकिन फिर भी मैं सामूहिक चेतना के क्षेत्र में भी अतिशयता के विरुद्ध सावधान कर देना आवश्यक समझता हूँ।

आपको दोनों प्रेरणाओं के बीच उचित संतुलन स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार निश्चय ही आपको सामाजिक वृत्ति (सोशल सेन्स) की प्राप्ति हो जायगी।

और यदि आप मे सामाजिक वृत्ति आ गई तो व्यवहार-पटुता (टैक्ट) अपने आप आजायगी। इससे आपको लोगों के साथ काम-चलाऊ सम्बन्ध स्थापित करने मे बड़ी मदद मिलेगी, आप प्रत्येक सामाजिक वर्ग के लोगों में स्वच्छन्दताके साथ मिल सकेंगे तथा फिर भी अपने आत्म-सम्मान को सुरक्षित रखते हुए उनका आदर प्राप्त कर सकेंगे।

सामाजिक वृत्ति आपके अन्दर असली जीवन और कार्य-क्षमता पैदा कर देती है। आपके प्रत्येक आचरण से उसकी झलक आने लगती है और लोगों पर आपका जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार आपको सच्चा व्यक्तित्व मिल जाता है।

३. आप जो काम कर रहे है उसके बारे मे आप जितना सीख सकते हैं, सीख ले। आप अपने काम में जितनी ही अधिक

योग्यता प्राप्त करते जायंगे, आपका आत्म-विश्वास उतना ही बढ़ता जायगा। जो आदमी अपने काम मे कुशल हैं तथा अच्छे-से-अच्छे ढंग से उसका सम्पादन करने मे आनन्द लेता है, वह महसूस करता है कि उसका भी कुछ महत्व है और व्यक्तित्व के विकास मे इस भावना से बड़ी मदद मिलती है।

४. अपना उत्साह हमेशा बनाए रखिए। ऐसा करने के लिए दृढ़ विश्वास का होना आवश्यक है। जीवन और उसकी समस्याओं मे पूरी दिलचस्पी लीजिए। कभी उन असन्तुष्ट और निराश लोगों की तरह न बनिए जो हमेशा इसी फिराक मे लगे रहते है कि अगली छुट्टी कब आयगी।

साथ ही, आपको अपने साथियों की समस्याओं में भी दिल चस्पीलेनी चाहिए, नहीं तो आप यह उम्मीद नहीं कर सकते कि उन्हे आपमे कोई दिलचस्पी होगी।

लेकिन आवश्यकतासे अधिक उत्साह दिखानाभी ठीक नहीं है। चालाक लोग हमेशा ऐसे अति-उत्साही लोगों से अनुचित लाभ उठाने के लिए हमेशा तैयार बैठे रहते हैं। कारण यह है कि ऐसे लोग किसी भी नये विचार में—चाहे वह किसी धर्म की बात हो या राजनैतिक सिद्धान्त की—बहुत जल्द बह जाते है। ये लोग बिना उसके अन्तिम परिणाम का सोच-विचार किये किसी भी नई योजना को तत्काल मदद देना आरम्भ कर देते है।

५. औरों की बात को ध्यान से सुनने की आदत डालिए। 'एक चुप सौ को हरावे' वाली कहावत बिलकुल ठीक है। लेकिन

आपके सुनने में भी समझदारी होनी चाहिए। सन्तों में ही बेव-कूफों को सहने की शक्ति होती है। लेकिन आपके लिए इस शिक्षा को बहुत गम्भीरता से पालन करने की आवश्यकता नही है।

यदि लोगों की बातें सुनने मे आपका मन एकाग्र न होता हो तो भी आपको जबरदस्ती उनकी बातों पर ध्यान देना चाहिए। दूसरों की बात को अच्छी तरह न सुनने वाला आदमी स्वार्थी होता है और वह कभी सर्वप्रिय नहीं बन सकता।

६. अच्छी तरह बातचीत करना सीखिए। लेकिन ऐसा करने के पहले आपके पास कहने लायक कुछ बाते होनी चाहिए। एक सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति भी बातचीत करने वाले की गहराई का पता लगा लेता है, क्योंकि वह स्वय अपने को बात-चीत करता हुआ सुनना चाहता है।

यदि आपको भी उन्हीं चीजों मे दिलचस्पी है जिनमे आपके साथियों को, तो अवश्य ही आप एक अच्छे सभाषण-कर्त्ता बन सकेंगे।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि आपको अपना कोई अलग और निराला व्यसन न रखना चाहिए। यदि आप अपनी दुनिया में होने वाली घटनाओं के बारे मे अपनी राय रखते है, समकालीन पुस्तकों और चल-चित्रों में परिचय बनाये रखते है तो इतना साथियों के बीच अच्छे वाद-विवाद के लिए काफी है।

७. आपको सामाजिक शिष्टाचार का भी ज्ञान रखना चाहिए।

यदि आप नृत्य या संगीत मे भाग नहीं ले सकते तो ताश, टेनिस या और कोई और खेल तो अवश्य ही जानने चाहिए।

आपको सच्चे मित्र प्राप्त करने चाहिए, क्योंकि जीवन की थकान का सुन्दर उपहार मित्रों के स्नेह और हास्य से बढ़कर और क्या हो सकता है? मित्रता या मित्र बनाने की योग्यता का सामाजिक वृत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कभी भी अपनी सामूहिक चेतना से विमुख न होइए, नही तो आप मित्रता के मधुर फल से वंचित रह जायंगे।

८. विनयशील बनिए। यों तो विनयशीलता स्वयं एक प्रशसनीय गुण है, परन्तु यदि विनयशील व्यक्ति अपने को समाज के लिए उपयोगी भी साबित कर सके तो यह उसके आदर का एक बड़ा कारण बन जाता है।

इसके विपरीत आक्रामक वृत्ति वाला व्यक्ति एक प्रकार से स्वयं अपनी प्रशंसा का विज्ञापन करता फिरता है, और इसलिए उसे अपने कामों द्वारा सिद्ध करना पड़ता है कि सचमुच उसमे कोई महत्व की बात है।

दूसरी तरफ विनयशील व्यक्ति के हर काम से ऐसा मालूम होता है मानो वह अपने को बहुत मामूली आदमी समझता है। अतएव जब वह कोई प्रशंसनीय कार्य कर डालता है तो उसे असामान्य आदर मिलता है।

बेन्जामिन फ्रैंकलिन लोगो को अपने पक्ष मे कर लेने के लिए विनयशीलता का मूल्य अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने

लिखा है कि जब वे राजदूत बनकर पेरिस गये तो जान-बूझकर अत्यन्त विनयशीलता का आचरण करना आरम्भ किया। नतीजा यह हुआ कि थोड़े ही समय में वे फ्रांसीसियों के अत्यन्त प्रिय बन गए।

उन्होंने कभी भी लोगों के ऊपर अपने विचारों को लादने का प्रयत्न नहीं किया। जब कभी कुछ कहना होता था तो वे 'मेरा ख्याल है कि ...' या 'मेरी राय मे ...' आदि कहकर ही प्रारम्भ करते थे।

सभी व्यवहार-कुशल व्यक्ति समझते है कि अपने साथियों के ऊपर 'प्रभुत्व जमाने' से कोई लाभ नही होता। यह समझते हुए कि सभी लोग नम्रता पसन्द करते है, वे कभी-कभी अपना काम साधने के लिए नम्रता का ढोंग बना लेते है। ऐसी दिखावटी नम्रता हार्दिकता से शून्य होने के कारण निन्दनीय भले ही हो, परन्तु फिर भी झूठी ऐंठ और आक्रामकता से तो अच्छी ही होती है।

परन्तु असली नम्रता वह है जो इस ज्ञान से निकलती है कि आपका स्थान महत्वपूर्ण होते हुए भी अनिवार्य नही है, या आप दुनिया मे अपने ढंग के अद्वितीय नही है। यही वह कला है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के जीवन मे अपने लिए एक उपयोगी स्थान प्राप्त कर सकता है।

सच्चे अर्थ मे विनम्र व्यक्ति अपनी सीमाओं को बिना किसी [illegible] के स्वीकार करता है तथा भली-भाँति समझता

है कि अकेला उसीका महत्व नहीं है. दुनिया में एक-से-एक बढ़-कर लोग पड़े हुए हैं। इस प्रकार ईश्वर जैसी एक सत्ता में उसे सच्ची आस्था उत्पन्न हो जाती है।

डब्ल्यू० सी० लूससोर ने अपनी पुस्तक 'व्यक्तित्व के लाभ' (दि गेन आफ पर्सनैलिटी) मे अत्यन्त विनयशील जी० के० चेस्टरटन का विरोधाभास दिखाई पड़ने वाला यह उद्धरण दिया है, "यदि आदमी अपने को बड़ा बनाने की कोशिश करेगा तो हमेशा वह छोटा बनता हुआ प्रतीत होगा।"

अभिमान से धोखेबाजी और असभ्यता उत्पन्न होती है और ऐसी धोखेबाजी को कोई भी पसन्द नहीं करता—यहाँ तक कि स्वयं दूसरा धोखेबाज व्यक्ति भी।

नम्रता अपने आप आ जायगी यदि आप अपनी सीमाओं को उचित रूप मे समझते है तथा यह अनुभव करते है कि प्राय: सभी लोगो की सीमाए आप ही जैसी है। और यह ज्ञान आपको तभी प्राप्त होगा जब आप अपने साथियों से खुलकर मिलेंगे तथा उन्हे समझने का प्रयत्न करेंगे।

जिस व्यक्ति की सामूहिक चेतना पूरी तरह विकसित हो चुकी है वह लोगो के साथ सहयोग करने तथा दूसरो की भलाई में हाथ बँटाने की ज्यादा चिन्ता करता है. बनिस्बत स्वयं अपने महत्व की चिन्ता करने के। ऐसा व्यक्ति कभी हीन-भाव से पीड़ित नहीं होता और न काल्पनिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए शक्ति-लालसा का दास बनता है।

६. अपने पड़ोसी के साथ प्रेम कीजिए। भय आपको उन्हीं चीजों से लगता है जिनको आप समझते नहीं। यदि आप पारस्परिक सम्पर्क के द्वारा अपने पड़ोसी को भली-भाँति समझ नहीं लेते, तो आप उससे भय खाते रहेंगे; और भय से ही घृणा उत्पन्न होती है।

लेकिन अपने साथियों का ज्ञान तथा यह अनुभव कि वे भी उन्हीं मजबूरियों से बंधे हुए हैं जिनसे स्वयं आप, तभी आते हैं जब आपकी सामूहिक चेतना पूर्ण रूप से विकसित हो; और इनके फलस्वरूप ही नम्रता तथा पड़ोसी का प्रेम आते हैं।

पड़ोसी के प्रेम का अर्थ यह है कि जिस प्रकार भी संभव हो आप उसकी अधिक-से-अधिक सेवा करना चाहते हैं। स्वभावतः ऐसा करने के लिए आप उसके साथ अधिक-से-अधिक सहयोग करेंगे और उसकी भलाई करने का प्रयत्न करेंगे। कुमारी ग्रीनवी अपनी पुस्तक 'व्यक्तित्व' में लिखती है कि "प्रेम व्यक्तित्व के संगठन का सबसे स्पष्ट और सर्वांगपूर्ण तरीका है।"

सारी दुनिया प्रेमी व्यक्ति को पसन्द करती है। क्यों? इसलिए कि हर एक समझता है कि प्रेमी उदारचरित होता है। इस कथन को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है, "हर प्रेमी दुनिया को प्यार करता है, तथा दुनिया प्रेमी को प्यार करती है।" इस कथन के प्रथम भाग में निहित सत्य ही लोगों को प्रेमी की तरफ आकृष्ट करता है।

साधारण स्त्री-पुरुष का प्रेम, जिसके फलस्वरूप पूर्णता की

वह भावना उत्पन्न होती है जो ऐसे प्रेम का प्रधान लक्षण है; पड़ोसी के प्रेम से थोड़ा भिन्न होता है। पड़ोसी का प्रेम भी एक प्रकार की पूर्णता का भाव उत्पन्न करता है, परन्तु साथ ही आपको वह एक आंतरिक शान्ति और बाह्य संतुलन भी प्रदान करता है।

मैंने इससे पहले भी बताया है कि भावुकता, कातरता और लज्जा उस व्यक्ति के अस्त्र है जो हीन-भाव से पीड़ित होता है तथा दूसरों के विरोध से डरता है। इन उपायों का प्रयोग वह लोगों से विशेष रियायत प्राप्त करने के लिए करता है, क्योंकि उसे इस बात का भय होता है कि साधारण तरीकों से शायद ही वह किसी पर प्रभाव डाल सके।

उसकी मनोवृत्ति कुछ इस प्रकार से व्यक्त होती है, "मैं एकदम घबड़ा गया हूँ, अतएव आप मुझसे अजनबी लोगों के बीच जाने की आशा नहीं कर सकते।" नतीजा यह होता है कि वह अपने पड़ोसी तक से सहयोग करने से भागता है।

कितने ही वक्ता और अभिनेत्रियाँ श्रोताओं या दर्शकों के सन्मुख उपस्थित होने के पहले बुरी तरह व्यथित हो उठते है।

क्यों लोग इस प्रकार का आचरण करने लगते है? इसलिए कि उन्हे भय होता है कि कही वे अपने या अपनी कला के साथ न्याय न कर सकें।

कितने ही लोग इन दुर्बलताओं पर विजय पाने के लिए अपने को जबरदस्ती कठिनाइयों के मुंह मे झोंक देते है। जार्ज

बर्नार्ड शा ने स्वीकार किया है कि जब पहले-पहल उन्होंने एक सभा में भाषण दिया तो कँपकँपी के मारे उनके घुटने एक दूसरे से टकरा रहे थे, फिर भी वे बोलते गए। लेकिन ऐसी परिस्थितियों मे ज़बरदस्ती का नतीजा हमेशा अच्छा नहीं होता।

जिस व्यक्ति ने अपने साथियों के प्रति एक उचित दृष्टिकोण का विकास कर लिया है, वह कभी भी इस प्रकार की अनावश्यक कातरता से पीड़ित नही होता।

जो वक्ता, 'लोगों के ऊपर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा' इसकी चिंता बगैर अपनी बात को अच्छे-से-अच्छे ढंग से कहने का प्रयत्न करता है, कभी घबड़ा नहीं सकता। वह इस विषय मे इस प्रकार मग्न होता है कि उसे अपना तो ख्याल ही नही आता। अतएव उसका भाषण सहज-प्रवाह और हार्दिकता से पूर्ण होता है तथा प्रत्येक दृष्टि से एक सफल भाषण कहा जाता है।

१०. हमेशा अपना ध्यान अच्छा व्यक्तित्व पाने पर ही मत लगाये रखिए। एक ऐसी पुस्तक मे जिसका विषय ही व्यक्तित्व प्राप्त करने के तरीके बतलाना है, यह शिक्षा बडी अजीब-सी प्रतीत होगी। लेकिन मै बतलाता हूँ कि असल में मेरा मतलब क्या है।

उदाहरण के लिए आप आनन्द(हैपीनेस)और सुख (प्लेज़र) को ले लीजिए। इन दोनों ही की यह विशेषता है कि आप इनका पीछा करके इन्हें नहीं प्राप्त कर सकते। यही कारण है कि जो लोग सांसारिक सुखों का जीवन व्यतीत करने लगते है, उन्हें

जीवन को असहनीय बन जाने से रोकने के लिए रोज नये-नये रोमांचों (थ्रिल्स) की आवश्यकता पड़ती है। इनकी हालत उन अफीमचियों की-सी होती है जो यदि रोज़-रोज़ अफीम की मात्रा को बढ़ाते न जायं तो नशा ही न आये और बिना नशे के उनकी दुर्गति हो जाय।

सच्चा आनन्द, सच्चे सुख की भाँति, जीवन की जिम्मेदारियों को पूरा करने का पारितोषिक है, क्योंकि ऐसा करके ही आप अपने महत्त्व का तथा अपने कर्तव्य की पूर्ति का अनुभव कर सकते हैं, जो सच्चे आनन्द का आधार है।

ठीक यही बात व्यक्तित्व की भी है। यदि पहले आपने, आप जो कुछ होना चाहते हैं, उसकी तस्वीर बना ली और तब उस काल्पनिक तस्वीर के अनुरूप आचरण करना आरम्भ कर दिया तो आप हृदय-हीनता कृत्रिमता और कठोरता के पुतले बन जायंगे।

परन्तु यदि आपने एक ऐसे कर्तव्यशील जीवन में अपने को भुला दिया जो सहयोग और त्याग का द्वार आपके लिए खोल देता है, तो अवश्य ही आपको एक अच्छा व्यक्तित्व मिलेगा। अपने साथियों मे दिलचस्पी लेने के कारण उन्हे भी आपमे दिलचस्पी हो जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार आपकी आँखों में तेज और व्यवहारों में शालीनता आजायगी तथा आप समाज के एक उपयोगी और सुखी सदस्य बन जायगे।

कई लेखकों का कहना है कि यदि किसी व्यक्ति मे कोई

भी विशेपता या आकर्पण की बात नहीं है तो उसे किसी ऐसे छद्म-या तकियाकलाम (मैनरिज्म) की शरण लेनी चाहिए जो उसकी इस कमजोरी को केवल छिपा ही न दे बल्कि उसे आदर भी दिला सके।

उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति अच्छा संभापण-कर्ता नहीं है तो उसे एक पटु श्रोता होना चाहिए, क्योंकि जो लोग बहुत बाते नहीं करते, प्रायः उन्हे बुद्धिमान समझा जाता है। या उसे एक रहस्यवादी मुद्रा धारण कर लेनी चाहिए। यह लोगों को चक्कर मे डाल देती है। अभिनेत्रियों मे यह चालाकी बहुत प्रचलित है; इसमे लोगों को एक प्रकार की जगमगाहट प्रदान कर देने की ताकत होती है।

लेकिन यह एक निराशापूर्ण सम्मति है। कुशल दृष्टि वाले लोग तुरन्त असली और नकली का अन्तर भॉप लेते हैं।

प्रचलित कहावत के शब्दों मे, "आप कुछ लोगों को हमेशा अंधकार मे रख सकते हैं, या सभी लोगों को कुछ देर तक, परन्तु सभी लोगों को हमेशा वेवकूफ बनाते रहे, यह असभव है।" साथ ही, इस प्रकार का धोखा स्वयं धोखा देने वाले के दिमाग पर एक बहुत बुरा मनोवैज्ञानिक असर डालता है।

अपने साथ तथा दूसरों के साथ सदैव निष्कपट आचरण करिए जो बात हो उसे साफ-साफ प्रगट कर दीजिए। आप देखेंगे कि प्रत्येक परिस्थिति मे आपको यह नीति सर्वोत्कृष्ट रहेगी।

बहुत अच्छा होगा यदि आप व्यक्तित्व-विकास सम्बन्धी आदेशों की एक सूची अपनी जेब मे रखे जिससे आप कभी-कभी उसे देखकर अपनी आवश्यकताओं की याद ताजी कर लिया करें। नीचे इस सूची का एक छोटा उदाहरण दिया जाता है।

प्राप्त करना चाहिए—

सुन्दर शारीरिक स्वास्थ्य
अपनी योग्यता का सही अन्दाज़
सामाजिक वृत्ति
विनयशीलता
पड़ोसी का प्रेम
अपने काम का विशेष ज्ञान
दूसरों को सुनने की आदत
सामाजिक शिष्टाचार

इनसे बचना चाहिए—

हीन-भाव तथा उसके साथी—आत्म-निन्दा और सनकीपन
ईर्ष्या
मिथ्याभिमान तथा उसकी व्युत्पत्तियाँ—भावुकता, कातरता, लज्जा, झूठी शान पर अड़े रहना, असभ्यता और सनकीपन

इस पुस्तक को पढ़कर आपने नतीजा निकाला होगा कि व्यक्तित्व की प्राप्ति 'व्यक्ति' बनकर ही की जा सकती है। और आप

को 'व्यक्ति' तभी कहा जायगा जब सर्वसाधारण की भीड़ में खड़े रहने पर भी आपको अलग किया जा सके।

वे गुण जो आपमें यह निरालापन ला सकते हैं वही हैं जिनको हमने पिछले पृष्ठों में गिनाया है।

व्यक्तित्व प्राप्त करने के लायक चीज़ है। यदि आप अच्छे व्यक्तित्व वाले हैं तो जीवन का पूरा आनन्द उठा सकेंगे। इसके अलावा जीवन की और भी बहुत-सी सुख-सुविधाएं, जो दुनिया में उपलब्ध हैं, आपको अनायास मिल जायँगी।

आवश्यकता इस बात की है कि आप विश्वास के साथ आगे बढ़ते जायं और व्यक्तित्व हासिल करें।

स्मरणीय बातें

१. सामाजिक चेतना का उचित विकास करके अपने साथियों के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कीजिए।

२. अपनी योग्यताओं के बारे में एक नम्र परन्तु सही राय क़ायम कीजिए।

३. आप अच्छा व्यक्तित्व प्राप्त कर सकेंगे यदि 'स्वयं' को भूलकर हाथ में मौजूद काम को पूरा करने में सारा ध्यान लगा दें।

राजकमल मनोविज्ञान माला

१ बचपन के पहले पांच साल
२ हीन-भाव : उसका विश्लेषण और उपचार
३ बचपन : पांच से दस साल
४ हमारे जीवन का अर्थ : (भाग एक)
५ प्रेम और विवाह
६ हमारे जीवन का अर्थ : (भाग दो)
७ व्यक्तित्व
८ स्मरण-शक्ति

राजकमल

मनोविज्ञान माला ६

हमारे जीवन का अर्थ

(भाग दो)

डाक्टर एल्फ्रेड एडलर

जीवन का एक ही अर्थ है—सहयोग। सहयोग की इस नींव पर ही हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का ढांचा बनना आवश्यक है।" यही इस पुस्तक का मूल-सूत्र है।

हमारे जीवन का अर्थ

(भाग दो)

लेखक की What Life Should Mean to You का अनुवाद

लेखक

डा० एल्फ्रेड एडलर

अनुवादक

श्री ओमप्रकाश

राजकमल प्रकाशन

क्रम

: ३ :

हीनता और श्रेष्ठता के भाव

मानव-मनोविज्ञान की अनेक महत्वपूर्ण खोजों में से एक खोज 'हीन-भाव' (इन्फीरिओरिटी कॉम्प्लैक्स) जगत् प्रसिद्ध हो गई दीखती है। कितने ही भिन्न सिद्धान्तों के मनोवैज्ञानिकों ने इस शब्द को भली प्रकार अपना लिया है और वे अपने दैनिक काम काज में इसका प्रयोग करने लगे हैं। लेकिन वे इसे अच्छी तरह समझते हैं अथवा उत्तम अर्थों में इसका प्रयोग करते हैं, इसमें मुझे संदेह है। उदाहरण के लिए किसी रोगी को यह बताना कि वह हीनभाव से पीड़ित है, कदापि श्रेयस्कर सिद्ध न होगा। ऐसा करने से तो वह व्यक्ति उन हीन भावनाओं पर विजय पाने की बजाय अपने मन में उन्हें और भी महत्व देने लगेगा। अपनी जीवन-प्रणाली से वह जिस निरुत्साह का प्रदर्शन कर रहा है;वह अवश्य प्रत्यक्ष है। जहां भी उसमें उत्साहकी कमी है वहीं हमें उसे उत्साह देना चाहिए। प्रत्येक स्नायु-रोगी (न्यूरोटिक) हीन-भाव का शिकार होता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति अपने जैसे दूसरे व्यक्तियों से इस दृष्टि से भिन्न नहीं होता कि वह जिस हीन भाव से पीड़ित है, दूसरे उसके शिकार नहीं है। उसकी दूसरों से भिन्नता तो उस खास स्थिति मे होती है, जिसमें कि वह अपने आपको जीवन की उपयोगी दिशा की ओर बढ़ाने

में सर्वथा असमर्थ पाता है। और अपने कार्यों और प्रयत्नों की जो सीमा अपने मन में बांध रखी है उसमें भी वह दूसरों से भिन्न होता है। "तुम हीन-भाव के रोगी हो" केवल-मात्र यह कहना उसके लिए वैसे ही सहायक सिद्ध नहीं हो सकता जैसे कि किसी सिर-दर्द से पीड़ित व्यक्ति से यह कहना कि—"मैं तुम्हें बताऊं कि तुम्हें क्या कष्ट है तुम्हारा सिर दुख रहा है।"

बहुत से विकृत-स्नायु व्यक्तियों से यदि पूछा जाय कि क्या वह अपने को 'हीन' अनुभव करते हैं तो इसका उत्तर वे 'नहीं' में देंगे। कुछ तो प्रायः यह भी कह देंगे—"बल्कि इसके विपरीत मुझे खूब मालूम है कि अपने चारों ओर के लोगों से मैं श्रेष्ठ हूँ।" हमें पूछने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें तो उस व्यक्ति के व्यवहार पर ध्यान देने की ही जरूरत है। यहां हम देखेंगे कि अपनी महत्ता में पूर्ण विश्वास बनाए रखने के लिए वह किन-किन चालाकियों से काम लेता है। उदाहरण के लिए यदि हम किसी ऐसे व्यक्ति से मिलें जो घमंडी हो तो हम इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि वह ऐसा अनुभव करता है कि "दूसरे लोग मेरी उपेक्षा करेंगे, परन्तु मुझे यह दरसाना ही है कि मैं भी कुछ हूँ।" यदि हम ऐसे व्यक्ति से मिलें जो बोलते समय अपने हाथ पांव भी जोर से झटकाता है तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि उसके विचार इस प्रकार चलते हैं—"मेरी बोली तब तक कोई महत्व नहीं रखेगी जब तक स्वयं मैं उस पर जोर न दूं।" उस प्रत्येक व्यक्ति के पीछे जो दूसरों से अपने को श्रेष्ठ जताने का

सफल व्यवहार करता है, हम उन हीनता के भावों का
नुमान कर सकते हैं जिन्हें छिपाये रखने के लिए विशेष
यत्नों की आवश्यकता पड़ती है। यह तो वैसी ही बात है कि
जैसे कोई व्यक्ति इस बात से डरे कि वह कद में छोटा है और
अपने को बड़ा दरसाने के लिए पैरों की उंगलियों के बल चलने
लगे। ऐसी ही भावना हम उन बच्चों में पाते हैं, जो अपने कद
का मुकाबला कर रहे होते हैं। जिस बच्चे को अपने छोटे होने
का भय हो वह ज़रा तनकर लम्बा खड़ा हो जायगा। वह अपने को
अपने असली कद से लम्बा ही दिखाने की कोशिश करेगा। यदि
हम किसी ऐसे बच्चे से पूछें कि "क्या तुम्हारा ख्याल है कि तुम
बहुत छोटे हो?" तो इस सत्य की पुष्टि की आशा हम उससे
नहीं कर सकते।

अतएव यह आवश्यक नहीं है कि हीन भावों से आक्रान्त
कोई भी व्यक्ति शान्त, नियन्त्रित, नम्र और दूसरे से दबनेवाला
ही दीखे। हीन भाव तो सहस्रों भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को
प्रकट कर सकते हैं। कदाचित् इसे मैं उन तीन बच्चों की कहानी
सुनाकर और भी स्पष्ट कर सकूं जिन्हें कि जीवन में पहली बार
चिड़ियाघर ले जाया गया। जबकि वह शेर के पिंजरे के पास खड़े
थे, इनमें से एक अपनी माता के दामन के पीछे छिप गया, और
बोला, "मैं घर जाना चाहता हूँ।" दूसरा बच्चा जहां खड़ा था
वहीं खड़ा रहा—लेकिन उसका रंग पीला पड़ गया, वह कांपने
लगा और बोला, "मुझे तो ज़रा भी डर नहीं लग रहा है!" तीसरे

में सर्वथा असमर्थ पाता है। और अपने कार्यों और प्रयत्नों की जो सीमा अपने मन में बांध रखी है उसमें भी वह दूसरों से भिन्न होता है। "तुम हीन-भाव के रोगी हो" केवल-मात्र यह कहना उसके लिए वैसे ही सहायक सिद्ध नहीं हो सकता जैसे कि किसी सिर-दर्द से पीड़ित व्यक्ति से यह कहना कि—"मैं तुम्हें बताऊं कि तुम्हें क्या कष्ट है तुम्हारा सिर दुख रहा है।"

बहुत से विकृत-स्नायु व्यक्तियों से यदि पूछा जाय कि क्या वह अपने को 'हीन' अनुभव करते हैं तो इसका उत्तर वे 'नहीं' में देंगे। कुछ तो प्रायः यह भी कह देंगे—"बल्कि इसके विपरीत मुझे खूब मालूम है कि अपने चारों ओर के लोगों से मैं श्रेष्ठ हूँ।" हमें पूछने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें तो उस व्यक्ति के व्यवहार पर ध्यान देने की ही जरूरत है। यहां हम देखेंगे कि अपनी महत्ता में पूर्ण विश्वास बनाए रखने के लिए वह किन-किन चालाकियों से काम लेता है। उदाहरण के लिए यदि हम किसी ऐसे व्यक्ति से मिलें जो घमंडी हो तो हम इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि वह ऐसा अनुभव करता है कि "दूसरे लोग मेरी उपेक्षा करेंगे, परन्तु मुझे यह दरसाना ही है कि मैं भी कुछ हूँ।" यदि हम ऐसे व्यक्ति से मिलें जो बोलते समय अपने हाथ पांव भी जोर से झटकाता है तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि उसके विचार इस प्रकार चलते हैं—"मेरी बोली तब तक कोई महत्व नहीं रखेगी जब तक स्वयं मैं उस पर जोर न दूं।" उस प्रत्येक व्यक्ति के पीछे जो दूसरों से अपने को श्रेष्ठ जताने का

असफल व्यवहार करता है, हम उन हीनता के भावों का अनुमान कर सकते हैं जिन्हें छिपाये रखने के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है। यह तो वैसी ही बात है कि जैसे कोई व्यक्ति इस बात से डरे कि वह कद में छोटा है और अपने को बड़ा दरसाने के लिए पैरों की उंगलियों के बल चलने लगे। ऐसी ही भावना हम उन बच्चों में पाते हैं, जो अपने कद का मुकाबला कर रहे होते हैं। जिस बच्चे को अपने छोटे होने का भय हो वह जरा तनकर लम्बा खड़ा हो जायगा। वह अपने को अपने असली कद से लम्बा ही दिखाने की कोशिश करेगा। यदि हम किसी ऐसे बच्चे से पूछें कि "क्या तुम्हारा ख्याल है कि तुम बहुत छोटे हो?" तो इस सत्य की पुष्टि की आशा हम उससे नहीं कर सकते।

अतएव यह आवश्यक नहीं है कि हीन भावों से आक्रान्त कोई भी व्यक्ति शान्त, नियन्त्रित, नम्र और दूसरे से दबनेवाला ही दीखे। हीन भाव तो सहस्रों भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को प्रकट कर सकते हैं। कदाचित् इसे मैं उन तीन बच्चों की कहानी सुनाकर और भी स्पष्ट कर सकूं जिन्हें कि जीवन में पहली बार चिड़ियाघर ले जाया गया। जबकि वह शेर के पिंजरे के पास खड़े थे, उनमें से एक अपनी माता के दामन के पीछे छिप गया, और बोला, "मैं घर जाना चाहता हूँ।" दूसरा बच्चा जहां खड़ा था वहीं खड़ा रहा—लेकिन उसका रंग पीला पड़ गया, वह कांपने लगा और बोला, "मुझे तो जरा भी डर नहीं लग रहा है।" तीसरे

ने शेर की ओर आवेश से देखा और अपनी माता से पूछा—"क्या मैं इस पर थूक दूं ?" वास्तव में तीनों बच्चे ही अपने को हीन अनुभव कर रहे थे; परन्तु तीनों ने इस भाव का प्रकाश भिन्न-भिन्न तरीकों से अपनी-अपनी जीवन-प्रणाली के अनुसार किया।

हीन-भाव कुछ-न-कुछ मात्रा में हम सभी में होते हैं क्योंकि हम सभी अपने को ऐसी दशाओं में पाते हैं कि जिनका हम सुधार चाहते हैं। यदि हमने अपना उत्साह बनाए रखा, तो इन भावों को दूर करने के लिए हम सीधे यथार्थवादी और सन्तोषप्रद ढंग युक्त करने में जुटेंगे—अर्थात् परिस्थिति को ही सुधारने में प्रयत्नशील होंगे। कोई भी मनुष्य हीन भावों को लम्बे समय के लिए नहीं सह सकता, वह ऐसे आवेश (टेन्शन) से भर जायगा जबकि किसी-न-किसी प्रकार की हरकत आवश्यक हो जायगी। परन्तु मान लीजिए कि एक व्यक्ति निरुत्साहित हो चुका है और उसे यह विश्वास भी नहीं कि वास्तविक प्रयत्न करके वह स्थिति को सुधार सकता है। फिर भी वह अपने हीन भावों को सहने में असमर्थ होगा; उनसे पीछा छुड़ाने के लिए वह संघर्ष करेगा, परन्तु वह ऐसे साधनों का प्रयोग करेगा जो उसे उबार न सकेंगे। उसका ध्येय अभी "कठिनाइयों से अपने को श्रेष्ठतर" समझना है, परन्तु बाधाओं पर पार पाने के बजाय वह अपने को श्रेष्ठतर "समझने" मे मुग्ध-प्राय करने अथवा इस सम्बन्ध में अपने को बेहोश रखने का प्रयत्न है।

इसी बीच उसके हीन-भाव इकट्ठे होते जायंगे क्योंकि जो परिस्थितियां उनका कारण हैं वह यथापूर्व हैं। उत्तेजना तो पहले जैसी ही है। वह जो भी कदम उठायगा वह उसे और भी आत्म-प्रवञ्चना में धकेल देगा और उसकी सब समस्याएं नित नई आतुरता से उसे घेरने लगेंगी। यदि बिना जाने-बूझे हम उसकी हरकतों को देखें तो शायद उन्हें निरुद्देश्य ही समझें। वह ऐसी न दीखेगी जो स्थिति को सुधार सके। लेकिन जैसे ही हम यह समझ लेंगे कि दूसरों की तरह यह भी सुरक्षा और सम्पूर्णता के भावों के लिए संघर्ष कर रहा है परन्तु स्थिति में परिवर्तन लाने की आशा गंवा चुका है तो उसकी सब क्रियाएं हमारी समझ में आ जायंगी। यदि वह अपने को कमजोर अनुभव करता है तो वह ऐसी परिस्थितियों में चला जाता है जहां कि वह शक्तिशाली अनुभव कर सके। शक्तिशाली होकर अधिक उपयुक्त होने की शिक्षा वह नहीं लेता; अपनी ही आंखों में शक्तिशाली दीखने का वह अभ्यास करता है। अपने को इस तरह बेवकूफ बनाने के उसके प्रयत्न कुछ हद तक ही सफल होंगे। यदि वह व्यवसाय सम्बन्धी समस्याओं में अपनी तुच्छता अनुभव करता है, तो सम्भव है कि अपनी महत्ता के विषय में अपने को आश्वासन दिये रखने के लिए घर में अत्याचारी और कठोर बन कर रहे। इस तरह अपने को वह भुलावा दिये रख सकता है, परन्तु वास्तविक हीन-भाव उसके मन में ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। वह तो पहले की-सी परिस्थिति से पैदा पहले के-से हीन-भाव ही होंगे। वे उसके मानस पटल पर

अन्तरधारा की तरह बहते ही रहेंगे। ऐसे उदाहरण में हम वास्तव में हीन-भाव की बात कर सकते हैं।

अब हम हीन-भाव की परिभाषा कर सकते हैं। हीन-भाव एक ऐसी समस्या के प्रस्तुत होने पर उठते हैं जिसके लिए कोई व्यक्ति भली प्रकार उद्यत अथवा शिक्षित न हो और अपने इस विचार को प्रकट करे कि इस समस्या का हल वह नहीं कर सकता। इस परिभाषा से हम देख सकते हैं कि क्रोध हीन-भाव को उसी तरह व्यक्त कर सकता है जिस तरह आंसू और क्षमा-याचना। क्योंकि हीन-भाव सदा आवेश पैदा कर देते हैं उनकी प्रतिपूर्ति के रूप में मन सदा श्रेष्ठता की अनुभूति की ओर हरकत करता रहता है; परन्तु समस्या को सुलझाने की दृष्टि से यह कोई प्रयत्न नहीं होता। इसलिए श्रेष्ठता की अनुभूति की ओर प्रगति जीवन की निरर्थक दिशा की ओर प्रगति होती है। असली प्रश्न तो इस तरह प्रच्छन्न अथवा अछूता रह जाता है। वह व्यक्ति अपने कार्य क्षेत्र को सीमित करने की कोशिश करता है और सफलता की ओर बढ़ने की बजाय पराजय से बचने में अधिक जुटा रहता है। इस तरह कठिनाइयों कासामना होने पर वह एक झिझक का, एक जगह स्थिर रहने का या शायद डरकर भागने तक का चित्र बन जाता है।

इस प्रकार का दृष्टिकोण खुली जगह के भय (एगोराफोबिया) के रोग में सरलता से प्रत्यक्ष होता है। यह लक्षण इस आत्म-निश्चय की अभिव्यक्ति है—"मुझे बहुत आगे नही बढ़ जाना चाहिए। परिचित वातावरण में ही मुझे रहना है। जीवन खतरों

से भरा पड़ा है और उनसे सामना न हो—मेरा ऐसा यत्न होना चाहिए।" जहाँ यह दृष्टिकोण सतत रूप में जीवन में कार्यान्वित किया जा रहा हो, वहां ऐसा व्यक्ति अपने को एक ही कमरे में बन्द रखेगा, अथवा बिछौने में पड़ा रहेगा। कठिनाइयों का सामना करने से भागने का अत्युत्तम लक्षण आत्महत्या है। इसमें व्यक्ति जीवन की विभिन्न समस्याओं के आगे हार मान लेता है, अपने इस निश्चय को प्रकट करता है कि अपनी परि-स्थितियों में इससे बेहतर वह कुछ नहीं कर सकता था। आत्म-हत्या में श्रेष्ठता के भावों की ओर प्रयत्न हम यह जान लेने पर समझ सकते हैं कि आत्महत्या सदा एक शिकायत अथवा बदला हुआ करती है। आत्महत्या करने वाला व्यक्ति अपनी आत्म-हत्या का उत्तरदायित्व दूसरे के माथे मढ़ता है। प्रत्येक आत्महत्या में हमें कोई-न-कोई ऐसा व्यक्ति अवश्य मिलेगा जिससे कि आत्महत्या करने वाला यह शब्द कह रहा हो—"इस दुनिया के लोगों मे मैं सबसे कोमल और भावुक व्यक्ति था, लेकिन तुम मुझसे सदैव नृशंसता का व्यवहार करते रहे।"

कुछ-न-कुछ हद तक सभी स्नायु-रोगी अपना कार्य-क्षेत्र—समस्त परिस्थितियों से अपना सम्पर्क—सीमित कर लेते हैं। जीवन की तीन वास्तविक समस्याओं को वह अपने से दूर रखते हैं, और अपने को उन्हीं परिस्थितियों तक परिमित रखते हैं जिन मे कि वह अपने को सर्वोपरि अनुभव कर सकते हैं। इस तरह वह अपने लिए एक छोटा-सा निवास-गृह बना लेते हैं, दरवाजे बन्द कर लेते हैं, और आंधी, रोशनी और ताजा हवा से दूर

अपना जीवन बिताते हैं। दूसरों पर उन्हें रोब डालकर अथवा गिड़गिड़ा कर हावी होना है यह तो उनकी शिक्षा पर ही निर्भर होता है। वही ढङ्ग वह इस्तेमाल करते हैं जिसे परीक्षा में उन्होंने सर्वोत्तम और अपने उद्देश्य के लिए परमोपयोगी पाया है। कभी-कभी जब वह एक ढङ्ग से असन्तुष्ट हो जाते हैं तो दूसरा इस्तेमाल कर देखते हैं। दोनों में ध्येय तो एक ही है—परिस्थिति को सुधारने के यत्न किये बिना श्रेष्ठता के भावों की अनुभूति पा सकना। एक निरुत्साहित बच्चा जो यह जान जाय कि वह रो-चीख कर दूसरों पर छा सकता है--रोने चीखने वाला बनकर रह जायगा, और विकासके सीधे क्रमोपक्रम से रोने चीखने वाला बच्चा बड़ा होकर उदास प्रकृति वाला (मेलोन्कोलियॉक) बन जाता है। ऑसू और शिकायतें जिसे कि मैंने "जल-शक्ति" (वाटर-पावर) कहकर पुकारा है—सहयोग को नष्ट-भ्रष्ट करने और दूसरों को गुलाम बना सकने में बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हो सकती हैं। ऐसे लोगों में, जिस तरह कि झिझक, लज्जा और अपराध के भावों से पीड़ित लोगों में, हमें हीन-भाव प्रत्यक्ष ही दीख पड़ते हैं। यह लोग अपनी दुर्बलता और अपने हितों का ध्यान रखने की अपनी असमर्थता को तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं। जिस बात को वह नजरों से छिपाते हैं वह उनके श्रेष्ठता के बढ़े-चढ़े ध्येय और हर सम्भव तरीकेसे सर्वप्रथम होने की उनकी इच्छा है। दूसरी ओर जिस बच्चे को शेखी बघारने की आदत हो वह देखने को तो अपने श्रेष्ठता के भावों को ही प्रत्यक्ष करता है, किन्तु यदि हम शब्दों के स्थान पर उसके व्यवहार का

निरीक्षण करें तो हम उसके अप्रकाशित हीन-भाव से परिचय पा सकेंगे।

अतिशय मातृ-प्रेम और पितृ-द्वेष (ओडिपस-काम्प्लेक्स) वास्तव में स्नायु-रोगी के "परिमित निवास-गृह" के एक उदाहरण से अधिक कुछ नहीं है। विस्तृत संसार में यदि प्रेम की समस्या से निपटने में किसी व्यक्ति को भय है तो भी इस समस्या से पीछा छुड़ाने में वह सफल नहीं हो सकेगा। यदि अपने कार्य-क्षेत्र को वह परिवार तक ही सीमित रखे तो यह जानने में हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि उसकी वैषयिक (सेक्सुअल) हल-चलें भी इसी सीमा में प्रस्फुटित होंगी। अरक्षा के अपने भावों से वह अपनी दिलचस्पी का दायरा अपने कुछ घनिष्ठ लोगों से परे नहीं फैला सका। उसे डर है कि जिस तरह दूसरों पर हावी रहने का वह अभ्यस्त है, अपरिचितों से वह ऐसा नहीं कर सकेगा। अतिशय मातृप्रेम के शिकार वह बच्चे होते हैं जिन्हें कि माताओं ने बचपन में अधिक लाड-प्यार में बिगाड़ दिया हो, जिन्हें यह विश्वास करने की शिक्षा मिली हो कि उनकी इच्छाओं को पूरा होने का ही वरदान प्राप्त है, और जो कभी यह न जान सके हों कि अपने स्वतन्त्र प्रयत्नों से घर की चहार-दीवारी के बाहर भी वह प्रेम और सौहार्द के पात्र हो सकते हैं। वयस्क होने पर भी वह अपनी माताओं के दामन से बंधे रहते हैं। प्रेम के क्षेत्र में भी वह बराबर की सहयोगिनी की चाह नहीं करते, एक सेविका चाहते हैं—ऐसी सेविका जिसके आश्रय पर

निर्भर हो सकें जितना कि अपनी माता पर थे। शायद हम किसी भी वच्चे में अतिशय मातृ-प्रेम पैदा कर सकते हैं। हमें केवल इसी बात की जरूरत पड़ेगी कि उसकी माता उसे लाड़-प्यार से बिगाड़ दे, उसकी दिलचस्पी दूसरे लोगों तक न बढ़ने दे और साथ ही उसका पिता उससे स्नेह-शून्यता और उदासीनता का व्यवहार करे।

सीमित हलचल का यह चित्र स्नायु-विकृति (न्यूरोसिस) के हरेक लक्षण में मिलता है। तुतलाकर वोलने वाले की वोली में हमें यही 'झिझक' का दृष्टिकोण मिलेगा। जो थोड़ी भी सामाजिक भावना उसमे शेष है वह उसे अपने सहयोगियों से सम्बन्ध जोड़ने पर प्रेरित करती है परन्तु उसकी अपने विषय में क्षुद्र सम्मति, उसका यह भय कि वह कसौटी पर पूरा न उतर सकेगा, उसकी सामाजिक भावना से टक्कर खाती है और वह इस झिझक से अपनी वोली में तुतलाने लगता है। वह वच्चे जो कि स्कूल में "पिछलग्गुओं" में होते हैं, वह पुरुष और स्त्री, जो कि तीस वर्ष अथवा इससे अधिक आयु तक कोई व्यवसाय नहीं खोज सकते, या जिन्होंने विवाह की समस्या का सामना नहीं किया, विवश-स्नायु-रोगी, (कम्पलशन न्यूराटिक्स) जो कि विवश होकर एक-सी ही क्रिया दुहराया करते हैं, वह लोग, जिन्हें कि नींद नहीं आती और जो इस तरह दिन के कर्तव्य-पालनसे पहले ही थकावट से चकनाचूर हो जाते हैं—उसी हीन-भाव को प्रत्यक्ष करते हैं जो जीवन-समस्याओं के हल करने की उनकी प्रगति में वाधा वन जाता है। हस्त-मैथुन,समयेतर स्खलन

(प्रीमेच्युर इजैक्युलेशन), नपुंसकता (इम्पोटेन्स) और विकृत-रति (पर्वर्शन)—यह सब, दूसरे लिङ्ग (अदर सेक्स) के प्रति अपर्याप्तता के भय के परिणामस्वरूप जीवन की एक अवरुद्ध धारा का प्रदर्शन करते हैं। यदि हम यह प्रश्न करें कि "तुम अपर्याप्ततासे इतना क्यों डरते हो?" तो जो श्रेष्ठता का ध्येय बन चुका है वह प्रकट हो जायगा। इस प्रश्न के उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है—"क्योंकि उस व्यक्ति ने अपने लिए सफलता का ध्येय बहुत ऊँचा बना रखा है।"

हमने यह कहा है कि हीन-भाव स्वयं अपने में अस्वाभाविक नहीं होते। मनुष्य जाति की स्थिति में उन्नति के यही कारण बन जाते हैं। उदाहरण के लिए स्वयं विज्ञान तभी उन्नतिशील हो सकता है जब लोगों को अपने अज्ञान का परिचय हो और भविष्य को पहले से जान लेने की आवश्यकता पड़े: यह मानव के अपनी समस्त परिस्थिति को सुधारने के, ब्रह्माण्ड को अधिकाधिक जानने के और इस पर अधिक नियन्त्रण पा सकने के प्रयत्नों का फल है। मुझे तो यहां तक जान पडता है कि हमारी सारी मानव-संस्कृति हीन-भाव की नींव पर ही टिकी है। यदि हम अपने भूमण्डल पर किसी बाह्य-दर्शक के आने की कल्पना कर सकें तो निश्चय ही उसका निष्कर्ष ऐसा होगा—"इन मनुष्यों की सब संस्थाएं और सभाएं, सुरक्षा के प्रति इनके प्रयत्न, शरीर को गर्मी पहुंचाने के लिए इनके कपड़े, वर्षा से बचने के लिए इनकी छतें, सफर सरल करने के लिए इनकी सड़कें—निश्चय ही यह मानव अपने को सृष्टि का दुर्बलतम प्राणी समझता है।"

और कुछ बातों में मनुष्य सृष्टि के दुर्बलतम प्राणियों में से ही है। हममें शेर अथवा गोरीला-सी ताकत नहीं है, और बहुत से अन्य पशु जीवन की कठिनाइयों का अकेले मुकाबिला करने के लिए हमसे बेहतर सुसज्जित होते हैं। कुछ पशु अपनी दुर्बलता की कमी को सङ्ग-साथ से पूरा कर लेते हैं—वह बड़े-बड़े झुण्डों में रहने लग जाते हैं। परन्तु मनुष्यों को ऐसे बहुमुखी और अगाध सहयोग की आवश्यकता होती है कि जिसका दुनिया में और कोई दृष्टान्त नहीं मिल सकता।

मनुष्य बचपन में विशेषतया दुर्बल होता है। कई वर्षों तक इसे सतत देखभाल और रक्षाकी आवश्यकता होती है। क्योंकि हर मनुष्य कुछ समय के लिए मानव-मात्र में सबसे छोटा और सब से दुर्बल रह चुका होता है और क्योंकि बिना सहयोग के, मानव-मात्र पूर्णतया अपने वातावरण की दया पर आश्रित होगा, हम समझ सकते हैं कि एक बच्चे में जिसने सहयोग में अपने को शिक्षित नहीं किया, निराशा और स्थायी हीन-भाव के भाव भर जायंगे। हम यह भी समझ सकते हैं कि जीवन में समस्याएं तो अत्यधिक सहयोग करने वाले व्यक्ति के सामने भी उठती रहती हैं। कोई भी व्यक्ति अपने को श्रेष्ठता के अपने अन्तिम ध्येय तक पहुँचा हुआ नहीं पा सकता, न ही अपने वातावरण का निर्बाध स्वामी ही बन सकता है। जीवन तो बहुत थोड़े काल के लिए होता है; हमारे शरीर दुर्बल होते हैं; जीवन की तीनों समस्याओं में सदा बेहतर और पूर्णतर हल की गुंजायश रहेगी। हम सदा हल के समीप पहुँच सकते हैं; अपनी

इस सफलता पर सन्तोष करके चैन से नही बैठ सकते। हर दशा मे हमारे प्रयत्न तो जारी ही रहेंगे, परन्तु सहयोग करने वाले व्यक्ति के प्रयत्न आशामय और प्रदान-शील होंगे और हम सब को सांझी परिस्थिति के सुधार और उन्नति की ओर निर्दिष्ट होंगे।

मेरे विचार में यह सत्य कि अन्त में हम अपने जीवन के उच्चतम ध्येय तक नहीं पहुँच सकते किसीको चिन्तित नही करेगा। यदि हम किसी एक ऐसे व्यक्ति अथवा मानव-मात्र के विषय में यह कल्पना कर सके कि वह इस दशा तक पहुंच गए हैं कि जहां अब कोई कठिनाइयां नहीं रहीं, तो हमारे विचार मे ऐसे वातावरण में जीवन बड़ा आकर्षण-हीन रह जायगा। तब तो होने वाली हर घटना का पहले से ही ज्ञान हो जायगा। पहले से ही हर बात का हिसाब लग जाया करेगा। और आने वाले दिन कोई भी अप्रत्याशित अवसर लेकर नहीं आयंगे, भविष्य में कोई भी प्रतीक्षा योग्य बात नहीं रह जायगी। जीवन में हमारी दिलचस्पी अनिश्चितता से ही आती है। यदि हम सब हर बात में निश्चित हो जायं, यदि हमें सब कुछ मालूम हो जाय तो न तो वाद-विवाद होंगे और न नए अन्वेषण ही। विज्ञान-शास्त्र तो समाप्त हो ही चुका होगा, हमारे चारो ओर का ब्रह्माण्ड एक दुहराई हुई कहानी से अधिक नहीं रह जायगा। कला और धर्म, जो अप्राप्त ध्येयों की कल्पना हमारे सामने रखकर हमें प्रफुल्लित रखते हैं, अब अर्थहीन हो जायंगे। हम सौभाग्यशाली हैं कि हमारा जीवन सरलता से नही बीतता। मनुष्यों के प्रयत्न निरन्तर होते रहते हैं और हम सदा नई-नई समस्याएं ढूंढ

अथवा गढ़ लेते हैं और सहयोग या प्रदान के नए अवसर बना लेते हैं। स्नायु-रोगी तो आरम्भ में ही अपने को अवरुद्ध पाता है, उसके हल नीचे स्तर तक ही रह जाते हैं और तदनुसार उसकी कठिनाइयां महान् हो जाती हैं। साधारण व्यक्ति अपनी समस्याओं का हमेशा अच्छे-से-अच्छा हल ढूंढ लेता है; वह नित्य नई कठिनाइयों से मुठभेड़ करता है और नए हलों तक पहुँचता है। इस प्रकार वह दूसरों को 'प्रदान' कर पाता है। वह न तो पीछे रह जाता है न अपने साथी मानव का बोझ बनता है; विशेष अनुकम्पा की न उसे आवश्यकता होती है न वह इसकी मांग करता है; परन्तु अपनी सामाजिक भावनाओं के अनुसार अपनी कठिनाइयों को सुलझाने के लिए वह साहस और स्वतन्त्रता के साथ आगे बढ़ता चला जाता है।

प्रत्येक व्यक्तिके लिए श्रेष्ठता का ध्येय वैयक्तिक और अनुपम होता है। यह ध्येय जीवन को जो अर्थ उसने दिया है उस पर निर्भर होता है, और यह अर्थ शब्दों का विषय नहीं होता यह उसकी जीवन-प्रणाली में पिरोया रहता है और एक खुद गाए हुए गीत की तरह उसकी गूंज जीवन को घेरे रहती है। अपनी जीवन-प्रणाली में अपने ध्येय को वह इस स्पष्टता से प्रकाशित नहीं करता कि हम उससे सहसा परिचय प्राप्त कर लें। वह उसे धुंधले रूप में व्यक्त करता है और उससे पाये हुए इङ्गित-मात्र से ही हम उस अर्थ का अनुमान कर सकते हैं। किसी की जीवन-प्रणाली को समझना किसी कवि की कृति को समझने के समान

है। कवि को तो शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है, परन्तु उस का अभिप्राय तो उन शब्दों से कहीं अधिक है जिनका वह प्रयोग करता है। उसके अभिप्राय का अधिकांश तो अनुमानगम्य ही होता है, पंक्तियों के वीच उसकी खोज करनी पड़ती है। यही वैयक्तिक जीवन-प्रणाली की दशा है जो अगाध और वहुत उलझी हुई सृष्टि हुआ करती है। मनोवैज्ञानिक को पक्तियों के बीच में पढ़ना होगा; यह आवश्यक होगा कि जीवन-अभिप्राय परखने की कला वह सीखे।

इससे भिन्न वात सम्भव भी नहीं है। जीवन के अर्थ जीवन के पहले चार या पांच वर्षों में लगाए जाते हे और यह अर्थ किसी हिसाव से नहीं लगाए जाते। इनके लिए अंधेरे में टटोलना, ऐसे भाव अपना लेना जिन्हें पूरी तरह समझा नहीं जा सकता, इशारों को समझना और परिभाषाओं से उलझना पड़ता है। इसी तरह श्रेष्ठता का ध्येय टटोलने और अनुमान से ही स्थिर किया जाता है। यह जीवन के प्रयत्नों का ध्येय एक गतिमान प्रवृत्ति वन जाता है, किसी पूर्व-ज्ञात स्थिर-विन्दु की तरह नहीं रह जाता। कोई भी व्यक्ति श्रेष्ठता के अपने ध्येय से इस तरह परिचित नहीं होता कि वह उसका पूरी तरह वर्णन कर सके। शायद उसे अपने व्यावसायिक उद्देश्यों का परिचय हो परन्तु यह तो उसके जीवन-लक्ष्य का अंग-मात्र ही होंगे। जहां उद्देश्य सूत्र और स्पष्ट हो भी चुका हो, वहा भी उस उद्देश्य की ओर प्रयत्न और प्रगति के हजारों ढङ्ग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए एक आदमी डाक्टर वनना चाहेगा, परन्तु डाक्टर वनने

के भी कितने अर्थ हो सकते हैं। यही नहीं कि शायद वह आन्तरिक रोगों की औषधि का विशेषज्ञ या निदान-शास्त्र में पारङ्गत होना चाहे, परन्तु अपने कार्य-कलाप और व्यवहार में वह अपने में और दूसरों में अपनी दिलचस्पी की जो मात्रा है उसे स्पष्ट करेगा। हमें मालूम पड़ेगा कि किस हद तक दूसरों का सहायक होने में अपने को उसने शिक्षित किया है और किस सीमा में अपनी सहायता को वह सीमित रखता है। किसी विशिष्ट हीन-भाव की परिपूर्ति-स्वरूप उसने यह अपना उद्देश्य बना लिया है; और उसके व्यवसाय अथवा दूसरे स्थानों पर उसकी अभिव्यक्तियों से हम उस विशिष्ट भाव का अनुमान लगा सकते हैं जिसकी परिपूर्ति वह करना चाहता है। उदाहरणके लिए हम प्रायः देखते हैं कि अपने बचपन में डाक्टरोंको मृत्यु की वास्तविकता से परिचय हो चुका होता है और मानव-जीवन के अनिश्चित पहलुओं में मृत्यु ने ही उन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है। शायद किसी भाई की या माता पिता में से किसी की मृत्यु हो गई हो, और तदुपरान्त उनकी शिक्षा का विकास अपने वा दूसरों को मृत्यु के सामने अधिक सुरक्षित करनेकी राह को ढूंढने में हुआ हो। दूसरा मनुष्य शायद अपने उद्देश्य को अध्यापक बनने मे प्रत्यक्ष करे; परन्तु यह बात हम जानते ही हैं कि अध्यापक किस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। यदि एक अध्यापक में सामाजिक भावना की कमी हो तो अध्यापक बनने में उसके श्रेष्ठता के भावों का ध्येय अपने से छोटों पर प्रभुत्व करने का होगा, शायद अपने से दुर्बल और कम अनु-

व वालों में रह कर ही वह अपने को सुरक्षित अनुभव कर के। एक ऐसा अध्यापक, जिसकी सामाजिक भावना पर्याप्त मात्रा में विकसित हो चुकी है, अपने विद्यार्थियों से बराबरी का व्यवहार करेगा। मानव की अवस्था को सुधारने की उसकी हार्दिक इच्छा होगी। यहां हमें यह लिख देना ही पर्याप्त होगा कि अध्यापकों की सामर्थ्य और दिलचस्पी किस तरह अलग-अलग प्रकार की होती है और यह अभिव्यक्तियां उनके ध्येयों के लिए किस तरह महत्वपूर्ण पाई जायंगी। जब एक ध्येय को स्थिर किया जाता है तो उस व्यक्ति के सामर्थ्यों को उस ध्येय के उपयुक्त बनाने के लिए काटना-छांटना और सीमित करना पड़ता है; परन्तु वह सम्पूर्ण उद्देश्य, वह मूल-प्रतिमा, सदा ही इन सीमाओं में उलझेगी और किसी-न-किसी तरह जीवन को दिये गए अर्थ और श्रेष्ठता के अन्तिम ध्येय के प्रति प्रयत्नों को प्रकाशित करने की राह ढूंढ ही लेगी।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की खोज करते हुए हमें सतह से नीचे देखना चाहिए। कोई भी व्यक्ति जिस तरीके से वह अपने ध्येय को स्थिर करता है उसे उसी तरह बदल सकता है जिस तरह अपने ध्येय की एक अभिव्यक्ति—व्यवसाय—को बदल सकता है। इस लिए भी हम प्रच्छन्न सामञ्जस्यता—व्यक्तित्व के एकत्व—की तलाश कर सकते हैं। यह एकत्व तो सब अभिव्यक्तियों में स्थायी है। यदि हम एक साधारण त्रिकोण को लें और उसे भिन्न-भिन्न स्थानों से देखें तो प्रत्येक दशा में हमें नया त्रिकोण ही ज्ञात

पड़ेगा; परन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो मालूम पड़ेगा कि प्रत्येक दशा में त्रिकोण वही है। इसी तरह ध्येय को प्रत्यक्ष करने की बात है। किसी एक अभिव्यक्तिमें ही ध्येय को पूर्णरूप से प्रत्यक्ष हुआ नही कह सकते परन्तु इसे हम सभी अभिव्यक्तियों में पहचान सकते हैं। हम किसी व्यक्ति से यह नहीं कह सकते—"श्रेष्ठता की ओर तुम्हारे प्रयत्न ऐसा या वैसा करने से सफल होसकेंगे—" श्रेष्ठता के लिए प्रयत्न घटाए-बढ़ाए जा सकते हैं; और जो व्यक्ति स्वास्थ्य और साधारण दशा के जितना समीप होगा वह किसी एक दिशा के अवरुद्ध होने पर अपने प्रयत्नों के लिए कितनी ही नई दिशाएं ढूंढ सकता है। केवल एक स्नायु-रोगी (न्यूरॉटिक) ही अपने ध्येय की स्थूल अभिव्यक्ति के विषय में इस तरह सोचता है—"मैं तो इसी दिशामें जाऊँगा, किसी भी दूसरी दिशा की ओर नहीं।"

किसी विशेष श्रेष्ठता के भाव और प्रयत्नों को परिलेखन कर लेने का औत्सुक्य हमें न होना चाहिए, परन्तु सभी ध्येयों में एक बात हम एक समान पायेंगे—परमात्मा की तरह बनने का प्रयत्न। कई बार हम बच्चों को स्पष्टतया यह कहते भी सुनते हैं -"मेरी परमात्मा बनने की इच्छा है।" कई दार्शनिक भी इस तरह सोचते रहे हैं, और कई ऐसे शिक्षक मिलेंगे जो बच्चों को ईश्वर की तरह बनाने के लिए शिक्षित और अभ्यस्त करते हैं। पुरातन धार्मिक अनुशासनों में यही बात दीख पड़ती है, भक्त अपने को इस प्रकार बनाते थे कि वह ईश्वर-तुल्य हो जायं

र-तुल्य होने का यही विचार कुछ नम्रता से "महा-मानव" के
गर में निहित है। और अधिक न कह कर मैं इतना जरूर
गा कि जब नीत्से (एक मशहूर जर्मन दार्शनिक) पागल हो
ा था तो स्ट्रिन्डबर्ग को लिखे एक पत्र में उसने अपने हस्ता-
: "शहीद" (क्रूसीफाईड) लिख कर किये। प्रायः पागल व्यक्ति
ता के अपने ध्येय स्पष्टरूप से व्यक्त करते हैं। वह कहा
ते हैं—'मैं नेपोलियन हूँ'—अथवा—"मैं चीन का सम्राट
" सारे संसार के ध्यान का केन्द्र होने की, सभी ओर से देखे,
हे जाने की, सारे संसार की बातचीत सुनने की और उससे
ार के तार से सम्बन्धित होने की, भविष्य को पहले से ही
न लेने की, अलौकिक शक्तियाँ धारण करने की उनकी
ा रखती है। शायद अधिक बुद्धि-संगत तरीके से ईश्वर-
य होने का उद्देश्य सब कुछ जानने की, संसार
र की बुद्धि हस्तगत करने की अथवा जीवन को अमर
ने की इच्छा में भी प्रकट होता है। चाहे इस सांसारिक
ीवन को हम अमर करना चाहें अथवा जन्म-जन्मान्तर तक
र्जन्म लेकर हम इस जगत में आना चाहें, अथवा किसी दूसरे

व्याख्या हैं। यह एक अर्थ हैं, और कुछ हद तक हम सभी इस अर्थ के बन्धन में हैं—ईश्वर और ईश्वर से तद्रूपता। यहां तक कि नास्तिक भी ईश्वर को जीतने की, ईश्वर से ऊपर होने की इच्छा करता है, और हम देखते हैं कि श्रेष्ठता का यह उद्देश्य विशेषतया दृढ़ हुआ करता है।

श्रेष्ठता के उद्देश्य के एक वार स्थिर हो जाने के बाद फिर जीवन-प्रणाली में कोई भूल नहीं की जाती। उस व्यक्ति की आदतें और व्यक्त लक्षण उस स्थूल उद्देश्य तक पहुँचने के लिए बिलकुल उपयुक्त होते हैं; उनकी आलोचना नहीं की जाती। प्रत्येक समस्यात्मक बच्चा, प्रत्येक स्नायु रोगी, प्रत्येक शराबी, अपराधी अथवा विकृत-रति का अभ्यस्त (सेक्स्वल पर्वर्ट), जिसे उसने श्रेष्ठता की दशा मान लिया हुआ है, उसे प्राप्त करने के लिए उपयुक्त गति और हलचल कर रहा होता है। केवल उसके इन लक्षणों पर ही हमला करना असम्भव है। यह तो वही लक्षण हैं जो निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए होने आवश्यक हैं। एक स्कूल में एक लड़के से जो अपनी श्रेणी में सबसे सुस्त और आलसी था उसके अध्यापक ने पूछा—"क्या बात है कि तुम अपना काम भली-भांति नहीं कर पाते हो?" उसने उत्तर दिया—"यदि मैं यहां सबसे आलसी लड़का रहूं तो आप सदा मुझ ही से उलझे रहेंगे। आप कभी भी उन लड़कों पर ध्यान नहीं देते जो भले हैं, जो शोर-दङ्गा नहीं करते और अपना काम ठीक कर लाते हैं।" जब तक उस लड़के का यही उद्देश्य था कि अपने अध्यापक का ध्यान आकर्षित करे और

पर प्रभुत्व करे, उसने ऐसा करने का सर्वोत्तम मार्ग खोज या हुआ था। उससे उसका आलस्य छुड़वाने का यत्न निरर्थक। इस आलस्य की तो उसे अपने उद्देश्यके लिए जरूरत है। वह लकुल ठीक कर रहा है, और यदि वह अपने व्यवहार को लने की कोशिश करे तो वह बेवकूफ होगा। एक दूसरा लड़का मे बड़ा आज्ञाकारी था लेकिन वह मन्द-बुद्धि दीख पड़ता था; ल की पढ़ाई मे भी वह पीछे रहता था और घर पर भी हाजिर-जवाब नहीं था। उससे दो वर्ष बड़ा उसका एक भाई था, और ह भाई अपनी जीवन-प्रणाली में इससे बिलकुल भिन्न था। यह तीक्ष्ण-बुद्धि और चुस्त था लेकिन अपनी शरारतोंकी वजह से सदा ठिनाईमें पड़ जाया करता था। एक दिन छोटा भाई बड़े भाई से कहता सुना गया—"तुम्हारे जैसा शरारती होने से तो यही अच्छा है कि मैं ऐसा ही मन्द-बुद्धि रहूं।" यदि हम उसके ठिनाइयों से बचे रहने के उद्देश्य को ठीक ठहराएं तो उसकी न्दबुद्धि वास्तव मे अक्लमन्दी थी। क्योंकि वह मन्द-बुद्धि था सलिए उससे दूसरों को उम्मीद भी बहुत कम थी और यदि वह लतियां करता था तो इसका दोष उस पर मढ़ा नहीं जाता। यदि इसका उद्देश्य ठीक समझा जाय तो उसका मन्द-बुद्धि न ोकर बेवकूफी कहलाए।

... उपचार-प्रथा तो यही रही है कि लक्षणों पर हमला र दिया। इसलिए मनोविज्ञान इस दृष्टिकोण का नितान्त ... है—औषधी के प्रसङ्ग मे भी और शिक्षा के प्रसङ्ग में

भी। जब एक लड़का गणित में कमजोर होता है अथवा स्कूल से उसकी शिकायतें आती हैं, तो यह अर्थहीन होगा कि हम केवल इन्हीं बातों पर अपना ध्यान केन्द्रित करें और इन्हीं विशे अभिव्यक्तियों में उसका सुधार करने का प्रयत्न करें। शायद वह अध्यापक को ही तङ्ग करना चाहता हो? शायद इस तरह की हरकतें करके अपना नाम कटवा कर स्कूल से ही छुट्टी पाना चाहता हो। यदि हम एक बात में उसे सुधार देंगे तो अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए वह नया रास्ता ढूंढ लेगा। ठीक ऐसा ही वयस्क स्नायु-रोगी होता है। उदाहरण के लिए हम मान लें कि वह सतत सिर-दर्द से पीड़ित रहता है। उसका सिर-दर्द उसे बहुत लाभदायक हो सकता है, और हो सकता है कि वह जरूरत के समय पर ही यह हुआ करे। अपने सिर-दर्द के बहाने समाज की उलझनों को सुलझाने से वह बच सकता है। हो सकता है सिर-दर्द तभी शुरु हो जब उसे अपरिचितों से भेंट करनी हो अथवा कोई नया निश्चय करना हो। इसके साथ दफ्तर के कर्मचारियों अथवा अपने परिवार और स्त्री के प्रति अ होने का बहाना बनकर यह सहायक सिद्ध हो सकती है। हम क्यों समझें कि इस प्रकार परीक्षित साधनको वह त्याग देगा। उ के आधुनिक दृष्टिकोण से तो जो दर्द वह अपने को देता है अच्छे काम में लगाई हुई पूंजी ही है। इस पूंजी से जिन-जि लाभों की वह आशा कर सकता है वह सभी उसको प्राप्त हो है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके सिर-दर्द की ऐसी परिभा

कर हम उससे इस लक्षण को वैसे ही दूर करवा सकते हैं
से युद्ध के स्नायु-रोगियों को उनके लक्षणों से बिजली के धक्के
अथवा चीर-फाड़ का डर दिखाकर हटाया जाता था। कदाचित
इस लक्षण को औषधि-उपचार भी ठीक कर सके, और इस चुने
हुए लक्षण को बनाए रखनेमें उसके लिए कठिनाइयां पैदा करदे।
परन्तु जब तक उसका उद्देश्य यथा-पूर्व रहेगा तब तक एक लक्षण
के हट जाने पर वह दूसरा खोज लेगा। सिर-दर्द के "ठीक" हो
जाने पर नींद न आने का रोग अथवा कोई नया लक्षण लगा
लेगा। जब तक उसका उद्देश्य वही रहेगा, उसे उसकी प्राप्ति
के यत्न करने ही हैं। ऐसे स्नायु-रोगी मिलते हैं जो आश्चर्य-प्रद
शीघ्रता से पुराने लक्षण त्याग देते हैं और बिना किसी
हिचकिचाहट के नए लक्षण उत्पन्न कर लेते हैं। वह स्नायु-रोग के
लक्षणों को अपनाने में निपुण बन जाते हैं और अपने ज्ञान-
भण्डार का नित्य नया विस्तार करते चले जाते हैं। मनोवैज्ञानिक-
चिकित्सा की किसी पुस्तक का पाठ उन्हें नई-नई स्नायविक
कठिनाइयां बतला देगा जिनकी परीक्षा का अवसर उन्हें अब तक
नहीं मिला। हमें तो उस ध्येय का जिसके लिए कि वह लक्षण
अपनाया गया है, और श्रेष्ठता के साधारण उद्देश्य से उस ध्येय
का जो सम्बन्ध है उसीकी ओर ध्यान रखना चाहिए।

मान लीजिए कि अपनी क्लास के कमरे में मैं एक सीढ़ी
लगाता हूँ, उस पर चढ़ता हूँ और ब्लैक बोर्ड के ऊपर जाकर
बैठ जाता हूँ। मुझे जो भी देखेगा यही सोचेगा—"डाक्टर एड-
लर पागल हो गए हैं।" उन्हें यह नहीं पता

सीढ़ी क्यों मंगवाई, ऊपर क्यों चढ़ा और उस अजीब दशा में क्यों बैठा हूँ। परन्तु यदि उन्हें यह पता हो कि—"वह ब्लैकबोर्ड पर इसलिए बैठना चाहता है कि जब तक वह दूसरे लोगों से स्पष्टरूप में ऊंचा और बड़ा न अनुभव करे तो वह अपने को हीन अनुभव करता है, वह तभी अपने को सुरक्षित समझेगा जब कि वह ऊपर से अपनी क्लास को नीचा देख सके—" तो मुझे इतना पागल नहीं समझेंगे। अपने स्थूल उद्देश्य को प्राप्त करने का मैंने बढ़िया तरीका इस्तेमाल किया होगा। इस हालत में सीढ़ी भी बुद्धि-संगत जंचने लगेगी और उस पर चढ़ने के मेरे प्रयत्न भी योजनानुसार और सुघटित जंचने लगेंगे। केवल एक बात में ही मैं पागल कहलाऊंगा और यह श्रेष्ठता की मेरी परिभाषा होगी। यदि मुझे एक बात का विश्वास हो जाय कि मैंने अपने उद्देश्य को ठीक नहीं चुना है तभी मैं अपने तरीके को बदल सकूंगा। परन्तु यदि मेरा उद्देश्य यथापूर्व स्थिर रहे और मेरी सीढ़ी हटा ली जाय तो मैं देखूंगा कि किस हद तक उछल कूद करके मैं सफल हो सकता हूँ। ठीक ऐसे ही प्रत्येक स्नायु-रोगी के साथ बीतती है; साधनों के चुनाव मे वह किसी बात को भी बुरा नहीं समझता। वह आलोचना से दूर होता है। हम तो केवल उसके स्थूल उद्देश्य का सुधार कर सकते हैं। उद्देश्य को बदलने से मानसिक अभ्यास और दृष्टिकोण भी बदल जायंगे। अब उसे पुरानी आदतों और पुराने रवैये की आवश्यकता नहीं रहेगी,

और नई आदतें और नया रवैया जो उसके नए उद्देश्य से मेल खायेंगे, उनकी जगह ले लेगा।

यहाँ तीस वर्ष की आयु की उस स्त्री का उदाहरण लीजिए जो चिन्ता-ग्रस्त रहती थी। वह सहेलियां और मित्र बनाने की असमर्थता के रोग के उपचार के लिए मेरे पास आई। व्यवसाय की समस्या को सुलझाने में भी वह कुछ न कर पाई थी और परिणामस्वरूप अब तक अपने परिवार का बोझ बनी हुई थी। अब तक स्टेनोग्राफर अथवा सेक्रेटरी की छोटी-मोटी नौकरी वह करती भी थी परन्तु एक दुर्भाग्यमय नियति के फलस्वरूप उसके मालिक सदा ही उससे प्रेम जतलाने लगते थे और वह इतनी भयभीत हो जाती थी कि उसे दफ्तर छोड़ना पड़ता था। लेकिन उसे एक बार ऐसी जगह मिल गई जहाँ उसका मालिक उसमें अधिक दिलचस्पी नहीं लेता था। इस पर उसने अपनेको इतना तिरस्कृत अनुभव किया कि वह नौकरी ही छोड़ दी। कई वर्षों से—मैं समझता हूं कि आठ वर्षों से—उसका मनोवैज्ञानिक उपचार हो रहा था परन्तु उसका उपचार उसे सामाजिक शिक्षा देने में अथवा ऐसी स्थिति मे ले आने में सफल नहीं हो सका था जहाँ कि वह अपना जीविकोपार्जन कर सकती।

जब मैंने उसे देखा तो उसकी जीवन प्रणाली का मूल उसके बचपन के आरम्भ के वर्षों में पाया। जो बचपन को समझने का प्रयत्न नहीं करता वह वयस्क को नहीं समझ सकता। वह अपने परिवार में सबसे छोटी, बड़ी सुन्दर और लाड प्यार के आविश्य

के कारण बहुत बिगड़ चुकी थी। उस समय उसके माता-पिता धनी-मानी, सब तरह सम्पन्न थे और जैसे ही वह कोई इच्छा प्रकट करती तुरन्त ही उसे पूरा किया जाता था। जब मैंने यह सब सुना तो कहा, "क्यों—तम्हें तो एक रानी की तरह पाला गया है।" उसने उत्तर दिया—"यह तो सच अचम्भे की बात है, क्योंकि मुझे सभी रानी कहकर ही पुकारा करते थे।" मैंने उसके सबसे पहले संस्मरण के विषय में पूछा। उसने बताया "जब मैं चार वर्ष की थी मुझे याद है कि एक बार मैं घर के बाहर गई और कुछ बच्चों को एक खेल खेलते हुए देखा। ठहर-ठहर कर वह उछल पड़ते थे और चिल्लाते थे 'चुड़ैल आ रही है।' मैं बड़ी डर गई और जब घर पहुंची तब एक बूढ़ी स्त्री से, जो हमारे घर ही ठहरी हुई थी, मैंने पूछा कि क्या सच ही चुड़ैलें हुआ करती हैं। उसने जवाब दिया—'हाँ—चुड़ैलें भी होती है, चोर भी, और डाकू भी, और तुम्हें उठा ले जाने के लिए वह आयंगे।" इससे हम देख सकते हैं कि घर में अकेले रह जाने से वह डरने लगी और अपने इस डर कोउसने अपनी सारी जीवन-प्रणाली मे व्यक्त किया। घर को छोड़ने में वह अपने को दृढ़ और समर्थ नहीं पाती थी,और परिवार के सदस्योंको उसे हर प्रकारसे आश्रय देना, अथवा उसका ध्यान करना पड़ता था। एक दूसरा संस्मरण जो उसे याद था इस तरह था—"मुझे एक पुरुष पियानो सिखाने पर नियुक्त था, और एक दिन उसने मुझे चूमने की कोशिश की। मैंने पियानो बजाना छोड़ा, मां के पास गई और उससे कह

दिया। उसके बाद पियानो सीखने की मेरी कभी इच्छा नहीं हुई।" यहाँ भी हमें जान पड़ेगा कि अपने और पुरुषों के बीच में काफी फासला रखने का अभ्यास उसने किया है, और उसका यौन-विकास (सेक्सुअल डिवलपमेंट) अपने को प्रेम से बचाए रखने के उद्देश्य के मुताबिक ही था। वह समझती थी कि प्रेम दुर्बलता की निशानी है। यहाँ मैं यह कह दूं कि कई लोग प्रेम में होने पर दुर्बल अनुभव किया करते हैं; और कुछ हद तक वह ठीक होते हैं। यदि हम में प्रेम उमड़ आया है तो हम कोमल हो जायंगे। एक दूसरे व्यक्ति में हमारी दिलचस्पी हमें अशान्ति का शिकार बना सकती है। केवल वही व्यक्ति प्रेम की पारस्परिक निर्भरता से बचे रहने का यत्न करेगा जिसका श्रेष्ठता संबंधी ध्येय यह कहता है—"मुझे कभी दुर्बल नहीं होना है, मुझे कभी भी अरक्षित नहीं रहना है।" ऐसे लोग अपने को प्रेम से दूर ले जाने का अभ्यास करते हैं और उसके लिए सम्यगतया उद्यत नहीं होते। आप प्रायः यह देखेंगे कि जब कभी वह अपने को प्रेम में पड़ने के खतरे में समझते हैं तो वह उस स्थिति को खयाल में उड़ा देते हैं। जिस व्यक्ति से वह समझते हैं कि उन्हें खतरा है उसको वह खिल्ली उड़ाते हैं और उसे चिढ़ाते हैं। इस तरह अपने दुर्बलता के भावों से वह बच निकलने की कोशिश करते हैं।

स्वरूप जब नौकरी के दिनों में मनुष्यों ने उससे प्रेम जतलाया तो वह आवश्यकता से अधिक प्रभावित हुई। नौकरी छोड़कर भाग जाने के अतिरिक्त उसे दूसरा मार्ग ही नहीं सूझा। अभी ये समस्याएं उसे उलझाए हुए ही थीं कि उसके माता और पिता दोनों का देहान्त हो गया और उसकी जी-हजूरी के दिन प्रायः समाप्त ही हो गए। उसने दौड़-धूप करके फिर ऐसे सम्बन्धी जमा कर लिये जो उसका ध्यान करने लग गए, परन्तु अब उसकी दशा इतनी सन्तोषप्रद नहीं थी। कुछ समय के बाद उसके सम्बन्धी ऊब जाते थे, और जितना वह समझती थी कि उसे ध्यान की जरूरत है उतना ही उसका ख्याल रखना बन्द कर देते थे। इस पर वह उन्हें भला-बुरा कहती थी और उन्हें बताती थी कि उसे इस तरह अकेला छोड़ देना कितना खतरनाक है। इस तरह स्वावलम्बी होने की दुर्घटना से वह अपने को बचाती रही। मुझे निश्चय है कि यदि उसके परिवार वालों ने उसका ध्यान रखना बिलकुल छोड़ दिया होता तो वह पागल हो जाती। श्रेष्ठता के अपने उद्देश्य को प्राप्त करने का उसके पास एक ही ढंग था और वह यह कि वह अपने परिवार को अपना पालन-पोषण करने पर मजबूर करे और इस तरह जीवन के सारे प्रश्नों को दूर रखने में सामर्थ्यवान हो। उसके मन में यही चित्र रहता था—"मैं इस भूमण्डल से सम्बन्धित नहीं हूँ, परन्तु एक दूसरे भूमण्डल से सम्बन्धित हूं जहां कि मैं एक रानी हूं। यह क्षुद्र दुनिया मुझे तिल भर भी

नहीं समझती और न मेरी महत्ता को स्वीकार करती है ।" इन विचारों की दिशा में वह एक पग और उठाती तो पागल हो जाती; परन्तु जब तक उसके पास छोटे-मोटे दूसरे साधन थे और वह अभी भी सम्बन्धियों को और परिवार के मित्रों को अपना ध्यान रखने के लिए जुटा सकती थी, उसने अन्तिम पग उठाने की जरूरत महसूस नही की।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए जहां कि हीनता और श्रेष्ठता दोनों प्रकार के भावों को स्पष्टतया पहचाना जा सकता है। मेरे पास एक सोलह वर्ष की एक ऐसी लड़की भेजी गई जो ६ या ७ वर्ष की आयु से चोरी करना सीख गई थी और १२ वर्ष की आयु से जब-तब रात-रात भर लड़कों के साथ घर से बाहर रहा करती थी। जब वह दो वर्ष की थी तो उसके माता-पिता में एक लम्बे और कटु संघर्ष के बाद तलाक हो गया था। उसकी मां नानी के पास रहने के लिए उसे ले गई और जैसा कि प्रायः हो जाता है, उसकी नानी ने लाड़-प्यार से उसे बिगाड़ना शुरू किया। उसका जन्म तब हुआ था जब उसके माता-पिता में संघर्ष का जोर था। इसलिए उसका जन्म माता को प्रिय नहीं था। उसे कभी अपनी बेटी अच्छी नहीं लगी थी और उन दोनों में एक खिचाव रहता था। जब लड़की मेरे पास आई तो मैंने दोस्ताना ढंग से बातचीत की। मुझे उसने बताया— "मुझे चोरी करना अथवा लड़को के साथ घूमना अच्छा नहीं लगता, परन्तु मुझे तो मां को दिखाना होता है कि वह मुझे काबू

में नहीं रख सकती।" मैंने उससे पूछा—"तो क्या बदले की भावना से ऐसा करती हो ?" उसका उत्तर था—"शायद ऐसा ही।" उसकी इच्छा थी कि वह अपने को माता से अधिक बलवती सिद्ध कर सके, परन्तु यह उद्देश्य केवल उसके दुर्बल अनुभव करने के ही कारण था। उसका विचार था कि उसकी माता उसे पसन्द नहीं करती थी और वह हीन भावों से पीड़ित थी। श्रेष्ठता को दरशाने का वह एक ही तरीका सोच सकी और वह उलझनें पैदा करना था। जब बच्चे चोरियां करते हैं अथवा किसी दूसरी तरह की बुराइयों में पड़ते हैं, तो प्रायः यह बदले की भावना से होता है।

एक पन्द्रह वर्ष की लड़की आठ दिन लापता रही। पकड़े जाने पर बच्चों के लिए एक विशेष अदालत में उसे ले जाया गया और वहां उसने ऐसी कहानी सुनाई कि 'एक आदमी उसका अपहरण करके ले गया, वहां एक बन्द कमरे में आठ दिन तक एक खम्भे से बांधकर उसे रखा गया।' इस कहानी पर किसी ने विश्वास नहीं किया। डाक्टर ने उससे बड़ी घनिष्ठता से बातचीत की और सचाई कह देने के लिए प्रेरणा की। अपनी कहानी पर अविश्वास करने के लिए वह उस पर इतना क्रुद्ध हो गई कि उसने डाक्टर के मुंह पर तमाचा दे मारा। जब मै उससे मिला तो मैंने उससे पूछा कि वह क्या बनना चाहती है। मैंने उसे यह विश्वास दिलाया कि मेरी दिलचस्पी केवल उसके

भविष्य में और उसे ठीक-ठीक सहायता दे सकने में है। जब मैंने उसके किसी स्वप्न के विषय में पूछा तो वह हंसी और यह स्वप्न बताया—"मैं एक शराब की दूकान में थी। जब मैं बाहर निकली तो मां मिली। कुछ ही देर में पिता भी आ गए और मैंने माता से कहा मुझे कहीं छिपा ले ताकि वह मुझे न देख सकें।" वह अपने पिता से भयभीत थी और उन्हींसे लड़ रही थी। वह उन्हें सजा दिया करते थे और क्योंकि वह दण्ड से डरती थी, इसलिए उसे झूठ बोलना पड़ता था। जहां भी झूठ बोलने का मामला दीखे, हमें उसका कारण कठोर माता अथवा पिता में तलाश करना पड़ेगा। झूठ तब तक बिलकुल ही निरर्थक होगा जब तक कि सच बोलना खतरनाक न समझा जाय। दूसरी ओर हम देखते हैं कि इस लड़की का कुछ हद तक अपनी माता से सहयोग था। अब मुझे इसने बताया कि कोई आदमी इसे शराब की दूकान में प्रलोभित करके ले गया था और वहां ही इसने आठ दिन बिताए। यह स्वीकार कर लेने में उसे अपने पिता से डर था; परन्तु साथ-ही-साथ उसका व्यवहार अपने पिता पर आक्रमणात्मक भाव से ही प्रेरित हुआ था। उसका विचार था कि उसके पिता ने उसे गुलाम बनाया हुआ है और उन्हें आघात पहुंचा कर ही वह अपने को विजयी अनुभव कर सकती है।

इस प्रकार के लोगों को, जिन्होंने श्रेष्ठता की ओर गलत कदम उठाया है, किस तरह सहायता दी जा सकती है? यह इतना कठिन नहीं है यदि हम यह समझ जायं कि श्रेष्ठता की ओर

प्रयत्न सभी मनुष्यों में होते हैं। यह समझ चुकने पर हम खुद को उनकी स्थिति में रखें और उनके संघर्ष से सहानुभूति करें। वह जो एक भूल करते हैं वह यह है कि उनके प्रयत्न जीवन की निरर्थक दिशा की ओर निर्दिष्ट होते हैं। श्रेष्ठता की ओर प्रगति ही सब मानव-सृजन के पीछे होती है और यही हमारी संस्कृति के संवर्धन का स्रोत भी होती है। क्रियाशीलता की इसी दिशा की ओर समस्त मानवीय जीवन आगे बढ़ता है—नीचे से ऊपर की ओर, ऋण से धन की ओर, पराजय से विजय की ओर। लेकिन जो व्यक्ति जीवन की समस्याओं का वास्तव में सामना कर सकते हैं और उन पर विजय पा सकते हैं वह वही होते हैं जो अपने प्रयत्नों में सभी को लाभ पहुँचाने की प्रवृत्ति दिखाते हैं, जो इस तरह आगे बढ़ते हैं कि दूसरे भी फायदा उठाएं। यदि लोगों से हम ठीक तरीके से बात करे तो उन्हें विश्वास दिलानेमें हम कठिनाई नहीं पायंगे। अन्त में लाभ और सफलता के सभी मानवीय-निष्कर्ष सहयोग की नींव पर ही टिके होते हैं। यह भूमि मानव-जाति का सांझा, सहयोग-मय स्थान है। व्यवहार, आदर्श, उद्देश्य, सक्रियता और चरित्र से हमारी इतनी ही अपेक्षा है कि इनकी प्रगति मानव-सहयोग की ओर होनी चाहिए। हम ऐसा व्यक्ति कहीं भी न पायंगे जो पूर्णतया सामाजिक भावना रहित हो। स्नायु-रोगी और अपराधी भी इस ज्ञात-रहस्य से परिचित होते हैं। उनका इस सम्बन्ध में ज्ञान अपनी जीवन-प्रणाली को युक्ति-संगत सिद्ध करने के प्रयत्नों में

अथवा उत्तरदायित्व को दूसरों पर थोपने में प्रत्यक्ष होता है। पर हां, जीवन की उपयोगी दिशा की ओर बढ़ने में वह हिम्मत हार चुके होते हैं। एक हीन-भाव उन्हें कहता रहता है—"सहयोग में तुम्हें सफलता नहीं मिल सकती।" जीवन की वास्तविक समस्याओं से वह मुख मोड़ लेते हैं और अपनी शक्ति का खुद को आश्वासन दिये रखने के लिए समस्याओं की छाया से जूझे रहते हैं।

श्रम के मानवीय बटवारे में कितने ही प्रकार के स्थूल उद्देश्यों को स्थान मिल सकता है। शायद जैसा कि हमने देखा है सभी उद्देश्यों में कुछ-न-कुछ भूल सम्भव है, और आलोचना करने के लिए हमे कोई-न-कोई बात मिल ही जायगी। किसी बच्चे के लिए गणित मे विशिष्टता प्राप्त करने में ही श्रेष्ठता रहेगी, दूसरे के लिए कला-कृति में, तीसरे के लिए शारीरिक शक्ति में। जिस बच्चे की पाचन-शक्ति दुर्बल होगी वह यह सोचने लगेगा कि उसे केवल आहार की समस्याओं का ही मुकाबला करना है। उसकी दिलचस्पी खाने-पीने के सामान पर ही केन्द्रित होने लगेगी क्योंकि वह सोचता है कि वह इसी तरह अपनी स्थिति को सुधार सकता है। परिणामस्वरूप वह एक चतुर रसोइया अथवा आहार-विज्ञान का अध्यापक बन सकता है। इन सभी विशेष उद्देश्यों मे एक वास्तविक क्षति-पूर्ति के साथ-साथ कुछ सम्भावनाओं का परित्याग, अपने को सीमित करने का कुछ प्रयास हमे दीख पड़ेगा। उदाहरण के लिए हम यह समझ सकेंगे

तब एक दार्शनिक को सोचने और अपनी पुस्तकें लिखने के लिए समाज से अपने को दूर हटाना पड़ता है, परन्तु यदि श्रेष्ठता के उद्देश्य के साथ सामाजिक भावना की प्रचुर मात्रा सम्बन्धित हो तो ऐसी भूल कभी भी गम्भीर नहीं होती। हमारे सहयोग को तो महत्वाकांक्षाओं की आवश्यकता हुआ करती है।

: ४ :

प्रारम्भिक संस्मरण

क्योंकि प्रभुत्व की दशा तक पहुँचने का संघर्ष समूचे व्यक्तित्व की कुंजी के समान है, अतः व्यक्ति के मानस-जीवन (साइकिक लाइफ) के हर पहलू में हम इसे पायेंगे। इस सचाई को समझ जाने से किसी वैयक्तिक जीवन-प्रणाली से परिचय पाने के कार्य में हमें दो बड़ी सहायताएं मिलेंगी। पहली यह कि हम जहां से चाहें इस परिचयके कार्यको शुरु कर सकते हैं। प्रत्येक अभिव्यक्ति हमें एक ही दिशा की ओर ले जायगी— उसी अभिप्राय की ओर, अन्ततम की उसी गीतिका की ओर, जिसकी लय पर हमारे व्यक्तित्व का ताल चलता है। दूसरी यह कि सामान का बृहत् भण्डार हमें मिलता है। प्रत्येक शब्द, विचार अनुभूति अथवा इंगित, हमारे परिचय में वृद्धि करता है। किसी एक अभिव्यक्ति पर विचार करते हुए यदि जल्दी में हम कोई भूल कर बैठें तो उसे सहस्रों दूसरी अभिव्यक्तियों द्वारा फिर से देखा-भाला और शुद्ध किया जा सकता है। हम तब तक स्थायी रूप से किसी एक अभिव्यक्ति का अर्थ निश्चित नहीं कर सकते जब तक 'सम्पूर्ण' में उसका स्थान नहीं समझ लेते, परन्तु प्रत्येक अभिव्यक्ति एक ही बात कह रही होती है, प्रत्येक अभिव्यक्ति प्रश्न के उत्तर की ओर ही हमें प्रेरित करती है। हम तो [illegible] के उन वस्तु-शास्त्र-वेत्ताओं की तरह हैं जिन्हें

मिट्टी से बने बर्तनों के टुकड़े, हथियार, औजार, मकानों की ध्वस्त दीवारें, टूटे-फूटे स्मारक और भोजपत्र के लेख मिलते हैं, और इन्ही अं-भ्रंश टुकड़ों से एक समस्त नगर के जीवन को जानना शुरु करते हैं जो बहुत दिन पूर्व नष्ट हो चुका है। परन्तु यहां तो हम ऐसी चीजसें व्यस्त हैं जो नष्ट नही होचुकी,हम मानव-सत्ता के अन्तर से सम्बन्धित पहलुओं सहित एक जागृत व्यक्तित्व का अध्ययन कर रहे हैं जो हमारे सम्मुख अपने अभिप्राय और अर्थ का नित-नूतन प्रकाश किया करता है।

किसी मनुष्य को समझ लेना सहज काम नही है। कदाचित सब मनोविज्ञान-शास्त्रों में से वैयक्तिक मनोविज्ञान को पढ़ना-सीखना और उसका अभ्यास करना कठिन है। हमें तो सदैव 'सम्पूर्ण' की ओर कान लगाने पड़ते हैं। हमें तब तक संशय और सन्देह नहीं छोड़ना है जब तक कि कुंजी बिल्कुल प्रत्यक्ष न हो जाय। किस तरह एक मनुष्य दरवाजे के भीतर प्रवेश करता है, किस तरह वह प्रणाम करता है, हाथ मिलाता है, किस तरह मुसकराता है, किस तरह बातचीत करता है, ऐसी छोटी-छोटी अनगनित चेष्टाओं से हमें संकेत इकट्ठे करने हैं। हो सकता है कि किसी बात में हम धोखे में आ जायं, परन्तु सुधारने अथवा पुष्टि करने के लिए कितने ही दूसरे इंगित हमें मिलेंगे। स्वयं उपचार भी सहयोग में अभ्यास और सहयोग में परीक्षा के समान है। हम तभी सफल हो सकते हैं जबकि हमारी उसमे हार्दिक दिलचस्पी हो।हमें उसकी आंखोंसे देखने और

उसके कानों से सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए। हमारी सांझी समझ-बूझ में उसे अपना भाग प्रदान करना ही है। हमें उसके दृष्टिकोण और उसकी कठिनाइयों को मिलकर एक साथ स्पष्ट करना है। यदि हम यह भी अनुभव करें कि हमने उसे समझ लिया है तब भी जब तक वह न समझ ले तो हमारे ठीक होने की गवाही कौन देगा ? एक पटुता-हीन सत्य कभी सम्पूर्ण सत्य नहीं हो सकता; यह तो यही दरशाता है कि हमारी समझ पर्याप्त नहीं थी। कदाचित् इसी बात को पूर्णतया समझ न सकने के कारण दूसरे मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने "नकारात्मक और स्वीकारात्मक स्थानान्तर" (नैगेटिव और पाजिटिव ट्रान्सफरेन्सिज़) के विचार को प्रस्तुत किया है। यह ऐसे सिद्धान्त हैं जो वैयक्तिक मनोविज्ञान में नहीं मिलते। जिस रोगी को बिगाड़े जाने की लत पड़ चुकी है, हो सकता है कि उसे बिगाड़ने से सरलता से उसका सौहार्द जीत लिया जाय; परन्तु दूसरों पर हावी होने की उसकी इच्छा उसके अन्दर स्पष्ट जान पड़ेगी। यदि हम उसका निरादर करें या उस पर ध्यान न दें तो हम तुरन्त उसकी शत्रुता के भागी बनेंगे। वह उपचार कराने से इनकार कर देगा, अथवा उपचार को वह केवल अपने को न्याय-संगत सिद्ध करने या हमसे अफसोस प्रकट करवाने के लिए जारी रखेगा। उसे बिगाड़कर अथवा उसका निरादर करके हम उसे कोई सहायता नहीं पहुँचा सकते। हमें तो उसे एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य के प्रति दिलचस्पी दिखानी है। इस दिलचस्पी से

ऊंची कोई सच्ची या निजेतर (आब्जेक्टिव) दिलचस्पी नहीं है। उसके अपने लाभ के लिए और दूसरों की भलाई के लिए उसकी भूलों का पता लगाने के उद्देश्य से हमको उससे सहयोग करना ही है। इस ध्येय को सामने रखने से "परिवर्तनों" को उकसाने का, अपने को पूर्णतया ज्ञानी दरशाने का, अथवा उसे परमुखापेक्षी बनाने और अनुत्तरदायित्व की दिशा में गिरा देने का भय नहीं रह जायगा।

अन्तर्तम की अभिव्यक्तियों में से सबसे अधिक प्रत्यक्षदर्शी (रिवीलिंग) तो किसी व्यक्ति के संस्मरण हुआ करते हैं। उसके संस्मरण तो उसे उसकी सीमाएं और परिस्थितियों के अभिप्राय जतलाने वाली वे बातें हुआ करती हैं जिन्हें वह हरदम साथ लिये घूमता है। "आकस्मिक संस्मरण" (चान्स मेमोरीज़) तो कभी नहीं होते; उन अनगिनत प्रभावों में से जिनका कि एक व्यक्तिको सामना करना पड़ता है वह केवल उन्हें ही याद रखनेके लिए चुन लेता है जिनके विषय में (चाहे कितना ही अनजाने) वह यह अनुभव करता है कि उसकी परिस्थिति से वह घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। इस प्रकार उसके संस्मरण तो 'मेरी आत्मकथा'के समान होते हैं—ऐसी कथा जिसे अपने को जागरूक रखने अथवा दिलासा देने के लिए, अपने उद्देश्य पर एकनिष्ठ टिके रहने के लिए, पुराने अनुभवों के साधन से भविष्य की अनुभूत क्रिया-प्रणाली बरत कर मुकाबला करने की तैयारी के लिए वह दोह-

राना रहता है। संस्मरणों का प्रयोग एक विशेष प्रकार की चित्त-अवस्था (मूड) बनाये रखने के लिए तो स्पष्टतया दैनिक व्यवहार में देखा जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति की कहीं हार हो जाय और उससे वह निरुत्साहित हो तो वह हार के पिछले अवसर याद करने लग जाता है। यदि वह उससे व्याकुल हो तो उसके सब संस्मरण भी अवसादमय हो जाते हैं। जब वह आल्हाद और उल्लास लिये हुए अपने को साहसी अनुभव करे तो वह दूसरे प्रकार की स्मृतियां चुनता है। जिन घटनाओं को वह चुनता है वह सुन्दर होती हैं, वह उसके आशावाद की सम्पुष्टि करती हैं। इसी तरह यदि वह यह अनुभव करे कि किसी समस्या से वह घिर चुका है तो ऐसी स्मृतियों का आवाहन करेगा जो उसकी ऐसी चित्त-अवस्था बनाने में सहायता देंगी जिसमें उसे उस समस्या से जूझना है। अतः संस्मरण प्रायः वैसा ही उद्देश्य पूरा करते हैं जैसा कि स्वप्न। जब किन्हीं निर्णयों पर पहुँचना होता है तो कितने ही मनुष्योंको उन परीक्षाओं के विषयमें स्वप्न आते हैं जिनमें वह उत्तीर्ण हो चुके हैं। अपने निर्णयों को वह परीक्षाओं के रूप में लेते हैं और उसी चित्त-अवस्था का पुनर्सृजन करना चाहते हैं जिससे कि वह पहले भी सफल हो चुके हैं। किसी वैयक्तिक जीवन-प्रणाली में चित्त-अवस्था की भिन्नताओं के विषय में जो कहा जा सकता है वही साधारणतया उसकी चित्त-अवस्था के निर्माण और अवरोध के विषय में कहा जा

सकता है। एक उदासीन पुरुष यदि अपनी सफलता और आनंद की घड़ियां गिनने लगे तो वह उदासीन नहीं रह सकता। वह अपने मन को यह कहकर समझाता है—"मैं सारा जीवन अभागा रहा हूँ"; और तदनुसार वह उन्ही घटनाओं की याद करेगा जिनका अर्थ वह अपने दुर्भाग्य में लगा सकता है। संस्मरण जीवन-प्रणाली के विरोध में कभी नहीं हो सकते। यदि किसी व्यक्ति के श्रेष्ठता के उद्देश्य की यह मांग है कि—"दूसरे लोग सदा मेरा तिरस्कार करते हैं—" तो वह उन्ही घटनाओं को चुनेगा जिन्हें कि अपमान का अर्थ दे सके। जैसे-जैसे और जिस हद तक उसकी जीवन-प्रणाली में परिवर्तन होगा, उसके संस्मरण भी वैसे-ही-वैसे बदलते जायंगे, उसे भिन्न घटनाएं याद हो आयंगी अथवा जो घटनाएं उसे याद हैं उनके नये और भिन्न अर्थ वह लगाने लगेगा।

प्रारम्भिक संस्मरणों का विशेष महत्व होता है। एक तो वे जीवन-प्रणाली का प्रारम्भिक रूप सरलतम अभिव्यक्ति में दिखाते हैं, दूसरे हम उनसे यह पता लगा सकते हैं कि बच्चे को लाड़-प्यार से विगाड़ा जा रहा था अथवा उसकी उपेक्षा की जा रही थी। किस हद तक दूसरों से सहयोग करने की वह शिक्षा पा रहा था किससे सहयोग करना उसे पसन्द था, उसके सामने क्या उलझनें थीं और किस तरह वह उनसे संघर्ष कर रहा था। ऐसे बच्चे की प्रारम्भिक स्मृतियों में जिसे आंखों की कमजोरी से देखने में कठिनाई होती हो और जिसने ध्यान से देखने की

आदत डाल ली हो—हम दृष्टि-सम्बन्धी संस्मरण पायेंगे। उसकी स्मृति इस तरह शुरु होगी—"मैने चारों ओर देखा...", अथवा वह रङ्ग-रूप का वर्णन करेगा। एक बच्चा जिसे चलने-फिरने में कठिनाई हुई हो, जो चलना, भागना अथवा कूदना चाहता रहा हो, इन्हीं इच्छाओं को अपने संस्मरणों में प्रकट करेगा। जो दिलचस्पियां और इच्छाएं बचपन से ही याद हैं वह निश्चित ही किसी व्यक्ति की मुख्य दिलचस्पी और इच्छा के करीब होंगी; और यदि हमें किसी की मुख्य दिलचस्पी का पता चल जाय तो हम उसके उद्देश्य और उसकी जीवन-प्रणाली से भी परिचित हो जाते हैं। यही बात प्रारम्भिक संस्मरणों को व्यावसायिक शिक्षण के क्षेत्र मे इतने महत्व की बनाती है। हम बच्चे के माता-पिता और परिवार के दूसरे सदस्यों के प्रति सम्बन्ध भी खोज सकते हैं। यह संस्मरण सही हैं या गलत, यह अधिक महत्व की बात नहीं है, इनके विषय में सर्वाधिक महत्व की बात तो व्यक्ति का वह निष्कर्ष है जिसे वह दरशाते हैं—"बचपन में भी मैं ऐसा या वैसा व्यक्ति था—" अथवा—"बचपन मे भी मैंने संसार को ऐसा पाया।"

सबसे अधिक ज्ञानदायक तो वह ढङ्ग है जिससे कि वह अपनी कहानी कहना शुरु करता है, वह पहली-से-पहली घटना जिसे वह याद कर सकता है। पहला संस्मरण ही व्यक्ति के जीवन के प्रति मौलिक दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देगा जो उसके दृष्टिकोण का पहला सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण होता है। इससे हमें

एक ही दृष्टि में उस बिन्दु को देखने का अवसर मिल जाता है जिसे कि उसने अपने विकास का प्रारम्भ मान लिया हुआ है। मैं कभी भी किसी व्यक्तित्व का विवेचन पहला संस्मरण बिना पूछे नही करता। कभी-कभी लोग कोई उत्तर नहीं देते अथवा यह कह देते हैं कि कौनसी घटना पहले हुई इसका उन्हें भान ही नही है, परन्तु यह बात भी स्वयं अप्रत्यक्ष पर प्रकाश डालने वाली है। हम जान सकेंगे कि वह अपने मौलिक अभिप्राय पर बातचीत नहीं करना चाहते और वह सहयोग के लिए तैयार नहीं हैं। वैसे साधारणतया लोग अपने प्रारम्भिक संस्मरणों पर बहस करने के लिए तैयार हुआ करते हैं। वह उन्हें केवल घटना के रूपमें लेते हैं और उनमें छिपे अर्थों को नही समझते। शायद ही कोई प्रारम्भिक संस्मरण के अर्थ समझता हो, और इस तरह बहुत-से लोग जीवन में अपना उद्देश्य, दूसरों से अपने सम्बन्ध और परिस्थितिके विषय में अपने विचार बिल्कुल साधारण तरीके और बिना किसी झिझकके पहले संस्मरणों के माध्यम से अङ्गीकार कर लेते हैं। पहले संस्मरणों में दिलचस्पी की एक और बात यह है कि वह सूत्र-रूप में गुथे हुए और सरल होते हैं, और इससे हम उनका प्रयोग बड़े पैमानो पर अन्वेषण और परीक्षण में कर सकते हैं। स्कूल की किसी क्लास के लड़कों को हम अपने प्राथमिक संस्मरण लिखने के लिए कह सकते हैं; और यदि हम उनका अर्थ लगाना जानते हों तो हर लड़के का बड़ा महत्वपूर्ण चित्र हम पा लेते हैं।

उदाहरण के लिए मैं यहां कुछ प्रारम्भिक संस्मरण देता हूँ और उनका अर्थ लगाने की कोशिश करता हूँ। इन संस्मरणों के अतिरिक्त इन व्यक्तियों के विषय में मैं और कुछ नहीं जानता—यह भी नहीं जानता कि वह बच्चे हैं या वयस्क। उनकी प्राथमिक स्मृतियों में हम जो अर्थ पायेंगे उसे उनके व्यक्तित्व की दूसरी अभिव्यक्तियों से हमें मिलाना पड़ेगा परन्तु अपने अभ्यास और अनुमान लगाने के सामर्थ्य को बढ़ाने के लिए हम उनका प्रयोग तो कर ही सकते हैं। हमें यह पता चल जायगा कि क्या बात ठीक हो सकती है और एक स्मृति की दूसरी स्मृति से हम तुलना कर सकेंगे। विशेषता हम यह जान सकेंगे कि कोई व्यक्ति सहयोग की शिक्षा पा रहा है अथवा इसके विरुद्ध, वह सबल है अथवा निरुत्साहित, क्या वह दूसरों का समर्थन और ध्यान पाए रखना चाहता है अथवा आत्म-निर्भर और स्वतन्त्र होना चाहता है, क्या वह कुछ 'प्रदान' करने के लिए भी तैयार है अथवा केवल लेने के लिए ही चिन्तित है।

१—"क्योंकि मेरी बहन..." यह देखना महत्वपूर्ण है कि परिस्थिति और वातावरण के कौनसे व्यक्ति प्राथमिक संस्मरणों में स्थान पाते हैं। जब यह व्यक्ति बहन हो तो हम प्रायः सदैव इस अनुमान में ठीक होंगे कि वह व्यक्ति बहन से बहुत प्रभावित हुआ है। बहन ने इस दूसरे बच्चे के विकास पर छाया डाली हुई है। साधारणतया हम दोनों में एक होड़, प्रतिद्वन्द्विता, पाएंगे—जैसे कि वह दोनों किसी प्रतियोगिता में भाग ले रहे

हों और हम समझ सकेंगे कि इस तरह की होड़ विकासमें अधिक कठिनाइयां डाल देती है। जब बच्चा प्रतिद्वन्द्वितामें जूझा हुआ होतो वह दूसरोंमें अपनी दिलचस्पी उस तरह नहीं पैदा कर सकता जब कि वह दूसरों से दोस्ती से सहयोग करने को तैयार हो। अस्तु, हमें निष्कर्षों पर अनुमान नहीं लगाना चाहिए—शायद यह दोनों बच्चे अच्छे मित्र ही रहे हों।

"क्योंकि मेरी बहन और मैं परिवार में सबसे छोटे थे, मुझे तब तक स्कूल नहीं जाने दिया गया जब तक कि वह भी (जोकि छोटी थी) स्कूल जाने योग्य नही हो गई।" अब छिपी हुई प्रतिद्वन्द्विता स्पष्ट है। मेरी बहन मेरी राह का कांटा थी। वह छोटी थी, लेकिन मुझे उसके लिए रोक रखा गया। उसने मेरी सम्भावनाओं को सीमित किया। यदि संस्मरण का यही अर्थ ठीक है तो हमें इस लड़के अथवा लड़की के विचारों की अपेक्षा करनी चाहिए—"मेरे जीवन में सबसे बड़ा खतरा तो तब पैदा होता है जब कोई मेरे लिए बाधा बन जाता है और मेरे स्वतन्त्र विकास को रोकता है।" शायद यह संस्मरण किसी लड़की का है। यह बहुत सम्भव नही है कि किसी लड़के को तब तक रोक रखा जाय जब तक कि उसकी छोटी बहन स्कूल जाने योग्य न हो जाय।

"तदनुसार हमने पढ़ाई एक ही दिन शुरू की।" इस प्रकार की शिक्षा को इस स्थिति की लड़की के लिए हम अच्छी नहीं कह सकते। शायद इससे उस पर यही प्रभाव पड़ जाय कि क्यों-

कि वह बड़ी है, उसे पीछे ही रुकना चाहिए। जो भी हो हम देखते हैं कि इस लड़की ने तो इस बात का यही अर्थ लगाया है। उसका विचार है कि उसकी छोटी बहन का पक्ष लेकर उसकी उपेक्षा की जाती है। इस उपेक्षा का उत्तरदायित्व वह किसी के कन्धों पर डालेगी, और शायद वह माता को ही अपराधी ठहराए। हमें यह जानने पर आश्चर्य होना चाहिए कि वह अधिकतर पिता की ओर झुक गई और पिता की लाडली बनने की उसने कोशिश की।

"मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस दिन हम पहले-पहल स्कूल गये तो माता ने हर-एक को बताया कि किस तरह वह अपने को अकेली अनुभव करती रही। उसने कहा—दोपहर बाद मैं कितनी ही बार दरवाजेके बाहर भागकर गई और लड़कियोंकी राह देखती रही। मुझे ख्याल आता था जैसे कि वह कभी नहीं आयंगी।" यहां उसने माता का वर्णन कर दिया है, और यह ऐसा वर्णन है जो उसे बुद्धिपूर्वक व्यवहार करते हुए नहीं दिखाता। यह तो लड़कीका बनाया हुआ माताका चित्र है। "सोचती थी कि हम कभी नहीं आयंगी—" स्पष्ट है कि माता में ममता थी और लड़कियां इस ममता से परिचित थीं, परन्तु साथ-ही-साथ वह चिन्तित रहने वाली और आतुरतापूर्ण थी। यदि लड़की से हम बातचीत कर सकते तो माता के छोटी लड़की के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार की और बातें वह हमें बताती। लेकिन ऐसे पक्षपातपूर्ण व्यवहार से भी हम हैरान नहीं होंगे क्योंकि

परिवार के सबसे छोटे सदस्य से प्रायः सदा ही लाड़-प्यार किया जाता है। इस समूचे प्राथमिक संस्मरण से मैं इस नतीजे पर पहुँचूंगा कि बड़ी लड़की को यह विचार रहा है कि छोटी बहनकी प्रतिद्वन्द्विता के कारण वह आबद्ध रही है। बड़ी उमर में ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता की सम्भावना और भय रहेगा। हमें यह जानकर भी आश्चर्य नहीं होगा कि यदि वह अपने से कम आयु की सभी औरतों को नापसन्द करे। कुछ लोग सारी उमर भर अपने को बूढ़ा अनुभव किया करते हैं और बहुत-सी ईर्ष्यालु स्त्रियां अपने से छोटी आयु की स्त्रियों से अपने को हीनतर अनुभव किया करती हैं।

२—"मेरी सर्व-प्रथम स्मृति तो अपने नाना की शव-यात्रा की है, जबकि मैं तीन वर्ष की थी।" यह एक लड़की ने लिखा है। मृत्यु के सत्य ने उस पर गम्भीर प्रभाव डाला है। इसका क्या अर्थ है? मृत्यु को उसने जीवन के प्रति अतीव अनिश्चितता और सबसे बड़े भय के रूप में देखा है। बचपन में जो घटनाएं उससे बीतीं उनसे उसने यह निष्कर्ष निकाला—"नाना मर सकते हैं।" शायद हमे यह भी पता चले कि वह नाना की बड़ी लाड़ली थी और लाड़-प्यार से उन्होंने उसे बिगाड़ रखा था। प्रायः सभी नाना अपने दोहतों को बिगाड़ा करते हैं। बच्चों की ओर उनकी जवाबदेही माता-पिता से कम हुआ करती है और प्रायः उनका यत्न होता है कि बच्चे उनसे घुल-मिल जायं और वह दिखा सकें कि अब भी वह उनका प्यार पा सकते हैं।

हमारी संस्कृति बड़े बूढ़ों के लिए अपनी योग्यता में विश्वास रखना नहीं सिखाती और कई बार भिन्न-भिन्न तरीकों से इस विषय में वह विश्वस्त होना चाहते हैं—उदाहरण के लिए झगड़ालू बनकर। यहां हम यह अनुमान लगाना चाहते हैं कि नाना ने इस लड़की को, जबकि वह बच्ची ही थी, बिगाड़ रखा था और इसी लाड़-प्यार ने उन्हें बच्चे की गहरी स्मृति में उतार दिया था। जब उनकी मृत्यु हुई, बच्ची ने इसे बड़ा आघात समझा, जैसे एक साथी और भक्त उससे छिन गया।

"उन्हें कफन में पड़ा हुआ—सफेद और शान्त—देखना मुझे खूब याद है।" एक तीन वर्षके बच्चेको मैं नहीं समझता हूँ कि एक मृत शरीर देखने की इजाजत देना ठीक बात है। कम-से-कम बच्चे को इस दृश्य को देखने के लिए तैयार कर देना चाहिए। मुझे कितने ही बच्चों ने बताया है कि किसी शव को देखकर वह कितनी गम्भीरता से प्रभावित हुए हैं और वे इस दृश्य को कभी नहीं भूल सकते। यह लड़की भी इसे नहीं भूल सकी। ऐसे बच्चे मृत्यु के भय को कम करने की अथवा उसे वश में करने की कोशिश किया करते हैं। प्रायः उनकी तीव्र अभिलाषा डाक्टर बनने की हो जाया करती है। वह सोचते हैं कि मौत से लड़ने के लिए डाक्टर ही दूसरों से अधिक उपयुक्त हुआ करते हैं। यदि किसी डाक्टर से उसकी पहली स्मृति के विषय में पूछा जाय तो प्रायः उसमें किसी-न-किसी मृत्यु का संस्मरण होगा। "कफन में पड़ा हुआ, सफेद और शान्त..."

यह स्पष्टतया दीखने वाली घटना का संस्मरण है। यह लड़की शायद दर्शक प्रकार (विज्वल टाइप) की है जो दुनिया को अच्छी तरह देखने में दिलचस्पी लेते हैं।

"और कब्रिस्तान में जबकि शव को कब्र में उतारा गया तो कठोर बक्से के नीचे से रस्सियों को निकालने की बात भी मुझे याद है।" फिर वह बता रही है जो कुछ कि उसने देखा और हमें यह निश्चय हो जाता है कि वह ठीक दर्शक प्रकार की ही है। "इस अनुभवसे यह परिणाम हुआ कि जब अपने किसी सम्बन्धी, मित्र अथवा परिचित के परलोक-गमन की बात मैं सुनती हूं तो भय से कंपकंपी आ जाती है।"

मृत्यु ने जो उस पर गम्भीर प्रभाव डाला है वह फिर प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि उससे बात करने का मुझे अवसर मिलता तो मैं पूछता—"बड़ी होकर तुम क्या बनना चाहती हो?" और कदाचित् वह यह उत्तर देती कि "डाक्टर"। यदि वह कोई उत्तर न देती अथवा इस प्रश्न से बचना चाहती तो मैं स्वयं ही कहता—"क्या तुम डाक्टर अथवा नर्स बनना पसन्द नहीं करोगी?" जब वह "परलोक-गमन" की बात करती है तो यह बात मृत्यु के डर से परिपूर्ति (कम्पेन्सेशन) का एक ढंग मालूम पड़ती है। उसके संस्मरण से वैसे हमें यह ज्ञान हुआ है कि उसके नाना का उसके प्रति मैत्री का व्यवहार था, वह दर्शक प्रकार की है और उसके मन में मृत्यु को बड़ा महत्व दिया जाता है। जीवन का जो अर्थ उसने समझा है वह है—"हम सबको मरना है।"

निस्संदेह यह सत्य है, परन्तु सभी में यही मुख्य दिलचस्पी हो, ऐसा हम नहीं पायंगे। दूसरी बातें भी हैं जो हमारा ध्यान आकर्षित कर सकती हैं।

३—"जब मैं तीन वर्ष की थी, मेरे पिता..." ठीक आरम्भ में ही पिता का वर्णन आरम्भ हो गया है। हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह लड़की माता से अधिक अपने पिता में दिलचस्पी लेती थी। पिता में दिलचस्पी विकास के दूसरे पहलू की बात हुआ करती है। पहले तो बच्चा माता ही में अधिक दिलचस्पी लेता है क्योंकि पहले एक या दो वर्ष में माता से सहयोग घनिष्ठ हुआ करता है। बच्चे को पद-पद पर माता की जरूरत हुआ करती है और वह नितान्त उसी पर निर्भर होता है, बच्चे की सभी आन्तरिक अभिलाषाएं माता से ही सम्बन्धित होती हैं। यदि बच्चा पिता की ओर झुक जाय तो माता तो जैसे हार चुकी। इसका अर्थ है कि बच्चा अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। ऐसा प्रायः परिवार में किसी छोटे बच्चे के जन्म पर हुआ करता है। इस संस्मरण में यदि हमें छोटे बच्चे का पता चले तो हमारे अनुमान की सन्तुष्टि हो जायगी।

"मेरे पिता ने हमारे लिए टट्टुओं का जोड़ा खरीदा।" अब देखा कि दो बच्चे हैं; दूसरे बच्चे के विषय में कुछ और सुनने के लिए हम लालायित हैं। "उनकी लगाम पकड़कर वह उन्हें घर ले आए। मेरी बहन जोकि मुझसे तीन वर्ष बड़ी थी...।" हमें [illegible] अनुमान बदलना पड़ेगा। हम सोचते थे कि यह लड़की

बड़ी बहन होगी परन्तु यह तो छोटी सिद्ध हुई। कदाचित् बड़ी बहन माता की अधिक लाड़ली हो और इसी कारण इस लड़की ने अपने पिता और दो टट्टुओं के तोहफे का वर्णन किया है।

"मेरी बहन ने एक लगाम को पकड़ा और बड़ी शान से बाजार से गुजरी।" बड़ी बहन की जीत का यह नमूना देखिए। "मेरा अपना टट्टू दूसरे के पीछे तेज चलता हुआ, सरपट चला गया—" यह परिणाम है उसके—बहन के अगुआ बनने का—"और मैं मिट्टीमें औंधे मुंह घिसटती गई। जिस अनुभव की मैं उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थी उसका इस तरह भद्दा अन्त हुआ।" उसकी बहन जीत चुकी है, उसने बाजी मार ली है, यदि मै ध्यान नहीं करूंगी, तो मेरी बहन सदा ही जीतेगी। मैं तो हमेशा हारती हूँ, हमेशा मिट्टी में गिरी रहती हूँ। सुरक्षित होने का तो यही उपाय है कि सबसे आगे रहा जाय।" हम यह भी समझ सकते हैं कि बहन माता के प्रसंग मे भी जीत चुकी है, और यही कारण है कि छोटी बहन अपने पिता की ओर झुक गई।

"यह बात भी कि बाद में घुड़सवारी में मैं बहन से कहीं बढ़-चढ़ गई मेरी इस निराशा को जरा मध्यम नहीं कर सकी।" हमारे अनुमान अब सही ठहरे हैं। हम देख सकते हैं कि दोनों बहनों में कैसी होड़ रही है। छोटी सोचा करती थी, "मैं सदा पीछे रहती हूँ, मुझे आगे बढ़ने की कोशिश करनी चाहिए, मुझे दूसरों से कहीं आगे होना चाहिए।" इस प्रकार के बच्चों का

मैंने वर्णन किया है—यह प्रायः दूसरी सन्तान अथवा सबसे छोटी सन्तान में से हुआ करते हैं और किसी-न-किसी को अपना आदर्श बना लेते हैं और उस आदर्श से आगे बढ़ने का सदा यत्न करते हैं। इस लड़की के संस्मरण उसके दृष्टिकोण को दृढ़तर करते हैं, जैसे कि स्मृति उससे कहती रहती है—यदि कोई मुझसे आगे होगा तो मेरे लिए खतरा पैदा हो जायगा। मुझे तो हमेशा ही प्रथम रहना है।

४—"मेरा प्रारम्भिक संस्मरण तो महफिलों और दूसरे सामाजिक जलसों में बड़ी बहन द्वारा जो कि मेरे जन्म के समय १८ वर्ष की थी, ले जाये जाने का है।" यह लड़की अपने को समाज के एक अंग की तरह याद करती है, शायद इस संस्मरण में दूसरों से अधिक सहयोग की भावना हमें मिले। इससे १८ वर्ष बड़ी बहन ने इसके प्रति माता का कर्तव्य निभाया। परिवार में इसी बड़ी बहन ने लाड़-प्यार से इसे बिगाड़ा, परन्तु बुद्धिमत्ता दिखाकर बच्चे की दिलचस्पी दूसरों तक फैलाई जान पड़ती है।

"क्योंकि चार लड़कों के परिवार में मेरे जन्म तक मेरी बहन ही एक लड़की थी, अतः यह स्वाभाविक था कि मेरा प्रदर्शन करने पर तुला हो।" यह बात तो जैसा हमने सोचा था वैसी भली नहीं मालूम दी। जब किसी बच्चे का "प्रदर्शन" किया जाता है तो सम्भव है कि सम्प्रदान की जगह प्रशंसा पाने में ज्यादा अधिक दिलचस्पी लेने लगे। "इसलिए जबकि मेरी बहन [illegible] वह मुझे बाहर घुमाने लगी। इन महफिलों में

विषय में मुझे जो एक बात याद है वह यह है कि कुछ-न-कुछ बोलने के लिए मुझे सदा प्रेरित किया जाता था, "इन्हें अपना नाम बताओ—और इसी तरह की दूसरी बातें।" शिक्षाका यह गलत ढंग है—हमें यह जानकर अचम्भा नहीं होना चाहिए कि यह लड़की तुतलाती हो अथवा बोलनेके विषयमें इसे अन्य कठिनाइयां पेश आती हों। जब कोई बच्चा तुतलाता है तो प्रायः इसका कारण यही होता है कि उसकी बोली में बहुत अधिक दिलचस्पी दिखाई जाती थी। दूसरों से साधारण ढंग से और बिना खिचाव के बात करने के स्थान पर इसे आत्म-बोधिक (सेल्फ-कान्शस) और प्रशंसा का इच्छुक होना सिखाया गया।

"मुझे यह भी याद है कि मैं कुछ कहा नही करती थी और परिणामस्वरूप सदा ही घर पहुँच कर मुझे झिड़कियाँ पड़ा करती थीं। हुआ यह कि मैं घर से निकलने और लोगों को मिलने-जुलने से घृणा करने लगी।" हमें अपने अनुमान को बिलकुल ही बदल डालना है। अब हमें स्पष्ट है कि इसकी प्राथमिक स्मृति का अर्थ है—"मुझे दूसरे लोगों के सम्पर्क में लाया गया परन्तु मुझ यह भला नहीं लगा। इन्हीं अनुभवोंके कारण तभी से मैं ऐसे सहयोग से घृणा करती हूँ।" हम आशा करते हैं कि अब भी वह लोगों से मिलना-जुलना नापसन्द करती है। हम समझते हैं कि उनसे मिलनेपर वह झिझकसे भरी और आत्म-बोधिक होगी और यही सोचती रहेगी कि उसके लिए चमकना तो आवश्यक है लेकिन साथ ही वह यह अनुभव करती रहेगी कि उससे ऐसी

अपेक्षा करना ज्यादती है। मानव में सरलता और बराबरी के विरुद्ध उसे शिक्षा मिली है।

९—"मेरे आरम्भिक बचपन में एक घटना बड़ी विशिष्ट है। जब मैं चार वर्ष की थी तो मेरी परनानी हमें मिलने आई।" हमने देखा है कि किस तरह नानियां अपने दोहतों को बिगाड़ देती हैं; परनानियां उनसे किस तरह का व्यवहार करती हैं इस का अभी तक हमें अनुभव नहीं हुआ। "जब वह हमारे पास ही थी, हमारे परिवार की चार पीढ़ियों की एक तस्वीर ली गई।" यह लड़की अपनी परिवार-वंशावली में बड़ी दिलचस्पी ले रही है। क्योंकि अपनी परनानी का मिलने के लिए आना और तस्वीर का खिचना उसे खूब याद है हम शायद यह निष्कर्ष निकाल सकें कि अपने परिवार से उसका घना सम्बन्ध है। यदि हम ठीक हों तो हम जान सकेंगे कि उसकी सहयोग करने की सामर्थ्य अपने परिवार की सीमाओं को नहीं लांघ पाती।

"मुझे साफ याद है मोटर पर चढ़कर हम एक दूसरे शहर में गये और वहां फोटोग्राफर की दूकान पर अपने कपड़े बदल कर मैंने कसीदा कढ़े हुए सफेद कपड़े पहन लिये।" शायद यह लड़की भी दर्शक प्रकार की है। "चार पीढ़ी की इकट्ठी तस्वीर खिचने से पहले मेरे भाई और मेरी एक तस्वीर उतारी गई।" परिवार में दिलचस्पी फिर प्रत्यक्ष होती है। उसका भाई भी परिवार का ही अंग है और मेरा अनुमान है कि भाई से इसके सम्बन्ध के बारे में हम और कई बातें सुनेंगे। "मेरे पास ही एक कुर्सी

की बाजू पर उसे बिठलाया गया और एक चमकदार लाल गेंद पकड़ने के लिए उसे दी गई।" यहां भी देखी गई बातें खूब याद हैं। "मैं कुर्सी के एक ओर खड़ी थी और पकड़ने के लिए मुझे कुछ नहीं दिया गया।" यहां लड़की का मुख्य अन्तरभाव स्पष्ट होता है। वह अपने से कहती है कि भाई का पक्षपात होता है। हम यह अनुमान भी लगा सकते हैं कि छोटे भाई के जन्म और उस द्वारा सबसे छोटे होने और लाड-प्यार के स्थान के छिन जाने को उसने पसन्द नहीं किया था। "हमें मुसकराने को कहा गया।" उसका मतलब है—"उन्होंने मुझे मुसकराने की कोशिश की, परन्तु मैं किस बूते पर मुसकराती? उन्होंने मेरे भाई को सिंहासन पर बिठाया और एक चमकदार लाल गेंद भी दिया, परन्तु उन्होंने मुझे क्या दिया?"

"उसके बाद चार पीढ़ी वाली तस्वीर खींची गई। मेरे सिवाय सबने अपना अच्छे-से-अच्छा ढंग बनाने का यत्न किया। मैं नहीं मुसकरा सकी।" परिवार के विरुद्ध उसका रवैया आक्रमणात्मक है क्योंकि परिवार उससे भला नहीं बरतता। इस प्रथम संस्मरण में हमें यह बताना वह नहीं भूल सकी कि उसके परिवार का उसके प्रति क्या व्यवहार था। "जब मेरे भाई को कहा गया तो वह बड़े अच्छे ढंग से मुसकराया। वह बड़ा चतुर था। आज तक अपनी तस्वीर खिचवाने से मुझे घृणा है।" इस प्रकार के संस्मरण हमें उस तरीके का पर्याप्त अन्तर्ज्ञान देते हैं जिस द्वारा कि हममें से बहुत-से जीवन से परिचय पाते हैं। हम एक

अनुभूति लेते हैं और इसका प्रयोग कितनी ही प्रकार की क्रियाओं का औचित्य सिद्ध करने में करते हैं। हम उससे निष्कर्ष निकालते हैं और इस तरह व्यवहार करते हैं जैसे वही निष्कर्ष वास्तविक सत्य हो। प्रत्यक्ष है कि वह तस्वीर उतरवाते समय उसे अच्छा अनुभव नहीं हुआ था। वह अब भी तस्वीर खिचवाने से घृणा करती है। साधारणतया हम यही पायंगे कि इसी तरह कोई व्यक्ति यदि किसी बात से घृणा करता है तो वह अपनी नापसंदगी के लिए कोई कारण चुन लेता है, अपने अनुभवों में से कोई ऐसा अनुभव चुन लेता है जिस पर उस नापसन्दगी का औचित्य सिद्ध करने का सारा बोझ डाला जा सके। इस प्रथम संस्मरण ने लेखिका के व्यक्तित्व को जानने के दो मुख्य आधार दिये हैं। पहला तो यह कि वह दर्शक प्रकार की है। दूसरा, जोकि पहले से अधिक महत्वपूर्ण है, यह कि अपने परिवार से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। प्रथम स्मृति का सारा क्रिया-क्षेत्र परिवार की सीमा में ही अवरुद्ध है। कदाचित् सामाजिक जीवन के लिए यह उपयुक्त भी नहीं है।

यहां तहखाने हों और वहां शराव हो। यह तो अन्वेपण की एक यात्रा थी। यदि अभी ही हमें निष्कर्ष निकाल लेने हों तो इन दो वातों में से एक का अनुमान हम लगा सकते हैं—कदाचित् यह लड़की नई-नई परिस्थितियों का मुकावला करना पसन्द करती है और जीवन के प्रति इसका दृष्टिकोण उत्साहपूर्ण है। दूसरी ओर कदाचित् उसका मतलब है कि ऐसी दृढ़ आत्म-शक्ति के लोग हैं हैं जो हमें गुमराह कर सकते हैं और फंसा सकते हैं। स्मृति का शेष हिस्सा इन अनुमानों में हमारी सहायताकर सकेगा।"कुछ देर वाद हमने निश्चय किया कि हम एक वार फिर स्वाद चखेंगे और तदनुसार हमने अपनी इच्छा-पूर्ति करनी आरम्भ की।" यह लड़की हिम्मत वाली है। यह स्वतन्त्र होना चाहती है। "कुछ ही समय मे मेरी टांगों में चलने-फिरने की हिम्मत न रही। तह-खाना नमी से भरा हुआ था क्योंकि हमसे शराब फर्श पर फैल गई थी।" अव देखिए किस तरह एक नशे-विरोधी का जन्म होता है।

"मुझे नहीं मालूम कि क्या यह घटना मेरे शराव-विरोध और दूसरी नशीली चीजों की नापसन्दगी से किसी तरह सम्बन्धित है।" एक छोटी-सी घटना को जीवनके प्रति समस्त दृष्टिकोण का फिर कारण वनाया जा रहा है। यदि हम व्यावहारिक बुद्धि से इस पर ध्यान दें तो इस घटना में हमें कोई ऐसा भारी महत्व नहीं मिलेगा जिससे कि ऐसे परिणाम तक पहुँचा जाय। लेकिन इस लड़की ने मादक पेय पदार्थों से घृणा करने का गुप्त रीति से

इसे ही कारण बनाया हुआ है। कदाचित् हमें यह पता चले कि यह एक ऐसी स्त्री थी जो सीख गई थी कि भूलों से किस तरह शिक्षा ग्रहण की जाय। कदाचित् यह बिलकुल ही स्वतन्त्र स्वभाव की हो और यह जानने पर कि यह गलती में है सच ही अपने में सुधार करने की इच्छुक हो। सम्भव है कि चरित्र की यह विशिष्टता उसके सारे जीवन को प्रभावित करे, जैसे कि वह कह रही हो—"मैं भूलें करती हूं, परन्तु जब यह जान जाती हूँ कि वह भूलें हैं तो उन्हें सुधार लेती हूँ।" यदि ऐसा है तो वह बहुत भले प्रकार की है: सक्रिय, अपने प्रयत्नोंमें उत्साहपूर्ण, अपनी परिस्थिति को नित्य सुधारती हुई और जीवन बिताने के सर्वोत्तम मार्ग को सदा खोजने वाली।

इन सब उदाहरणों में हम केवल अनुमान की कला में ही शिक्षा ले रहे हैं, और यह जानने से पहले कि हमारे निष्कर्ष ठीक थे हमें उन व्यक्तित्वों की कितनी दूसरी अभिव्यक्तियों की विवेचना करनी पड़ेगी। अब हम कुछ उदाहरण अपनी दिनचर्या से लें जहां कि व्यक्तित्व की एकता अपनी सभी अभिव्यक्तियों में देखी जा सकेगी।

एक पैंतीस बरस का मनुष्य, जो चिन्ता सम्बन्धी स्नायविकोन्माद से पीड़ित था, मेरे पास उपचार के लिए आया। उसे चिन्ता तभी घेरती थी जब वह घर से बाहर होता था। कभी-कभी नौकरी करने पर वह मजबूर होता था, परन्तु जैसे ही उसे किसी दफ्तर में ले जाया जाता था वह सारा दिन रोता और चीखता रहता था

तथा रात को घर लौटकर मां के पास बैठकर ही चुप हो पाता था। जब उससे प्रथम संस्मरण के विषय में पूछा गया तो उसने कहा—"जब मैं चार बरस का था मुझे अपने घर में खिड़की के पास बैठकर बाहर सड़क को देखना और लोगों को काम करते हुए देखने में बड़ा आनन्द आता था।" दूसरों को काम करते हुए वह देखना चाहता है। खुद खिड़की पर बैठकर केवल उन्हें देखना ही चाहता है। यदि उसकी दशा में परिवर्तन करना है तो हम ऐसा उसे उसके इस विश्वास से छुड़ाकर ही कर सकेंगे कि वह दूसरों के काम में सहायक नहीं हो सकता। अब तक उसने यही सोचा है कि जीने का तरीका दूसरों का सहारा पाने में ही है। हमें उसका सारा रवैया ही बदलना है। उसे बुरा कहकर तो कुछ नहीं बनेगा। दवाइयां देकर या पौष्टिक पदार्थ देकर उसे विश्वास नहीं दिलाया जा सकता। उसकी आरम्भिक स्मृति अलबत्ता हमारे लिए यह आसान कर देती है कि उसे ऐसा काम सुझाएं जिसमें उसकी दिलचस्पी हो। उसकी मुख्य दिलचस्पी दूसरों को काम करते हुए देखने में है। हमें पता चला कि उसकी दूर की नजर कमजोर थी, और इस कमी के कारण वह सदा दृष्टव्य बातों को अधिक ध्यान देता रहा है। जब उसने व्यवसाय सम्बन्धी समस्याको सुलझाना शुरू किया तो उसकी प्रवृत्ति थी कि महज देखता-भर रहे, काम न करे। परन्तु यह दोनों तो परस्पर विरोधी बातें हैं। उपचार के बाद जब वह ठीक हो गया तो उसने ऐसा व्यवसाय ढूंढ लिया जो उसकी मुख्य दिलचस्पी से मेल

खाता था। उसने कला-कृतियों की एक दूकान खोल ली और इस तरह अपनी शक्ति अनुसार मानवीय श्रम-विभाजन में अपना हिस्सा बंटाने में सफल हुआ।

एक बत्तीस वर्ष की आयु का मनुष्य जिसे वाक्-रोध (ऐफेज़िया) का रोग था मेरे पास उपचार के लिए आया। वह फुस-फुसाहट से अधिक जोर से बोल नहीं सकता था। उसकी ऐसी दशा दो वर्ष से थी। इसका आरम्भ उस दिन हुआ जब उसका पांव केले के छिलके पर फिसला और वह एक मोटर-टैक्सी के दरवाजे से जा टकराया। दो दिन उसे उल्टी होती रही और उस के बाद सिर दर्द उसे दबाए रहा। इसमें सन्देह नहीं कि उसके दिमाग को आघात पहुंचा था; परन्तु, क्योंकि उसके गले में कोई शारीरिक परिवर्तन नहीं हुआ था, केवल दिमाग का आघात ही इस बातको पूरे तौरसे व्याख्या नहीं कर सकता था कि वह बोल क्यों नहीं सकता था। लगभग दो महीने तक वह बिलकुल ही गूंगा रहा। यह दुर्घटना अब अदालतमें पेश थी; मुकदमा अभी समाप्त नहीं हुआ। उसका कहना है कि दुर्घटना के लिए टैक्सी-ड्राईवर ही उत्तरदायी है और इसलिए हरजाने का दावा उसने टैक्सी की कम्पनी पर किया है। हम समझ सकते हैं कि दावेके मुकदमे

तथा रात को घर लौटकर मां के पास बैठकर ही चुप हो पाता था। जब उससे प्रथम संस्मरण के विषय में पूछा गया तो उसने कहा—"जब मैं चार बरस का था मुझे अपने घर में खिड़की के पास बैठकर बाहर सड़क को देखना और लोगों को काम करते हुए देखने में बड़ा आनन्द आता था।" दूसरों को काम करते हुए वह देखना चाहता है। खुद खिड़की पर बैठकर केवल उन्हें देखना ही चाहता है। यदि उसकी दशा में परिवर्तन करना है तो हम ऐसा उसे उसके इस विश्वास से छुड़ाकर ही कर सकेंगे कि वह दूसरों के काम में सहायक नहीं हो सकता। अब तक उसने यही सोचा है कि जीने का तरीका दूसरों का सहारा पाने में ही है। हमें उसका सारा रवैया ही बदलना है। उसे बुरा कहकर तो कुछ नहीं बनेगा। दवाइयां देकर या पौष्टिक पदार्थ देकर उसे विश्वास नहीं दिलाया जा सकता। उसकी आरम्भिक स्मृति अलबत्ता हमारे लिए यह आसान कर देती है कि उसे ऐसा काम सुझाएं जिसमें उसकी दिलचस्पी हो। उसकी मुख्य दिलचस्पी दूसरों को काम करते हुए देखने में है। हमें पता चला कि उसकी दूर की नजर कमजोर थी, और इस कमी के कारण वह सदा दृष्टव्य बातों को अधिक ध्यान देता रहा है। जब उसने व्यवसाय सम्बन्धी समस्या को सुलझाना शुरू किया तो उसकी प्रवृत्ति थी कि महज देखता-भर रहे, काम न करे। परन्तु यह दोनों तो परस्पर विरोधी बातें हैं। उपचार के बाद जब वह ठीक हो गया तो उसने ऐसा व्यवसाय ढूंढ लिया जो उसकी मुख्य दिलचस्पी से मेल

खाता था। उसने कला-कृतियों की एक दूकान खोज ली और इस तरह अपनी शक्ति अनुसार मानवीय श्रम-विभाजन में अपना हिस्सा बंटाने में सफल हुआ।

एक बत्तीस वर्ष की आयु का मनुष्य जिसे वाक्-रोध (ऐफेज़िया) का रोग था मेरे पास उपचार के लिए आया। वह फुस-फुसाहट से अधिक जोर से बोल नहीं सकता था। उसकी ऐसी दशा दो वर्ष से थी। इसका आरम्भ उस दिन हुआ जब उसका पांव केले के छिलके पर फिसला और वह एक मोटर-टैक्सी के दरवाज़े से जा टकराया। दो दिन उसे उल्टी होती रही और उस के बाद सिर दर्द उसे दबाए रहा। इसमें सन्देह नहीं कि उसके दिमाग को आघात पहुंचा था; परन्तु, क्योंकि उसके गले में कोई आङ्गिक परिवर्तन नहीं हुआ था,केवल दिमाग का आघात ही इस बातकी पूरे तौरसे व्याख्या नहीं कर सकता था कि वह बोल क्यों नहीं सकता था। लगभग दो महीने तक वह बिलकुल ही गूंगा रहा। वह दुर्घटना अब अदालतमें पेश थी;मुकदमा अभी समाप्त नहीं हुआ। उसका कहना है कि दुर्घटना के लिए टैक्सी-ड्राई-वर ही उत्तरदायी है और इसलिए हरजाने का दावा उसने टैक्सी की कम्पनी पर किया है। हम समझ सकते हैं कि दावेके मुकदमे में इसी प्रकार का कोई बड़ा आघात दिखाकर उसकी स्थिति बेहतर रहेगी। हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह प्रपञ्ची है। परन्तु ऊंचा बोलने के लिए उसे कोई बड़ी प्रेरणा नहीं मिली। कदाचित् उस दुर्घटना के आकस्मिक आघात के बाद बोलने में

उसे सच्ची कठिनाई भी पेश आई हो और अब इस दशा को बदलने का उसे कोई कारण नहीं दीखा।

इस रोगीने अपना गला गलों के विशिष्ट डाक्टर को दिखाया, लेकिन डाक्टर को कोई बीमारी समझ नहीं आई। अपनी पहली स्मृतिके विषयमें पूछने पर उसने बताया—"पीठके बल लेटा हुआ मैं पालने में झूल रहा था। मेरे देखते-देखते पालने का बांध खुल गया, पालना गिर गया और मुझे खूब चोट लगी।" गिरना तो कोई नही चाहता, लेकिन यह व्यक्ति गिर जाने पर अधिक महत्त्व दे रहा था। गिरने के भय पर उसका ध्यान केन्द्रित हो चुका है। यह उसकी मुख्य दिलचस्पी बन गया है। "मेरे गिरने के साथ ही दरवाजा खुला और मां अन्दर आई और अतीव दुखी हुई।" गिरने के कारण वह माता के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर सका। परन्तु यह स्मृति एक उलाहने के बराबर भी है—"जितना उसे मेरा ख्याल करना चाहिए था। उतना उसने नही किया।" इसी तरह वह टैक्सी-ड्राईवर भी गलती पर था और वह कम्पनी भी जिसकी वह टैक्सी थी। इनमें से किसीने भी उसका उचित ध्यान नहीं किया। यह जीवन-प्रणाली लाड-प्यार से बिगड़े एक बच्चे की है: यह दूसरों को अपने लिए उत्तरदायी ठहराना चाहता है। उसकी दूसरी स्मृति मे भी यही बात दोहराई गई है।" पांच वर्ष की अवस्था में मैं बीस फुट नीचे गिरा और मेरे ऊपर लकड़ी का एक भारी फट्टा था। पांच मिनट तक मै कुछ बोल नहीं सका।" यह व्यक्ति तो बोली गंवा बैठने में चतुर दीखता है। उसने इसी

का अभ्यास किया है और गिरने को बोलने से इन्कार करने का कारण बना लेता है। हम इसे कारण नहीं समझ सकते; परन्तु जान पड़ता है कि वह इसे कारण समझता है। इस ढङ्ग का उसे अभ्यास है, और अब जब कि वह गिरता है तो यह स्वाभाविक हो जाता है कि वह बोल नहीं सकता। उसका उपचार तभी सम्भव है जब कि वह यह समझ जाय कि यह भूल है–गिरने और बोली बन्द होने में कोई सम्बन्ध नहीं, विशेषतया यदि वह यह समझ ले कि किसी दुर्घटना के बाद दो वर्ष तक उसे फुसफुसाते फिरने की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन अपने संस्मरण में वह यह भी बता देता है कि यह समझना उसके लिए कठिन क्यों है। उसने अपनी बात जारी रखते हुए कहा—"मेरी माता बाहर आई। वह बड़ी उत्तेजित दीख पड़ती थी।" दोनों अवसरों पर उसके गिरने से माता उत्तेजित हुई और उसका ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। यह एक ऐसा बच्चा था जो लाड-प्यार चाहता था, दूसरों के ध्यान का केन्द्र बनना चाहता था। हम समझ सकते हैं कि इन आप-बीती दुर्घटनाओं का मुआवजा वह किस रूप में लेना चाहता है। लाड-प्यार से बिगड़े दूसरे बच्चे ऐसी दुर्घटनाओं के शिकार होने पर ऐसा शायद ही करें। लेकिन यह सम्भव है कि वाणी-विकार के ढङ्ग का उन्हें पता न चल सके। यह तो हमारे रोगीकी विशिष्टता है; अपने अनुभवों से जिस जीवन-प्रणाली की उसने रचना की है यह उसीका अंश है।

एक छब्बीस वर्ष का नवयुवक मेरे पास यह शिकायत लेकर

आया कि वह किसी सन्तोषप्रद व्यवसाय की तलाश नहीं कर सकता। आठ वरस हुए उसके पिता ने उसे दलाली के काम में डाला था; परन्तु इस काम को उसने कभी पसन्द नहीं किया और हाल ही में छोड़ भी दिया। उसने किसी दूसरे काम की तलाश की; परन्तु सफल नहीं हुआ। उसे नींद न आने की भी शिकायत थी और आत्म-हत्या के विचार उसे रह-रहकर सताया करते थे। जब दलाली का काम उसने छोड़ दिया, तो वह घर छोड़कर भाग गया और किसी दूसरे शहर में नौकरी ढूंढ ली; परन्तु एक पत्र में अपनी माता की बीमारी का समाचार पाकर वह परिवार के साथ ही रहने के लिए लौट आया।

इस आप-बीती से ही हम अनुमान लगा सकते हैं कि इसकी माता ने लाड-प्यार करके इसे बिगाड़ रखा था और इसका पिता इस पर अपना प्रभुत्व जमाकर रखना चाहता था। कदाचित् हमें यह भी पता चले कि इसका जीवन पिता की कठोरता के विरुद्ध विद्रोह था। जब परिवार में उसकी दशा के विषय में उससे पूछा गया तो उसने उत्तर दिया कि अपने माता-पिता का वह सबसे छोटा बच्चा और एक ही लड़का था। उसकी दो बहनें थीं, बड़ी सदा उस पर रौब छांटा करती थी और छोटी भी भिन्न नहीं थी। उसके पिता लगातार उसे टोका करते थे और उसे यह बात बहुत चुभती थी कि सारा परिवार ही उस पर प्रभुत्व जमाता था। केवल माता ही उसकी मित्र थी।

१४ वर्ष का होने तक वह स्कूल जाता रहा। उसके बाद उसके

पिता ने एक कृषि-विद्यालय में उसे प्रविष्ट करवा दिया ताकि खेती के लिए जिस भूमि को खरीदने की वह योजना बना रहा था उस में वह सहायक हो सके। यह लड़का स्कूल में अच्छी तरह पढ़ता रहा परन्तु उसने यही फैसला किया कि वह खेती-बाड़ी का काम नहीं करेगा। फिर उसके पिता ने उसे दलाली के दफ्तर में जगह ले दी। यह हैरानी की बात है कि वह आठ वर्ष तक इस काम में जुटा रहा; परन्तु इसका कारण वह यह देता है कि जहां तक सम्भव था वह माता के लिए कुछ करना चाहता था।

बचपन में वह ढीला, सुस्त और डरपोक था; अंधेरे और अकेलेपन से वह भय खाता था। हम जब भी किसी ढीले बच्चे के विषय में सुने तो हमें उस व्यक्ति की तलाश करनी चाहिए जो उसे उसके लिए साफ-सुथरा रखा करता है। जब हम ऐसे बच्चे की बात सुनें जो अंधेरेसे डरता हो और अकेला छोड़ा जाना ना-पसन्द करता हो तो हमें ऐसे व्यक्ति की तलाश करनी चाहिए जिस का ध्यान वह आकृष्ट कर सकता है और जो उसे आश्वासन दिया करता है। इस नवयुवक के लिए वह व्यक्ति इसकी माता थी। दोस्त बनाना इसने कठिन समझ लिया था परन्तु अपरिचितों में काफी हद तक वह मिल-जुल सकता था। उसने कभी प्रेम नहीं किया था, प्रेम में उसकी दिलचस्पी भी नहीं थी और वह कभी विवाह नहीं करना चाहता था। अपने माता-पिता की विवाहावस्था को वह सुखी नहीं समझता था; और इससे हम समझ सकेंगे कि क्यों अपने लिए उसने विवाह की बात भुला रखी थी।

दलाली के काम में लगे रहने के लिए अब भी उसका पिता दबाव डाला करता है। स्वयं वह विज्ञापन के व्यवसाय में जाना चाहता है परन्तु उसे निश्चय है कि इस व्यवसाय की तैयारी के लिए परिवार की ओर से उसे रुपया पैसा नहीं मिलेगा। हर बात में हमें स्पष्ट होगा कि उसकी हरकतों का उद्देश्य अपने आचरण से पिता को नाराज करना ही था। जब वह दलाली के दफ्तर में था तो उसे यह नहीं सूझा, चाहे वह आत्म-निर्भर भी हो चुका था कि वह अपनी कमाई का प्रयोग विज्ञापन-कला के सीखनेमें करे। यह बात तो पिता पर एक नई मांग के रूप में वह अब सोचता है।

उसका प्रथम संस्मरण स्पष्टतया लाड-प्यारसे बिगड़े एक बच्चे के कठोर पिताके विरुद्ध शिकवेको दरशाता है।उसे याद है कि किस तरह वह पिता के होटल में काम किया करता था। प्लेटों को साफ करना और उन्हें एक मेज से दूसरे मेज पर रखना उसे पसन्द था। लेकिन इनसे जिस प्रकार वह गोल-मोल करता था उससे उसके पिता को क्रोध आ गया और ग्राहकों के सामने ही उन्होंने इसे थप्पड़ मार दिया। अपने प्रारम्भिक अनुभव को वह यह सिद्ध करने में प्रकट करता है कि इसका पिता उसका शत्रु है और उसका सारा जीवन उसीके विरुद्ध संघर्ष का रहा है। अब भी काम करने की उसकी कोई सच्ची इच्छा नहीं है,उसे तो पिता को आघात पहुँचा कर ही पूर्ण रूप से सन्तोष मिलेगा।

आत्म-हत्या के उसके विचार भी बखूबी समझे जा सकते हैं। प्रत्येक आत्म-हत्या एक शिकवा हुआ करती है, और आत्म-हत्या

की बात सोचकर जैसे वह कहता है—"मेरा पिता हर अपराध का दोषी है।" अपने व्यवसाय में उसकी असन्तुष्टि भी पिता के विरुद्ध निर्दिष्ट है। पिता जो भी योजना प्रस्तुत करता है, पुत्र उसे रद्द कर देता है, परन्तु यह तो लाड-प्यार से बिगड़ा बच्चा है और स्वतन्त्ररूप से व्यवसाय नहीं कर सकता। वास्तव में वह काम ही नहीं करना चाहता; वह तो खेलना चाहता है; परन्तु माता से उस का कुछ सहयोग अभी शेष है। परन्तु अपने पिता से संघर्ष उसकी नींद न आने की लत की किस तरह व्याख्या दे सकता है ?

यदि वह सो नहीं सकता तो अगले दिन काम के लिए उसकी तैयारी सन्तोषप्रद नहीं है। उसका पिता काम करने के लिए उसकी प्रतीक्षा कर रहा है परन्तु लड़का तो थका हुआ है और काम नहीं कर सकता। निस्सन्देह वह यह कह सकता है—"मैं काम नहीं करना चाहता; मुझसे जबर्दस्ती नहीं चल सकती।" परंतु उधर माता के प्रति उसका लगाव है और परिवार की कमजोर आर्थिक स्थिति। यदि वह काम करने से साफ इन्कार कर दे तो उसके परिवार के सदस्य सोचेंगे कि यह तो एकदम निराशा-जनक निकला और उसके भरण-पोषण से मुंह मोड़ लेंगे। उसे तो एक अच्छे बहाने की जरूरत है; और वह इस प्रत्यक्षतः अनिच्छित दुर्भाग्य—नींद न आने से—उसे प्राप्त हो जाता है।

पहले तो उसने कहा कि उसे कभी स्वप्न नहीं दीखते, परन्तु बाद में उसे एक सपना याद आया जो उसे बार-बार दीखा करता है। उसे स्वप्न में दीखता है कि कोई दीवार पर गेंद फेंकता है और

गेंद हमेशा उछलकर दूर जा गिरता है। देखने में यह स्वप्न निरर्थक जान पड़ता है। क्या इस स्वप्न और उसकी जीवन-प्रणाली में किसी सम्बन्ध की हम खोज लगा सकते हैं। हमने इससे पूछा—"फिर क्या होता है? जब गेंद उछलकर दूर जा गिरती है तो तुम्हें कैसा लगता है?" उसने बताया—"जब-जब भी वह दूर उछलता तो मेरी नींद उचट गई।" अब उसने नींद न आने के रोग की सारी रचना स्पष्ट करके रख दी है। वह इस स्वप्न का प्रयोग घड़ी की घंटी की तरह नींद से जागने के लिए करता है। वह कल्पना करता है कि प्रत्येक मनुष्य उसे आगे बढ़ाने के लिए धक्का देता है, उससे वह काम करवाने के लिए, जिन्हें वह नापसन्द करता है, मजबूर करता और फेरता है। वह स्वप्न देखता है कि कोई दीवार पर गेंद फेंक रहा है। इसी वक्त वह हमेशा जाग जाया करता है। परिणामस्वरूप अगले दिन वह थका-थका-सा रहता है, और थके होने पर काम नहीं कर सकता। उसका पिता इस विषय में चिन्तित रहता है कि वह काम किया करे, और इस तरह घुमा-फिराकर वह अपने पिता को पराजित कर देता है। यदि हम इसकी पिता के विरुद्ध लड़ाई को देखें तो ऐसे साधन अपनाने पर हमें उसे बड़ा बुद्धिमान् मानना होगा। लेकिन उसकी जीवन-प्रणाली अपने अथवा दूसरों के लिए बहुत सन्तोषप्रद नहीं है और उसे बदलने के लिए हमें उसकी सहायता अवश्य करनी चाहिए।

जब मैंने इसके स्वप्न की व्याख्या कर दी तो उसे यह स्वप्न

चीखना बन्द होगया, परन्तु उसने बताया कि अब भी कभी-कभी रात को वह जाग जाया करता है। स्वप्न को जारी रखने की हिम्मत तो उसमें अब नही है क्योंकि उसने देखा कि स्वप्न के उद्देश्यका पता चल सकता है,परन्तु अगले दिनके लिए अब भी वह अपने को थका लेता है। उसे सहायता देने के लिए हम क्या करे; इसका एक ही तरीका हो सकता है और वह यह कि पिता के प्रति उसके दृष्टिकोण को बदला जाय । जब तक उसकी सारी दिल-चस्पी पिता को चिढ़ाने और हराने में ही व्यस्त होगी, तब तक वह कुछ भी सुधर नही सकता। मैं यह मानकर बढ़ता हूं, जैसा कि अवश्य ही मानकर हमे बढ़ना चाहिए, कि रोगी के रवैये में भी औचित्य है। मैंने कहा—"जान पड़ता है कि तुम्हारे पिता एक-दम गलती मे हैं। यह उनकी भूल है जो हरदम अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं और तुम पर छाए रहना चाहते हैं; शायद उनकी वृद्धावस्था है और उनका उपचार होना चाहिए। परन्तु तुम क्या कर सकते हो? तुम उन्हें बदलने की आशा नही कर सकते। समझो कि वर्षा हो रही है,इस हालत में तुम क्या कर सकते हो? तुम एक छाता हाथ मे ले सकते हो अथवा टैक्सी में बैठ सकते हो, परन्तु वर्षा के विरुद्ध लड़ने अथवा उसे वश में करने के प्रयत्नों का तो कोई अर्थ नहीं होगा! इस समय तुम वर्षा से लडने मे अपना समय खर्च कर रहे हो। तुम समझते हो कि यही बल का लक्षण है। तुम्हारा विश्वास है कि तुम विजय भी पा रहे हो। परन्तु तम्हारी विजय दूसरों से अधिक तुम्हें ही हानि

पहुंचा रही है।" मैं उसकी सभी अभिव्यक्तियों के ऐक्य को दिखाता हूं—व्यवसाय के सम्बन्ध में उसकी अनिश्चितता, आत्म-हत्या के विचार, घर से भागना, नींद का न आना; और मैं उसे बताता हूं कि किस तरह इन सबमें अपने पिता को दण्ड देने के बदले वह अपने आपको दण्ड दिये जा रहा है।

मैं उसे यह भी सलाह देता हूं—"जब आज रात को तुम सोने लगो तो यह सोचना कि रात को बार-बार तुम अपने को जगाना चाहते हो ताकि तुम कल थके होओ। यह भी सोचना कि कल तुम इतने थके होओगे कि काम पर नहीं जा सकोगे और तुम्हारे पिता क्रोध से फड़क उठेंगे। मैं चाहता हूं कि वह सत्य का सामना करे। उसकी मुख्य दिलचस्पी तो पिता को चिढ़ाने और चोट पहुंचाने में ही है। जब तक इस संघर्ष को हम बन्द नहीं करते, उपचार कोई लाभ नहीं पहुँचा सकेगा। यह लाड-प्यार से बिगड़ा एक बच्चा है, हम सभी यह देख सकते हैं, और अब वह खुद भी यह देखने लग गया है।

यह स्थिति तथाकथित 'अतिशय मातृ-प्रेम और पितृ-द्वेष' से मिलती है। यह नवयुवक अपने पिता को हानि पहुचाने में रत है, और अपनी माता से घनिष्ठतया बधा है। लेकिन इस बन्धन में कामुकता नहीं है। इसकी माता ने इससे लाड-प्यार किया है और पिता का व्यवहार उससे सहानुभूति-पूर्ण नहीं रहा है। इसने गलत शिक्षा प्राप्त की है और स्थिति का गलत अभिप्राय समझा है। इसकी कठिनाइयों में पैतृक स्वभाव को कोई स्थान नहीं है।

यह स्वभाव इसे अपने जंगली पूर्वजों से नहीं मिला जो गिरोह के मुखिया को मारकर खा जाया करते थे। इसे तो उसके अपने अनुभवों में जन्म मिला है। इस तरह का रवैया प्रत्येक बच्चे में पैदा किया जा सकता है। हमे तो केवल यही चाहिए कि मां बच्चे से लाड-प्यार करके उसे बिगाड़े, जैसा कि इसकी मां ने किया, पिता कठोर हो जैसा कि इसका पिता था। यदि बच्चा अपने पिताके विरुद्ध विद्रोह करता है और अपने सामने प्रस्तुत समस्याओं को स्वतन्त्रता से सुलझाने में विफल हो जाता है तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि ऐसी जीवन-प्रणाली को अपनाना कितना सरल काम था।

राजकमल मनोविज्ञान-माला

१ बचपन के पहले पांच साल
२ हीन-भाव : उसका विश्लेषण और उपचार
३ बचपन : पांच से दस साल
४ हमारे जीवन का अर्थ : (भाग एक)
५ प्रेम और विवाह
६ हमारे जीवन का अर्थ : (भाग दो)
७ व्यक्तित्व
८ स्मरण-शक्ति

प्रेम और विवाह

डा० डब्ल्यू बैरान वोल्फ़

वैयक्तिक जीवन की अधिकांश असफलताएं प्रेम और विवाह के क्षेत्र में ही पाई जाती हैं। इसीलिए इस विषय का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

राजकमल प्रकाशन

प्रेम और विवाह

(...क की पुस्तक How to be Happy Though Human
एक अध्याय का अनुवाद)

लेखक
डा० डब्ल्यू बैरान वोल्फ

अनुवादक
श्री गङ्गाप्रसाद सिंह

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

प्रकाशक :
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
दिल्ली।

मूल्य एक रुपया

मुद्रक :
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली।

क्रम

वैवाहिक निराशा के कुछ कारण—अज्ञान—वैवाहिक असफलता के कारण के रूप में—विवाह—कर्तव्य के रूप में—काम-वृत्ति का समाजीकरण—गर्भ-निरोध का महत्व—लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता का अभिशाप—वैषयिक नैतिकता का ऐतिहासिक उद्गम—सापेक्षिक आचरण-शास्त्र बनाम प्राचीन मनोविज्ञान—लिंग परिवर्तन की प्रवृत्ति—कामोद्दीपक आकर्षण और खतरनाक अवस्था—लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता का दुःखान्त—भावात्मक अपरिपक्वता का रोग—कल्पनात्मक भ्रान्ति—रोमांचकारी इन्द्रजाल-प्रेमासक्ति—प्रथम दर्शन में उत्पन्न प्रेमासक्ति का भविष्य—परिपक्व प्रेम बनाम भावुकता—कुछ उपयोगी सुझाव

प्रेम और विवाह

रचनात्मक आत्म-निर्माण एक कला है, तथा प्रेम और विवाह इस कला की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। प्रेम केवल मानव की अन्तरात्मा का विकास ही नहीं करता, वरन् उसमें निहित उस अमूल्य भावना की सिद्धि का कारण होता है, जो पुरुष नारी के प्रति तथा नारी पुरुष के प्रति अनुभव करती है। प्रेम जहाँ एक तरफ नये उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों की सृष्टि करता है, वहाँ दूसरी तरफ व्यक्तिगत विकास के अद्वितीय अवसर भी प्रदान करता है। जिस प्रकार अन्तरात्मा का पूर्ण विकास सुखी प्रेम-जीवन का प्रधान तत्त्व है, उसी प्रकार लोक-हितकारी आचरण के बिना आदर्श प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। और यह आचरण हमारे दिन-प्रतिदिन के उन सम्बन्धों में व्यक्त होता है, जिनके निर्वाह के लिए अधिक-से-अधिक आत्म-विश्वास, ठोस दृष्टिकोण, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा इन सबसे बढ़कर, सुविकसित विनोद-बुद्धि (सेन्स ऑफ ह्यूमर) की अनिवार्य आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मनुष्य की अधिकांश असफलताएं जीवन के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा प्रेम के ही क्षेत्र में देखने को मिलती है तथा अनेक स्नायु-रोगी

(न्यूरोटिक) व्यक्तियों की जीवन-नौका प्रेम और विवाह की शिला से ही टकराकर विचूर्ण होती है।

प्रेम और विवाह के क्षेत्र में ग़लत आचरण इतना सामान्य हो गया है कि शायद ही किसी को दस ऐसे दम्पति मिले जो सब प्रकार से सुखी हों। दूसरी तरफ शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने ग़लत सम्बन्धों के कारण दुखी दम्पति न देखे हों या जिसे ऐसे दम्पतियों के पारस्परिक अभियोग और दोषारोपण सुनने को विवश न होना पड़ा हो जिनके लिए प्रेम शांति, सहयोग और आत्म-विकास का साधन न बनकर शारीरिक और आध्यात्मिक विकृति का कारण बन गया है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सुन्दर पाचन-शक्ति वाला व्यक्ति इस बात की घोषणा नहीं करता रहता कि उसने रात का भोजन भलीभांति पचा लिया है, ठीक उसी प्रकार जो दम्पति वास्तव में सुखी होते हैं वे अपने वैवाहिक आनन्द का ढिंढोरा पीटते नहीं फिरते। इसके विपरीत ज्यों ही कोई बेजोड़ विवाह-सम्बन्ध हो जाता है, तुरन्त दो ऐसे दुखी व्यक्ति सामने आते हैं जो पारस्परिक सहयोग में अपनी असफलता का निरन्तर रोना रोते दिखाई देते हैं। जहाँ एक तरफ़ अखबारों के शीर्षक असफल प्रेम से उत्पन्न दुखों का शोर मचाया करते हैं, वहां दूसरी तरफ अनेक ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो प्रेम और विवाह के पवित्र सम्बन्धों में—चाहे उनका रूप और स्थान जो भी हो—जीवन का स्वाभाविक आनन्द अनुभव करते हैं। यद्यपि यह बताना कठिन है कि

आनन्दविहीन प्रेम-सम्बन्धों तथा प्रेमहीन वैवाहिक सम्बन्धों का सफल प्रेम एवं विवाहों से क्या अनुपात है, फिर भी सुन्दर विवाह और सुखी प्रेम का अस्तित्व है, इस पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक दुखी विवाह-सम्बन्धों का प्रश्न है, कम-से-कम इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें से अधिकांश के पीछे ऐसे कारण होते है जिनसे बचाव किया जा सकता है। हमारे दृष्टिकोण से वैवाहिक असन्तोष के इन निवारणीय कारणों का विश्लेषण परम्परागत नैतिक मापदण्डों से न करके इस प्रकार करना चाहिए मानो दुखी विवाह-सम्बन्धों से बिखरे हुए ये जीवन मानसिक चिकित्सालय की जीवन-प्रयोगशाला के असफल प्रयोग हों। इन असफलताओं का अध्ययन करके हम आचरण-सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम निकाल सकते हैं, जिनसे उन व्यक्तियों का लाभ हो सके जो या तो अनुभव करते है कि उनकी प्रेम-ज्योति धुंधली होती जा रही है अथवा जो मानवीय सहयोग के इस अत्यन्त रोमांचकारी क्षेत्र (प्रेम और विवाह) मे पदार्पण करने जा रहे है।

समाज के प्रत्येक वर्ग मे पाये जाने वाले आनन्दविहीन और असन्तोषपूर्ण विवाहो की व्याख्या करने के लिए सबसे पहले हमे यह जान लेना चाहिए कि सुखी वैवाहिक जीवन के तत्त्व क्या है। परन्तु यह प्रश्न बड़ा कठिन है। वैवाहिक आनन्द का कोई निश्चित माप-दण्ड नहीं है और न कोई ऐसा

निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) नियम है जिसके अनुसार इस अतीव कलापूर्ण क्षेत्र में मानवीय सम्बन्धों का नियन्त्रण होता हो। अनेक स्त्री और पुरुष ऐसे जीवन में सुखी हैं जो अन्य स्त्री-पुरुषों के दुःख और निरुत्साह का कारण बन जाता है। कई दम्पति सन्तान के अभाव में दुखी हैं, तो कई बिना सन्तान के ही पूर्ण सुखी हैं; कई अपनी ग़रीबी में सुखी हैं तो कइयों की आर्थिक अवस्था ही उनके दुःख की जड़ है; शारीरिक प्रतिकूलता जहाँ एक दम्पति के दुःख का कारण है, वहीं वह दूसरे के सुन्दर सहयोग का आधार है। अनेक ऐसी बातें हैं जिनको प्रेम-सम्बन्ध के आरम्भ में कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, परन्तु समय बीतने पर वे ही सुख या दुःख का कारण बन जाती हैं। अनेक दम्पति जो आरम्भ मे सब प्रकार से सुखी होते हैं, बाद को दुखी रहने लगते हैं, क्योंकि मनुष्यों का मानसिक और आध्यात्मिक विकास विभिन्न गतियों से होता है।

सुखी वैवाहिक जीवन की कुछ मौलिक आवश्यकताएं इस प्रकार हैं—प्रेम-बन्धन में बंधने वाले दोनों साथियों मे आत्म-सम्मान की ठोस बुद्धि तथा सुविकसित सामाजिक भावना होनी चाहिए। दोनों ही को एक-दूसरे को नीचा दिखाकर अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की विकृत प्रतिद्वन्द्विता से मुक्त होना चाहिए। मानसिक परिपक्वता, शारीरिक स्वास्थ्य, दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्रता, प्रेम-कला का ज्ञान तथा गर्भ-निरोध का अभ्यास भी न्द कामुक-जीवन की पृष्ठभूमि है। सामाजिक उत्तरदायित्व

की परिपक्व भावना, वस्तुस्थिति के अनुकूल आचरण करने की योग्यता, मानसिक विकृति तथा काल्पनिक आदर्शवाद से मुक्ति, विस्तृत एवं उदार मानवीय प्रवृत्ति तथा सहयोग के आधार पर आगे बढ़ने, कष्ट उठाने और जीवन के सुख-दुःख में भाग लेने की अन्तःप्रेरणा—ये ही दिन-प्रतिदिन की प्रेम-समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझाने के मूल-मंत्र हैं। अपने वैवाहिक साथी की परिस्थिति से पूर्ण आत्मीयता तथा उसे निरन्तर उत्साहित करते रहने की तत्परता लोगों की साधारण बाधाओं को दूर कर देती है। साथ ही यदि दोनों की समाज के लिए उपयोगी काम-धन्धों में भी समानता हो तो सोने में सुगन्ध आ जाती है। अन्त में, आर्थिक स्वतन्त्रता, धार्मिक तथा सामाजिक साम्यता और स्नायु-रोगी सम्बन्धियों से छुटकारा, यदि उपलब्ध हों तो यह वैवाहिक बन्धन को सुदृढ़ बनाने में सहायक होते हैं।

वैवाहिक निराशा के कुछ कारण

बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जो पिछले परिच्छेद में बताये हुए सभी आदर्श साधनों के साथ विवाह सम्बन्ध में प्रवेश करते हैं। जब भी दो मनुष्य परस्पर प्रेम करते हैं, वे केवल एक दूसरे को ही नहीं, वरन् एक-दूसरे से सम्बन्ध रखने वाली सम्पूर्ण परम्परा और पृष्ठभूमि की एक-एक चीज को प्रेम करते [illegible] वांछित मौलिक आवश्यकताओं में से कुछ की [illegible]

तो यह कोई ऐसा अभाव नहीं है कि विवाह सम्बन्ध सुखी न हो सके, क्योंकि विवाह का ढाँचा एकदम जकड़ा हुआ नहीं होता, उसे हिलाया-डुलाया भी जा सकता है। जिस प्रकार प्रकृति शरीर के एक अङ्ग की दुर्बलता दूसरे अङ्ग को उतना ही प्रौढ़ बनाकर पूरी कर देती है, ठीक उसी प्रकार दो प्रेमियों के वैवाहिक सयोग मे एक दूसरे के अभावों की पूर्ति की अनेक सम्भावनाएं निहित रहती है। किसी विशेष अभाव के होते हुए भी कई ऐसे दम्पति, जिनके दुखी रहने की सम्भावना की जाती थी, वर्षों तक आनन्द का जीवन बिताते रहे है। इसका कारण अपने बच्चों मे दोनों प्रेमियों का समान स्नेह, अथवा किसी सामाजिक समस्या, महत्वाकांक्षा या उद्यम मे दोनों का सहयोग रहा है। हमने ऐसे भी दम्पति देखे है जिनकी आरम्भिक परिस्थिति को देखने से उनके प्रेम की असफलता निश्चित-सी प्रतीत होती थी, परन्तु उन्होंने संगीत, अश्व-प्रेम या अन्य किसी कार्य-विशेष के नाते से ही सारा जीवन साथ-साथ आनन्दपूर्वक बिता लिया।

स्त्री और पुरुषों की एक आश्चर्यजनक बड़ी संख्या अपने वैवाहिक साथी का चुनाव ठीक उसी प्रकार करती है जैसे एक सड़क बनाने वाला किसी गढ़े को बन्द करने के लिए कङ्कड़ पत्थर चुनता है। पुरुष आशा करता है कि उसकी पत्नी उसके अवगुणों और अभावों की हर प्रकार से क्षतिपूरक (कॉम्पेन्सेटिव) होगी तथा स्त्री भी अपने पति का चुनाव कुछ ऐसी ही झूठी आशाएं [illegible] करती है। यही कारण है कि जीवन मे हमें अनेक

बेजोड़ गठबन्धन—जैसे किसी निर्दयी पुरुष और अबला स्त्री मे, किसी जबरदस्त, मर्दानी औरत तथा स्त्रैण पुरुष में; किसी स्वतन्त्र एव साहसी पुरुष तथा निराश्रित, मूर्ख स्त्री मे; या किसी स्वस्थ और मोटी स्त्री और सूखे हुए किताबी कीड़े पुरुष मे—देखने को मिलते है। कितने ही स्त्री और पुरुष व्यक्ति-विशेष को इस आशा से चुनते है कि उसके साथ विवाह हो जाने पर उनके व्यक्तित्व के अनेक ऐसे अभाव, जिनको अपनी कायरतावश वे स्वयं दूर नहीं कर सकते, अपने-आप पूरे हो जायँगे। ऐसा लगता है मानो इस प्रकार के बने-बनाए गुणों वाले व्यक्ति से विवाह कर लेना कोई ऐसा जादू है जिसके द्वारा अब तक के असफल उद्देश्य तुरन्त प्राप्त हो जायँगे।

प्रेम-सम्बन्ध पारस्परिक सेवा और उत्साह के सुअवसर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विवाह-बन्धन सारे अभावों को दूर करने की रामबाण औषधि नहीं, वरन् एक कर्तव्य है जो वर्षों मे पूरा किया जा सकता है, और वह भी किसी जादू की लकडी के स्पर्श से नहीं, वल्कि सतत परिश्रम और सहानुभूति-पूर्ण सहयोग से। संभवतः स्त्री और पुरुष अधिक सुखी होते यदि विवाह-सम्बन्ध करना कठिन तथा विच्छेद कर लेना आसान होता। हम तो चाहते है कि स्त्री और पुरुष के सामाजिक साहस तथा सहयोग की कोई ऐसी परीक्षा हुआ करे जिससे पता चले कि वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के लिए दोनों ही अपना अहं (ईगो) दूसरे में मिला देने की इच्छा और योग्यता रखते हैं।

विवाह सम्बन्ध सुखी वहीं हो सकते हैं, जहाँ दोनों साथी अपने प्रेम-जीवन को एक ऐसे सामाजिक समझौते के पालन का सुअवसर समझते हैं, जो कठिनाइयों के बावजूद भी दोनों के पारस्परिक हित में भलीभांति कर्यान्वित किया जा सकता है।

बहुधा ऐसा होता है कि स्त्री और पुरुष, जो किसी चीज के खरीदने या कहीं बाहर जाने का साधारण निर्णय करने में बार-बार सोचने-समझने और मीन-मेख निकालने वाले होते हैं, विवाह जैसे महत्वपूर्ण सम्बन्ध को यूँ ही अनायास कर लेते है। इन पृष्ठों को पढ़ने वाला शायद ही कोई पाठक हो जो ऐसी महिलाओं को न जानता हो जो केवल एक मौसम के पहनावे का कपड़ा चुनने में सारा दिन बिता देंगी, परन्तु विवाह जैसा जीवन-सौदा केवल इस जरा-सी बात पर कर लेंगी कि 'अमुक व्यक्ति गाता बड़ा अच्छा है या शतरंज का चतुर खिलाड़ी है।' दूसरी तरफ ऐसे पुरुष कम नहीं है जो केवल आधी पाई के लाभ के लिए अपने व्यापारी-प्रतिद्वन्द्वी का हफ्तों पीछा करेंगे, तथा रातों-रात जागकर योजना बनायेंगे, परन्तु विवाह केवल इसलिए कर लेंगे कि लड़की का रंग साफ है या उसके टखनों का घुमाव सुन्दर है। कभी-कभी लड़कियाँ ईर्ष्या के मारे भी शादी कर लेती हैं, क्योंकि अपनी पहली पसन्द के व्यक्ति से शादी करा पाने में वे असफल रही हैं। इसी प्रकार कई ऐसे व्यक्तियों ने, जो वैसे तो सयाने हैं तथा अपना हित भलीभांति समझते हैं, अपने समीप की लड़की से केवल इसीलिए शादी कर ली कि खोजने की

तकलीफ से बच गए और आसानी से नजदीक में ही बीवी मिल गई।

जर्मनी के काले जङ्गलों में स्थित थुरङ्गिया के निवासियों में विवाह करने के लिए इच्छुक व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग की परीक्षा का एक अत्युत्तम तरीका प्रचलित है। भावी दूल्हे और दुलहिन के मित्र उन्हें जङ्गल के एक ऐसे भाग में ले जाते हैं जहाँ कोई भारी पेड़ गिरा हो, और दोनों तरफ मुठिया लगी हुई एक आरी देकर दोनों को लकड़ी चीरने के काम पर लगा देते हैं। चूँकि इस संयुक्त कार्य के सम्पादन के लिए दोनों व्यक्तियों के शरीर और शक्ति-प्रयोग में पूर्ण सामंजस्य होना परमावश्यक है, वे जिस तेजी, आसानी और कुशलता से लकड़ी चीरते हैं, उसे देखकर ही उनके भावी सुख और सहयोग की रूप-रेखा का अनुमान लगा लिया जाता है। परन्तु शहर में रहने वालों के लिए ऐसा आसान तरीका कोई नहीं है। हाँ, यदि किसी बड़े सन्दूक में अनेक प्रकार की चीजों को साथ-साथ रखना हो या किसी बुरी तरह उलझी हुई रस्सी की गांठे मिलकर सुलझानी हों, तो अलबत्ता थोडा अनुमान लगाया जा सकता है। पारस्परिक सहयोग और सामाजिक उत्तरदायित्व के क्षेत्रों में दो व्यक्तियों का पिछला इतिहास कैसा रहा है, इसका सूक्ष्म अध्ययन करके ही हम जान सकते हैं कि उनका वैवाहिक जीवन सुखी हो सकेगा अथवा नहीं।

हमने अब तक जितने सुखी प्रेम-सम्बन्धों तथा विच्छेदित

विवाह सम्बन्ध सुखी वहीं हो सकते हैं, जहाँ दोनों साथी अपने प्रेम-जीवन को एक ऐसे सामाजिक समझौते के पालन का सुअवसर समझते हैं, जो कठिनाइयों के बावजूद भी दोनों के पारस्परिक हित में भलीभांति कर्यान्वित किया जा सकता है।

बहुधा ऐसा होता है कि स्त्री और पुरुष, जो किसी चीज़ के खरीदने या कहीं बाहर जाने का साधारण निर्णय करने में बार-बार सोचने-समझने और मीन-मेख निकालने वाले होते हैं, विवाह जैसे महत्वपूर्ण सम्बन्ध को यूँ ही अनायास कर लेते हैं। इन पृष्ठों को पढ़ने वाला शायद ही कोई पाठक हो जो ऐसी महिलाओं को न जानता हो जो केवल एक मौसम के पहनावे का कपड़ा चुनने में सारा दिन बिता देगी, परन्तु विवाह जैसा जीवन-सौदा केवल इस ज़रा-सी बात पर कर लेंगी कि 'अमुक व्यक्ति गाता बड़ा अच्छा है या शतरंज का चतुर खिलाड़ी है।' दूसरी तरफ ऐसे पुरुष कम नहीं है जो केवल आधी पाई के लाभ के लिए अपने व्यापारी-प्रतिद्वन्द्वी का हफ्तों पीछा करेंगे, तथा रातों-रात जागकर योजना बनायेंगे, परन्तु विवाह केवल इसलिए कर लेंगे कि लड़की का रंग साफ है या उसके टखनों का घुमाव सुन्दर है। कभी-कभी लड़कियाँ ईर्ष्या के मारे भी शादी कर लेती हैं, क्योंकि अपनी पहली पसन्द के व्यक्ति से शादी करा पाने में वे असफल रही हैं। इसी प्रकार कई ऐसे व्यक्तियों ने, जो वैसे तो सयाने है तथा अपना हित भलीभांति समझते है, अपने समीप की किसी लड़की से केवल इसीलिए शादी कर ली कि खोजने की

तकलीफ से बच गए और आसानी से नजदीक मे ही बीवी मिल गई।

जर्मनी के काले जङ्गलों में स्थित थुरङ्गिया के निवासियों में विवाह करने के लिए इच्छुक व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग की परीक्षा का एक अत्युत्तम तरीका प्रचलित है। भावी दूल्हे और दुलहिन के मित्र उन्हें जङ्गल के एक ऐसे भाग मे ले जाते है जहाँ कोई भारी पेड़ गिरा हो, और दोनों तरफ मुठिया लगी हुई एक आरी देकर दोनों को लकड़ी चीरने के काम पर लगा देते है। चूँकि इस संयुक्त कार्य के सम्पादन के लिए दोनों व्यक्तियों के शरीर और शक्ति-प्रयोग मे पूर्ण सामंजस्य होना परमावश्यक है, वे जिस तेजी, आसानी और कुशलता से लकड़ी चीरते हैं, उसे देखकर ही उनके भावी सुख और सहयोग की रूप-रेखा का अनुमान लगा लिया जाता है। परन्तु शहर मे रहने वालों के लिए ऐसा आसान तरीका कोई नहीं है। हाँ, यदि किसी बडे सन्दूक में अनेक प्रकार की चीजों को साथ-साथ रखना हो या किसी बुरी तरह उलझी हुई रस्सी की गांठे मिलकर सुलझानी हों, तो अलबत्ता थोडा अनुमान लगाया जा सकता है। पारस्परिक सहयोग और सामाजिक उत्तरदायित्व के क्षेत्रों मे दो व्यक्तियों का पिछला इतिहास कैसा रहा है, इसका सूक्ष्म अध्ययन करके ही हम जान सकते है कि उनका वैवाहिक जीवन सुखी हो सकेगा अथवा नहीं।

हमने अब तक जितने सुखी प्रेम-सम्बन्धों तथा विच्छेदित

विवाहों का अध्ययन किया है, उनमें से अधिकांश के पीछे तीन प्रकार के प्रमुख कारण मिले हैं और दुर्भाग्यवश से सभी कारण ऐसे हैं जिनका निवारण किया जा सकता था—(१) शरीर-विज्ञान और प्रेम-कला का ज्ञान न होना, (२) दोनों साथियों में एक-दूसरे को नीचा दिखाकर प्रतिष्ठा प्राप्त करने की प्रतिद्वन्द्विता, तथा (३) साथी का चुनाव करने और उसके साथ सम्बन्ध-निर्वाह करने में बच्चों-जैसे काल्पनिक दृष्टिकोण से काम लेना। प्रत्येक असफल विवाह के पीछे इनमें से ही एक-न-एक कारण होता है; और जहाँ एक से अधिक एक साथ उपस्थित हो जाते हैं वहाँ सम्बन्ध-विच्छेद अवश्यम्भावी हो जाता है। वैवाहिक-अव्यवस्था के इन प्रधान कारणों की छान-बीन बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

अज्ञान—वैवाहिक असफलता के कारण के रूप में

सबसे पहले हम लोगों में शरीर-विज्ञान और प्रेम-कला की अनभिज्ञता पर विचार करें, क्योंकि तीनों कारणों में यह सबसे अक्षम्य है। लैंगिक-अज्ञान (सेक्सवल इग्नोरेन्स) जो हमारी पुराणपन्थी परम्परा की देन है तथा जिसके बन्धनों में हम आज भी जकड़े हुए हैं, वैवाहिक असफलता का एक प्रधान कारण है। पैतृक युग से चली आती हुई यह रूढ़ि, जिसके अनुसार इन्द्रिय-व्यापार की चर्चा भी वर्जित है, बचपन से ही हमारे जीवन पर अप विपाक्त प्रभाव डालने लगती है। हमारी शिक्षा की सारी

पद्धति ही इस मिथ्या भावना से ओत-प्रोत है कि 'विषय' एक संदिग्ध पापाचार और पाशविकता है, और इस सम्बन्ध मे एक रहस्यपूर्ण चुप्पी साधे रहना ही शिष्टता है।

बच्चों को जीवन के इन मौलिक सत्यो मे अवगत कराने के सुन्दर-से-सुन्दर अवसरों पर भी हम एक दिखावटी गम्भीरता की मुद्रा बनाए रहते है। ऐसे माता-पिता भी, जो जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में ठोस दृष्टिकोण से काम लेते है, अपने बच्चों के सामने प्रेम और सृजन के सरल व्यापारों की व्याख्या करने मे हिचक जाते है। शिक्षक, जो इस कर्तव्य का पालन आसानी से कर सकते है, माता-पिता के विचारों को ठेस पहुँचाने के भय से, चुप रह जाते है। डाक्टर भी, जो सम्भवतः माता-पिता के बाद इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति है, या तो आवश्यकता से अधिक व्यस्त हैं या इस विषय के साथ न्याय कर पाने की योग्यता ही नहीं रखते।

जीवन के आरम्भ से ही हमे चलने, बोलने अभिवादन करने तथा कायदे से कपड़े पहनने की शिक्षा दी जाती है। ज्यों ही हमारी स्कूली पढ़ाई की पहली सीढ़ी समाप्त हो जाती है हमे खेलने साईकल चलाने, लोगों से मिलने-जुलने तथा अन्य सामाजिक शिष्टाचारों की शिक्षा दी जाती हैं। जीविकोपार्जन करके हम अपना निर्वाह कर सकें, इनके लिए तरह-तरह के उद्योगो की शिक्षा भी हमे दी जाती है। परन्तु शायद ही कोई ऐसा स्त्री या पुरुष हो जिसे किसी कुशल शिक्षक द्वारा इन बात

की शिक्षा दी गई हो कि एक सफल प्रेमी, आदर्श पति अथवा प्रभावशालिनी पत्नी कैसे बना जा सकता है।

हमारे आधुनिक जीवन का अभिशाप यह है कि अश्लील आख्यानों से भरे हुए उपन्यासों, कामोद्दीपक चित्रों और लेखों से पूर्ण समाचारपत्रों, तथा लम्पटतापूर्ण दृश्यों से भरे हुए नाटकों और चलचित्रों की प्रबल धारा में बहाकर हम अपने नौजवानों का दिमाग़ अनेक गलत धारणाओं से भर ही नहीं देते, वरन् उनकी स्वाभाविक एवं सामान्य काम-वृत्ति को बुरी तरह उत्तेजित और विकृत भी बना देते हैं। जहाँ एक तरफ हम अपने ही हाथों इतने विषाक्त वातावरण की सृष्टि करते हैं वहाँ दूसरी तरफ लैंगिक ज्ञान (सैक्स) के ऊपर एक गुप्त और अपवित्रता का झूठा पर्दा डालकर अपने बच्चों को जीवन की इस अमूल्य जानकारी से वंचित रखते हैं।

जिस समय लड़की को यह विश्वास कराया जाता है कि उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य विवाह को सफल बनाना तथा एक सुन्दर घर बसाना है, काम-वृत्ति सम्बन्धी अत्यन्त उपयोगी जानकारी उससे छिपा रखी जाती है तथा इस विषय की किसी प्रयोगात्मक तैयारी को उसके लिए सर्वथा अवांछनीय घोषित कर दिया जाता है। सामान्य पुरुष की विचार-धारा पुराने दकिया-नूसी खयालों में जकड़ी हुई है। समाज की अच्छी कही जाने वाली लड़कियों मे से अधिकांश विवाह की कल्पित 'पवित्रता' को अधिक महत्व देती हैं बनिस्बत अपनी प्रेम-समस्या का ए

साहसपूर्ण हल ढूंढने के। अधिकांश पुरुष आज भी विश्वास करते है कि स्त्री 'अबला' है और यदि वे अकेले सारे परिवार का भरण-पोषण करने का श्रेय नहीं प्राप्त करते तो उनके पुरुषत्व मे बट्टा लग जायगा।

शारीरिक और लैंगिक स्वास्थ्य-विज्ञान के विषय में आज भी बहुत कम लोगों को ज्ञान है। अनेक स्त्री और पुरुष जो कई अनावश्यक व्यसनों की शिक्षा लेने में बड़ा उत्साह दिखाते हैं, प्रेम जैसे महत्वपूर्ण विषय की शिक्षा प्रकृति के सिर छोड़ देते हैं, हालांकि इसकी अनभिज्ञता से उत्पन्न दुर्भाग्य के उदाहरणों से सारा साहित्य भरा पड़ा है। चूंकि समाज मे अपने वर्ग की लड़कियों के साथ लैंगिक सम्बंध स्थापित करना पाप समझा जाता है, पैतृक सभ्यता की यह परम्परा हमारे नौजवानों को वेश्याओं के साथ 'तृप्ति' खोजने को मजबूर कर देती है। परिणाम यह होता है कि जब ऐसा नौजवान किसी 'अच्छी भली' लड़की से विवाह करता है तो उसे वेश्यालय के गन्दे और सन्दिग्ध तरीकों का पता होता है। ऐसे सम्बन्धों का अन्तिम परिणाम पति की नपुंसकता या पत्नी की घोर आत्म-ग्लानि के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

दूसरी तरफ जो स्त्री-पुरुष सामाजिक रूढ़ियों के कट्टर भक्त होते है, तीस-पैंतीस वर्ष की अवस्था प्रतीक्षा मे ही व्यतीत कर देते है। और जब बिना किसी पूर्व अनुभव के शादी करते है तो बहुधा अपने ही संकोच, भद्देपन और विषय-व्यापार के अज्ञान के कारण अपना वैवाहिक जीवन चौपट कर लेते हैं।

विवाह—कर्तव्य के रूप में

हमारी सभ्यता की परिस्थिति ठीक वैसी ही है जैसे किसी व्यक्ति को उसके जीवन के आरम्भ से यह तो बताया और दोहराया जाय कि यदि उसे समाज मे महत्व प्राप्त करना है तो भविष्य मे अमुक नदी पर एक बड़ा पुल बनाने के लिए उसे तैयार रहना चाहिए, परन्तु पुल बनवाने के ठीक समय तक उसको पुलों से सम्बन्ध रखने वाली जानकारी, उन्हें बनाने के साधन, कौशल तथा शिल्पविद्या से जान-बूझकर अनभिज्ञ रखा जाय। इस पृष्ठभूमि के साथ ही हम उन अनेक युवकों की दुरवस्था को समझ सकते हैं, जो या तो अपने माता-पिता द्वारा जबरदस्ती विवाह-बन्धन मे डाल दिए जाते है अथवा विवाह के सच्चे अर्थ से सर्वथा अनभिज्ञ रहते हुए भी स्वयं इस बन्धन मे फॅस जाते है। एक संस्था के रूप में विवाह का दुरुपयोग मनुष्य-मात्र की तद्विषयक अनभिज्ञता का एक दूसरा स्वरूप है। अनेक ऐसे युवक मिलेंगे, जो केवल इसलिए विवाह कर लेते है कि इससे उन्हे इन्द्रिय-वासना की तृप्ति का खुला द्वार मिल जाता है। इसी प्रकार अनेक स्त्रियां इस मिथ्या आशा मे विवाह कर लेती हैं कि शायद इसमे ही उनकी सारी समस्याओं का समाधान मिल जायगा।

विवाह एक कर्तव्य तथा सौदा दोनों है, इसके निर्वाह के ...ी और निरन्तर तैयारी की आवश्यकता होती है।

एक बड़ी समस्या का हल छोटी समस्या का हल नहीं बन सकता। आप मानसिक विकार विवाह से दूर नहीं कर सकते, क्योंकि विकृत भूमि मे प्रेम का पौदा उगता ही नहीं। यदि सौदा करने वाले विकृत-मानस है, तो विवाह उनकी मुश्किलों को दूर न करके और भी बढ़ा देगा। जो स्त्रियाँ केवल इसलिए विवाह करती हैं कि कोई रोटी कमाने वाला मिल जाय, तो उनका सौदा महज उतनी ही कीमत का ठहरता है, बल्कि अधिकांश को तो रोटी भी कडवी मिलती है। इसी प्रकार जो नौजवान एक नौकरानी और नर्स का सस्ता और सयुक्त-प्रतिरूप पा जाने के खयाल से विवाह करते है, उनको सचमुच उतना ही नसीब होता है—बहुत खुश-किस्मती हुई तो एक नमक-हलाल दासी, नहीं तो एक झगड़ालू रसोई बनाने वाली, जो नन्हीं-नन्हीं चीजों पर भी सिर खाया करेगी। स्त्रियों की एक और श्रेणी है जो किसी भी पुरुप को, जो सबसे पहले उनके सामने आये, पसन्द कर लेती है, और वह केवल इसलिए कि वे अपने माता-पिता की कठोर निगरानी से मुक्ति पाने के लिए बेताब रहती है। लेकिन कुछ ही दिनों मे यह देखकर उनका स्वप्न भंग हो जाता है कि आखिर उन्होंने फिर एक आदमी से ही गठबन्धन किया है न कि ऐसे पंखों से, जिनके सहारे उड़कर जीवन की सारी कठिनाइयों से दूर पहुँच सकें।

विवाह का सच्चा अर्थ न समझ पाने के ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। करीब-करीब प्रत्येक वैवाहिक सम्बन्ध की असफलता के पीछे एक ही मौलिक भ्रम पाया जाता

है कि विवाह इस या उस असह्य परिस्थिति का समाधान है अथवा उससे भाग निकलने का रास्ता है। ऐसे ही विवाह आगे चलकर वैवाहिक अरुचि और असंगतता, पौरुष-हीनता तथा नपुंसकता आदि रूपान्तर विकारों (कन्वर्शन न्यूरोसिस) का कारण बन जाते हैं। सच तो यह है कि जब तक हम प्रेम की शिक्षा जीवन से निराश अधेड़ कुमारियों या ऊपर से पुरुषत्व का आडम्बर करने वाले नपुंसक 'ब्रह्मचारियों' द्वारा लिखे गए सनसनीपूर्ण उपन्यासों से लेते रहेंगे, तथा जब तक अपने बच्चों को यह विश्वास करना सिखाते रहेंगे कि उन्हें उस मनोवैज्ञानिक क्षण की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब एकाएक उनके जीवन में वह दिव्य राजकुमार या राजकुमारी प्रवेश करेगी, जिसके आगमन-मात्र से उनका जीवन स्वर्ग की भांति सुखी हो जायगा, हमारे समाज में दुखी विवाहों की संख्या बढ़ती ही जायगी।

वैवाहिक नैराश्य का एक और प्रधान कारण गर्भ-निरोध के तरीकों और साधनों को न जानना है। सभ्य मानवों का प्रेम पशुओं-जैसा सरल व्यापार नहीं है। उसके केवल जीवात्मक (बायोलॉजिकल) ही नहीं, वरन् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नागरिक, बौद्धिक तथा कभी-कभी धार्मिक परिणाम भी निकलते हैं। यदि विवाह केवल एक जीवात्मक समस्या ही होती तथा पशुओं की भांति मनुष्य भी केवल संख्या बढ़ाने के लिए ही यौन-सम्बन्ध करता—जैसा कि आज भी ... द्ध और अकाट्य वैज्ञानिक सत्यों के विरुद्ध कई धर्मों

के अनुयायी विश्वास करते है—तो इस समस्या का समाधान इतना ही सरल होता जितना चूहों और सूअरों के लिए है।

काम-वृत्ति का समाजीकरण

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों मे कुछ मौलिक अन्तर है। सबसे बड़ा अन्तर यह है कि दूध पिलाने वाले प्राणियों मे मानवी स्त्री ही ऐसी है जो किसी भी समय यौन-सम्बन्ध मे प्रवृत्त होने की योग्यता रखती है। मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाला यह विशेष जीवात्मक (बॉयोलॉजिकल) सत्य ही मनुष्य की अनेक लैगिक समस्याओं को जन्म देता है तथा नर-नारी के प्रेम और विवाह सम्बन्ध को विशुद्ध जीवात्मक क्षेत्र से हटा कर सामाजिक क्षेत्र का प्रश्न बना देता है।

सामाजिक जीवन मनुष्य की एक मौलिक आवश्यकता है। इसने अन्य कई सामान्य जीवात्मक प्रेरणाओं की ही भांति मनुष्य की काम-वृत्ति को भी एक विशुद्ध सामाजिक विषय बना दिया है। जीवात्मक शक्तियों को सामाजिक दिशा मे मोड़ने की इस क्रिया को प्रयोजनात्मक पुनर्गठन (हॉर्मिक री-ओरिंटे-शन), प्रेरणात्मक पुनर्गठन (कोनेटिव री-ओरिन्टेशन) या उद्भावक विकास (इमर्जेंट इवोल्यूशन) जैसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए आप मनुष्य की मौलिक आवश्यकता, भोजन, को ले लीजिए। यद्यपि सामाजिक सम्बन्धों की आवश्यकता ने मानव की इस मौलिक वृत्ति का [illegible]

प्रकार प्रयोजनात्मक पुनर्गठन कर डाला है, इसे हम मेज़, कुरसी, चम्मच, गिलास, थालियों की सजावट, और खान-पान के अनेक प्रकार के शिष्टाचारों के रूप में देख सकते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि सभ्य समाज में भोजन का अवसर सामाजिक आदान-प्रदान का उतना ही साधन बन गया है जितना शरीर-पोषण का।

इसी प्रकार कपड़े, जिन्हें मनुष्य ने केवल अपने नङ्गेपन को छिपाने तथा शरीर की रक्षा करने के लिए पहनना आरम्भ किया था, आज सामाजिक आचरण और शिष्टाचार के अङ्ग बन गए है। किसी समय और अवसर-विशेष पर स्त्री किस रंग और डिज़ाइन की साड़ी पहने तथा पुरुष का कुरता और धोती किस प्रकार के हों, शरीर ढकनेमात्र की मौलिक आवश्कयता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका वास्तविक कारण वस्त्र-व्यवहार कला का वह उद्भावक विकास है, जो सामाजिक आवश्यकता के प्रभाव में अपने-आप होता गया है। इसी प्रकार कला और साहित्य मानव मे संवेदनशीलता की मौलिक प्रवृत्ति के प्रयोजनात्मक पुनर्गठन है। बड़े-बड़े कल-कारखाने, गगनचुम्बी अट्टालिकाएं, समाचार-पत्र, बीमा कम्पनियाँ, खेल-कूद तथा अगणित दैनिक कारोबार ऐसे जीवात्मक व्यवहारों के उद्भावक विकास हैं, जिन्हे हमारे आदिम पुरुष सहज-भाव से ही पूर्ण कर लिया करते थे।

म युग के मनुष्य के सामने आधुनिक सभ्यता की एक

भी जटिलता मौजूद न थी। वह यौन-सम्बन्ध तभी करता था जब उसे सृजन की अबोध जीवात्मक (बायोलॉजिकल) प्रेरणा होती थी। धीरे-धीरे जब मनुष्य जङ्गलों में रहने लगा तथा उसे शिकार करने, झोंपड़ी बनाने, युद्ध या नृत्य करने आदि सामूहिक कार्यों के अवसर मिलने लगे, तब उसने जीवन का मूल्य और अर्थ समझना आरम्भ किया। हालाँकि सभ्यता के इस आरम्भिक काल में मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति व्यक्तिवादी ही थी, फिर भी ऐसे अवसरों की संख्या काफी बढ़ गई थी जब कि वे सामाजिक जीवन का महत्व समझ सकते थे। परन्तु आज हमारी सभ्यता जटिलताओं से भर गई है। जहाँ एक तरफ उसकी प्रवृत्ति प्रत्येक क्षेत्र मे विशेषज्ञों से काम लेने की हो गई है, वहीं दूसरी तरफ वह सारे मानव-प्रयत्नों का विकेन्द्रीकरण तथा समाजीकरण भी कर डालना चाहती है। इन विषम प्रवृत्तियों ने आधुनिक मनुष्य के जीवन-प्रवाह मे लैंगिक सम्बन्धों का अर्थ एकदम बदल दिया है।

ज्यों-ज्यों मशीनें और शक्ति के साधन बढ़ते गए, व्यक्ति के श्रम का समाजीकरण होता गया तथा शहरों के रूप में विशाल सामूहिक निवास-स्थानों की वृद्धि होती गई। इस बात की सख्त जरूरत अनुभव होने लगी कि अपने निकट के लोगों का एक ऐसा समूह हो जिसके अन्दर मनुष्य का व्यक्तिगत विकास हो सके, तथा जहाँ वह सामाजिक और व्यक्तिगत कर्तव्यों का आदान-प्रदान कर सके। यहीं से आधुनिक सभ्यता

के रति-सम्बन्ध को, जिसे आज के साधारण मनुष्य के जीवन का एकमात्र महत्वपूर्ण सम्बन्ध कहा जा सकता है, एक सामाजिक महत्व देने की वृत्ति का उद्भव हुआ।

बहुत ही उच्च कोटि के सभ्य मनुष्य, जिनके सामाजिक सम्बन्ध आधुनिक सभ्यता की विषमता के साथ-साथ बहुत अधिक बढ़ गए हैं, इस आवश्यकता का अनुभव उतनी तीव्रता के साथ नही करते जितना वे मनुष्य जिन्हें अपने दैनिक कार्य में कोई रस दिखाई नहीं देता तथा जो दिन-भर दफ्तर के कागज़ या दुकान के कपड़े उलटने में रत रहते हैं। इस प्रकार ज्यों-ज्यों अधिक घनिष्ट सामाजिक सम्बन्धों की आवश्यकता बढ़ती गई है रति-सम्बन्ध को विशुद्ध जीवात्मक क्षेत्र से निकाल कर व्यक्तिगत विकास का साधन बनाने की प्रवृत्ति इतनी सर्वव्यापी हो गई है कि आज के अधिकांश स्त्री-पुरुष व्यक्तिगत सन्तोष और सामाजिक सहयोग की भावना से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं न कि सृष्टि का क्रम चलाने के लिए।

फिर भी वैवाहिक सम्बन्ध के जीवात्मक परिणाम आज भी संसार के लिए उतने ही महत्वपूर्ण है जितने पहले कभी थे। आज भी गर्भाधान और सन्तानोत्पत्ति का वही क्रम है, जो गुफा-निवासी आदिम मानव के समय में था। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि आज का सभ्य मनुष्य, जिसके अधिकांश [illegible] म्बन्ध विशुद्ध सामाजिक कारणों से होते है, इस सम्बन्ध [illegible] क परिणामों से बचने के लिए पूर्ण सतर्क रहे। ऐसा

करके ही वह इस नये सम्बन्ध की व्यक्तिगत और सामाजिक उपयोगिता को क़ायम रख सकता है।

गर्भ-निरोध का महत्व

हर स्त्री को, जो सभ्य जीवन बिताना चाहती है, गर्भ-निरोध के तरीकों का ज्ञान होना चाहिए। इस विषय की अनभिज्ञता का मूल्य अनेक तकलीफों के रूप मे चुकाना पड़ता है। आज की स्त्री केवल बच्चे पैदा करने के लिए सम्भोग नहीं करती। सच तो यह है कि उसकी परिस्थिति भी ऐसी नहीं होती कि गर्भ-धारण की इच्छा न होते हुए भी वह किसी भी समय अपने पति की इच्छा को टाल सके। इस युग की आर्थिक कठिनाइयाँ बड़े परिवार के विरुद्ध सबसे बड़ी दलील हैं तथा यह कहने की आवश्यकता नहीं कि समझदार माता-पिता बेहिसाब बच्चे पैदा नहीं कर सकते।

हमारी आर्थिक कठिनाइयाँ तथा आधुनिक सभ्यता की जटिलताएं जितनी ही अधिक होती जा रही है, गर्भ-निरोध की आवश्यकता उतनी ही बढ़ती जा रही है। सभ्य मनुष्य बच्चे तभी पैदा करते है जब वह चाहते है, न कि अकस्मात् और बिना प्रयोजन के। लेकिन जिन कारणो ने बच्चों की संख्या सीमित रखना आवश्यक है, ठीक उन्हीं कारणों से सामाजिक सहयोग तथा सजीवतापूर्ण मनोरंजन के रूप मे सम्भोग करना अनिवार्य होता जाता है। और इस दृष्टिकोण से गर्भ-निरोध का

ज्ञान प्रत्येक वयस्क के लिए और भी आवश्यक हो जाता है।

गर्भ-निरोध के तरीकों का न जानना वैवाहिक निराशा और प्रेम की असफलता का एक प्रधान कारण है। यह अज्ञान मानसिक गोपन और मानसिक निरोध के विकारों का कारण बन जाता है, और वैवाहिक जीवन के उन अमूल्य क्षणों को सदा के लिए नष्ट कर देता है जिनमें कुशल स्त्री और पुरुष विलक्षण मानवीय संवेदना का रोमांचकारी अनुभव करने की योग्यता रखते हैं।

ऐसे देशों मे, जिसकी शक्ति के स्तम्भ उसके योद्धा हैं, बच्चों की संख्या पर बन्धन लगाना तोपों का चारा ही कम करना नहीं, बल्कि पुरुषों के पुश्तैनी अधिकारों पर आघात करना समझा जाता है। परन्तु वह देश जो अपनी रक्षा के लिए जनता की प्रसन्नता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति पर निर्भर रहता है, तथा जिसकी आबादी ऐसे चुने हुए लोगों की है जिनको उनके माता-पिता ने प्रेम से पैदा किया है और जिम्मेदारी के साथ पाला है, गर्भ-निरोध द्वारा बच्चों की संख्या सीमित रखना उतना ही आवश्यक समझता है जितना प्लेग की बीमारी को रोकना।

कोई भी व्यक्ति, जिसके किसी कार्य से उसकी आर्थिक अवस्था खराब हो जाती है या उसके साथी अथवा समाज के ऊपर कोई असह्य बोझ आ पड़ता है, अपने प्रेम-जीवन में आनन्द की आशा नहीं कर सकता। अनचाहे बच्चे के ऊपर बुरे मनोवैज्ञानिक असर पड़ते हैं तथा किस प्रकार वह

समाज का बोझ बन जाता है, इसे सभी जानते है। कहने का अभिप्राय यह है कि लैंगिक सम्बन्धों का अज्ञान केवल अनभिज्ञ व्यक्ति का ही जीवन चौपट नहीं करता, बल्कि उन सभी लोगों पर अपना प्रभाव डालता है जो किसी भी प्रकार उस दूषित वातावरण के अन्दर आ जाते हैं। मानसिक विकारों की ही भांति अनभिज्ञता भी छूत की बीमारी है जिसका विषाक्त परिणाम अन्य क्षेत्रों में उतना घातक नहीं होता जितना वैवाहिक सम्बन्धों के क्षेत्र मे।

लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता का अभिशाप

वैवाहिक नैराश्य का दूसरा प्रधान कारण स्त्री और पुरुष के बीच प्रभुता और शान के लिए प्रतिद्वन्द्विता है। इस प्रतिद्वन्द्विता को आज हम बड़े स्पष्ट रूप मे देख सकते है। कुछ अंशों में हम इसे उस आन्दोलन की ही एक शाखा कह सकते हैं जो आधुनिक नारी आज के शक्तिशाली पुरुष की निरकुशता के विरुद्ध चला रही है। व्यक्तिवादी समाज के व्यापारिक कार्यों में एक जीवनदायिनी शक्ति के रूप में प्रतिद्वन्द्विता को चाहे हम जो भी महत्व दे, परन्तु प्रेम के लिए तो प्रतिद्वन्द्विता मृत्यु के समान है अथवा वह छिपी हुई चट्टान है, जिससे टकराकर अनेक विवाह विचूर्ण हो चुके हैं।

हमें अनेक ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे सिद्ध
इस प्रतिद्वन्द्विता का इतिहास बहुत पुराना है। इ

करीब-करीब उसी समय हुआ जब व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसके साथ ही पुरुष-जाति के प्रभुत्व पर आधारित पैतृक समाज की उत्पत्ति हुई। आज भी हम एक ऐसे युग में रह रहे है, जब शासन पुरुष-जाति के हाथ मे है तथा वही स्त्रियों के लिए नियम बनाते है। अब तक अनेक पेशे और कारोबार ऐसे हैं, जिनमें केवल पुरुष ही जा सकते है, बहुत से सरकारी या व्यापार-सम्बन्धी महत्वपूर्ण पद ऐसे हैं जो खुले-आम या अपरोक्ष रूप से स्त्रियों को नहीं दिये जाते। आज भी एक ही उद्देश्य की प्राप्ति में स्त्री और पुरुष साथ-साथ लगे हों तो जान-बूझकर स्त्री के रास्ते में पुरुष की अपेक्षा अधिक बाधाए डाली जाती हैं।

जिस समाज मे भी स्त्री या पुरुष में से किसी एक का प्रभुत्व हो तथा दूसरे को अधीनता मे रहना हो उसकी विशेषता ही होती है कि सारे उपयोगी गुण शासन करने वाले के तथा अवगुण शासित के समझे जाते है। इस प्रकार वर्तमान समाज के पुरुष साहस, वीरता, बुद्धि, उत्तरदायित्व, कौशल और ईमानदारी आदि गुणों पर जहाँ अपना एकाधिकार समझते है वहीं स्त्रियों से पवित्रता, सुशीलता, नम्रता, कोमलता और सहज-बुद्धि आदि साधारण गुणो पर ही संतुष्ट रहने की आशा करते है, क्योंकि स्पष्टतः स्त्री के ये गुण ही प्रभुत्वशाली पुरुष के गुणों का पूर्ण विकास कर सकते है।

स्त्री को पवित्र रहना ही चाहिए, नहीं तो पुरुष उसका एक-[illegible]क्षक और उद्धारक कैसे प्रतीत होगा? यदि स्त्री विनम्र न

हो तो पुरुष के साहस का उपयोग ही कहाँ होगा? स्त्री को घर से प्रेम होना इसलिए आवश्यक है कि पुरुष का बाहर का व्यापार सम्भ्रांत प्रतीत हो। दूसरी तरफ पुरुषों का एक ऐसा भी वर्ग है जो बातूनीपन, गैर-जिम्मेदारी, धोखेबाजी, अपवित्रता, अशक्तता तथा झगड़ालूपन आदि को स्त्रियों के आचरण का आवश्यक अंग समझता है। जहाँ 'पुरुषत्व' में अनेक अच्छे गुणों का समावेश किया जाता है, वहीं 'नारीत्व' का अर्थ दुर्बलता और हीनता लगाया जाता है। जब पुरुष कहीं असफल हो जाता है तो कहा जाता है कि अभाग्यवश उसमें स्त्रियोचित गुणों की प्रधानता हो गई है। परन्तु यदि स्त्री कोई महत्वपूर्ण कार्य कर डाले तो उसे पुरुषोचित गुणों का चमत्कार बताया जाता है, अर्थात् वह सच्चे अर्थों में स्त्री नहीं है, बल्कि स्त्री के शरीर में पुरुष है।

प्रभुता-युक्त पुरुष ने सारे इतिहास में स्त्री को कितना नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है इसका अनुमान बाइबल की उस कहानी का स्मरण करके लगाया जा सकता है जिसमें आदम के अधःपतन और ईडन के बगीचे से निकाले जाने का एकमात्र कारण स्त्री (ईव) की दुष्टता और दुर्बलता को बताया गया है। सृष्टि के आरम्भ से ही स्त्री की गौणता का राग अलापा जा रहा है। कहते हैं कि ईव (स्त्री) की रचना केवल आदम (पुरुष) के अकेलेपन को मिटाने के लिए की गई थी। वह भी तब जब सृष्टि-कर्ता का अधिकांश कौशल आदम के बनाने में व्यय हो

चुका था; ईव की रचना उसने अवशेष-मात्र से की थी। ईसाई सन्त पॉल का यह कथन कि 'निरन्तर जलते रहने से विवाह कर लेना ही अच्छा है,' दूसरे शब्दों मे पैतृक समाज के इस दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन है कि स्त्री एक आवश्यक बुराई है।

'धर्म' स्त्रियों का सबसे बड़ा शत्रु रहा है। जिस भी स्त्री ने पुरुष की दासता से बाहर निकलने का प्रयत्न किया अथवा जिसने विशेष कौशल या बुद्धि प्राप्त कर ली, तुरन्त उसे 'डाइन' या 'जादूगरनी' की संज्ञा मिली तथा इस प्रकार उसकी यातना की जाने लगी मानो वह शैतान के कब्जे मे आ गई हो। सदियों तक लोग 'डाइनों' का शिकार करते रहे है तथा उन्हें जलाते रहे है। निस्सन्देह इसके पीछे यही धारणा रही है कि कैसे कोई स्त्री बिना शैतान के प्रभाव मे आये बुद्धिमानी और कौशल दिखा सकती है। शायद आज भी अधिकांश वयस्क स्त्री की प्राकृतिक हीनता की बात मे विश्वास करते हैं तथा बच्चों मे भी इस गलत धारणा को भर देते है। बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं कि आज भी संसार के कई भू-भाग ऐसे लोगों से आबाद हैं जहाँ पुरुष स्त्री का प्रभुत्व मानते है। इसी प्रकार उससे भी कम लोग हैं जिन्हे मालूम है कि केवल कुछ हजार वर्ष पूर्व ही ग्रीस और मिस्र के अत्यन्त ऊँचे कृषि-प्रधान समाज मे मातृक सभ्यता प्रचलित थी तथा स्त्री उसी प्रकार शासक थी जैसे आज पुरुष।

प्राचीन मिस्र में बच्चे का नाम माता के वंश के अनुसार

रखा जाता था न कि पिता के; वृद्धा स्त्रियाँ युवकों से शादी करती थीं; विवाह से पहले पुरुषों को अखण्ड ब्रह्मचर्य रखना पड़ता था, जब कि स्त्रियों के लिए कौमार्य आवश्यक न था; पुरुष को अपने विवाह मे दहेज लाना पड़ता था, स्त्री अपने तथा पति के वृद्ध माता-पिता के निर्वाह की शपथ लेती थी; पुरुषों को शृङ्गार तथा रीति के अनुसार फैशन करना पड़ता था, गृहस्थी सँभालने के लिए घर के अन्दर रहना पड़ता था, जब कि स्त्री साल-भर एक ही प्रकार के कपड़े पहनकर बाहर का काम-काज संभालती थी, और शृङ्गार को तुच्छ ही नहीं समझती थी, बल्कि अपने पति के बातूनीपन और क्षुद्र बुद्धि का मजाक भी उड़ाती थी।

इससे सिद्ध होता है कि 'पुरुषोचित' और 'स्त्रियोचित' चरित्र जैसी कोई वस्तु नहीं होती। आज जो हम देखते हैं किसी जमाने में बिलकुल इसके विपरीत था। इतना ही नहीं, विशुद्ध कृषि संस्कृति वाले समाजों मे आज भी वही बात है। 'पुरुषोचित' का साधारण अभिप्राय प्रभुता वाली जाति से तथा 'स्त्रियोचित' का अभिप्राय आश्रित जाति से है। वर्तमान पक्षपात अस्वाभाविक है, इसे इतिहास तथा पुरातत्व शास्त्र से ही नहीं, वरन् हम इस बात से भी जान सकते है कि यदि स्त्रियों की हीनता स्वाभाविक चीज होती तो उनके लिए इतने नियम बनाने की आवश्यकता न पड़ती तथा उन्हे अपनी पुरानी प्रभुतापूर्ण परिस्थिति को पुनः प्राप्त करने से रोकने के लिए इतने षड्यन्त्र रचने की आवश्यकता न होती। किसी मूर्ख को न्यायाधीश बन जाने या किसी अयोग्य

व्यक्ति को प्रधानमन्त्री बन बैठने से रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

वैषयिक नैतिकता का ऐतिहासिक उद्गम

समाज का ढाँचा मातृक (मैट्रिआर्कल) से बदलकर पैतृक (पैट्रिआर्कल) कैसे हो गया यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। केवल इतना निश्चित है कि यह परिवर्तन व्यक्तिगत सम्पत्ति के विकास की उस अवस्था के साथ साथ आया जब मनुष्य ने सामूहिक कृषि-व्यवसाय वाली सभ्यता से आगे बढ़ कर चरवाहों की व्यक्तिवादी सभ्यता मे प्रवेश किया। जिस समय प्रथम मानव ने पहाड़ी भेड़-बकरियाँ, गाय, ऊँट या घोडे को पकड़कर पालना आरम्भ किया तथा उनके लिए चरागाह की कुछ भूमि को घेर लिया, ठीक उसी समय व्यक्तिगत सम्पत्ति की सृष्टि हुई। कृषि कार्य मे स्त्री और पुरुष समान रूप से भाग ले सकते थे, परन्तु जानवरों को चराने तथा उनका नियन्त्रण करने मे पुरुष की श्रेष्ठतर शक्ति स्त्री की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होने लगी। इन जानवरों ने ही मनुष्य को श्रेष्ठता प्रदान की। यह एक समाज-शास्त्र का नियम है कि जो जाति जीवन-निर्वाह के साधन जुटाने मे प्रधान भाग लेती है प्रभुता उसी के हाथ मे चली जाती है और तब दूसरी जाति पर वह अपने स्वार्थ-साधन के लिए शासन करने लगती है।

मातृक समाज में अपने पिता की जानकारी अनावश्यक

समझी जाती थी, परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ ही प्रत्येक पिता के लिए अपने पुत्र को पहचानना परमावश्यक हो गया। हर पिता चाहता था कि कठोर परिश्रम से पैदा किये हुए खेतों और जानवरों का उत्तराधिकारी उसकी औरस सन्तान ही बने। इस परिवर्तन के साथ ही स्त्री के 'कौमार्य' को जिसकी तरफ लोगों का अब तक ध्यान न था, एक सामाजिक महत्व दिया जाने लगा। पुरुष के लिए कुमारी स्त्री से विवाह करना आवश्यक हो गया, जिससे वह निश्चित रूप से जान सके कि प्रथम संभोग से उत्पन्न पुत्र उसकी औरस सन्तान है। धीरे-धीरे स्त्री की पवित्रता पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाने लगा। स्त्री को इसने कोई लाभ न था, परन्तु पुरुष के लिए, जो समाज की पैतृक व्यवस्था दृढ़ बनाए रखना चाहता था, यह एक जबरदस्त अस्त्र था। यहीं से उत्तराधिकारी के रूप में पुत्र का महत्व बढ़ने लगा तथा लड़की का मूल्य कम हो गया। इतना ही नहीं, स्त्रियों को भी जानवरों की ही तरह एक ऐसी सम्पत्ति समझा जाने लगा, जिन का सौदा करके भूमि और जानवर बढ़ाए जा सकते थे।

बाद विज्ञान ने सिद्ध कर दिया कि जहाँ तक प्रकृति का प्रश्न है स्त्री और पुरुष समान हैं, दोनों में कोई प्राकृतिक अन्तर नहीं है तथा शिशु के सृजन मे दोनों का ही बराबर हिस्सा है।

इस दृष्टि से सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र को हम स्त्री जाति का प्रथम उद्धारकर्ता कह सकते हैं, परन्तु स्त्री की वास्तविक स्वतंत्रता की चरम सीमा उस वक्त पहुँची जब मशीन का आविष्कार हो गया। मशीन की बारीकियाँ ज्यों-ज्यों बढ़ती गईं, सम्पत्ति के उत्पादन में पुरुष का मुकाबला करने की स्त्री की योग्यता भी उतनी ही बढ़ती गई। स्त्री की इस स्वतंत्रता का आरम्भ १६वीं शताब्दी में हुआ तथा अपने प्राचीन प्रभुत्व की रक्षा के लिए चिन्तित पुरुष द्वारा उपस्थित की गई अनेक बाधाओं के बावजूद भी उसका क्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यहाँ तक कि आज सभ्य समाज मे पुरुप के अहं-रूपी किले के एक-दो ही ऐसे मोरचे रह गए हैं जो स्त्री द्वारा जीते जाने को शेप हैं।

जब हम अपने पड़ोसी जानवरों को देखते है तो हमे उनके वैपयिक जीवन (सेक्सवल लाइफ) मे उच्च श्रेणी का सहयोग मिलता है। एक ही हिरणी के प्रीति-भाजन बनने के लिए दो हिरणों मे कितनी प्रतिद्वन्द्विता क्यों न हो, परन्तु हिरण और हिरणी के बीच संघर्ष जैसी वस्तु कभी सुनी भी नहीं गई। स्त्री और पुरुप के बीच प्रतिद्वन्द्विता निश्चय ही मानव-मस्तिष्क के ~यिक विकास तथा उसकी आवश्यकता से अधिक क्रियाशीलता - है। लैंगिक प्रतियोगिता एक स्पष्ट मानवीय दुर्गुण है।

मनुष्य इसका शिकार इसलिए होता है कि उसे प्रकृति की व्यवस्था मे अपने उपयुक्त स्थान के प्रति भ्रम हो गया है, तथा वह एक ऐसे गहरे हीन-भाव (इनफीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स) से पीड़ित है जो उसे अपने अभावों को छिपाने के लिए एक बहाना खोजने को मजबूर करता है। भावी इतिहासकार निश्चय ही इस युग को पैतृक परम्परा तथा पूर्ण सहयोग पर आधारित नवीन विवाह परम्परा के बीच घोर संघर्ष का युग कहकर पुकारेगा। पैतृक युग की विवाह परम्परा तीव्र गति से छिन्न-भिन्न हो रही है, इसमे सन्देह नहीं।

सापेक्षिक आचरण-शास्त्र बनाम प्राचीन मनोविज्ञान

ऊपर की बाते समझ लेने के बाद इसमें जरा भी आश्चर्य नहीं मालूम होता कि वैवाहिक संघर्ष और सुधार के इस युग में विषय-सम्बन्धी अनेक ऐसे विकार दिखाई देते है जिनका कारण यह है कि स्त्री-जाति सामाजिक और वैवाहिक क्षेत्र मे केवल अपना महत्व ही नहीं वरन् कई अर्थों मे अपनी पुरुष से श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रबल प्रयत्न करती है। इसी प्रकार इनमे भी कोई आश्चर्य नहीं कि अन्य बहुत-से विकार पुरुष द्वारा अपने परम्परागत अधिकारों तथा कृत्रिम प्रभुत्वों की रक्षा करने की तीव्र प्रेरणा के फलस्वरूप उत्पन्न हो रहे है। मनुष्य जिस जलवायु, काम-काज, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थिति मे रहता है उससे उत्पन्न सम्बन्धों के अनुकूल ही उसका आचरण बनता है।

और इन आचरणों का जितना सुन्दर विश्लेषण हम काम-मनोविज्ञान के क्षेत्र मे कर सकते हैं उतना अन्यत्र नहीं। सच तो यह है कि 'मनोविज्ञान' शब्द का प्रयोग, जो जीवनतत्त्व (साईक) के पृथक अस्तित्व जैसे प्राचीन विश्वास के ऊपर आधारित है, अब हमे बन्द कर देना चाहिए। अब तो समाज की परिस्थिति के अनुकूल निर्मित होने वाली मानवीय आचरण-पद्धति को 'सापेक्षिक आचरण-शास्त्र' (साईजीजिऑलॉजी) के नाम से पुकारना चाहिए।

स्त्रियों की बढ़ती हुई आर्थिक स्वतंत्रता का लैंगिक सम्बंधों के मनोविज्ञान पर क्या प्रभाव पड़ रहा है,इसका पूर्ण विश्लेषण कर पाना यहॉ सम्भव नहीं है। हमें एक-दो मोटी बातों पर ही संतोष करना पड़ेगा। स्त्री की जीवन-व्यवस्था पर पुरुष द्वारा एक अस्वाभाविक प्रभुत्व का बोझ लादने के फलस्वरूप स्त्री मे दो स्पष्ट प्रवृत्तियॉ दिखाई पडती है—पहली दासता की प्रवृत्ति और दूसरी विरोध या द्रोह की प्रवृत्ति। पुरुष के ऊपर इन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया दो रूप धारण कर सकती है—जहॉ स्त्री-पुरुष का प्रभुत्व मानकर दासता की प्रवृत्ति ग्रहण कर लेती है, पुरुष फौरन स्वामी-जैसा आचरण करने लगता है, परन्तु जहॉ स्त्री का विद्रोह सफल हो गया, वह जीवन से हारा हुआ एक दयनीय प्राणी बन जाता है। पहली अवस्था मे पुरुष अधिकार-मत्त या दंभी का-सा आचरण कर सकता है, परन्तु दूसरी अवस्था वालों मे अधिकाश समलिंग-कामुकता (होमोसेक्सुवैलिटी) की

शरण लेते देखा गया है। ऐसे पुरुष बन्धन-मुक्त नारी की भयंकर उग्रता के सामने एक दिन भी नहीं टिक सकते। यहाँ वैवाहिक प्रतिद्वन्द्विता प्रेम-जीवन को एक ऐसा अखाड़ा बना देती है जिसमे निराश स्त्री और पुरुष एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयत्न में संघर्षों का अस्वाभाविक प्रदर्शन करते दिखाई पड़ते है।

सैकड़ों से केवल एक-दो स्त्रियाँ ऐसी होती है जो स्त्री-पुरुष की स्वाभाविक समानता मे विश्वास करती हुई ऐसा जीवन व्यतीत करती हैं, मानो उन्हे 'स्त्रीत्व' के समस्त अधिकार प्राप्त हो। शेष सभी ऐसी होती है जो पैतृक समाज की वर्तमान परम्परा से हार मान चुकी होती हैं और ऐसी हालत मे या तो अपनी नारी मनोवैज्ञानिक शक्ति पुरुषों और पुरुपत्व का अनुकरण करने मे लगा देती हैं या अपनी दुर्बलता और परवशता के प्रदर्शन द्वारा पुरुष के प्रभुत्वों पर सीधा वार न करके उसे अपना बनाने के प्रयत्न मे एक नकली विजयोल्लास का अनुभव करती हैं। प्रत्येक अवस्था मे दोनो ही प्रकार की ये स्त्रियाँ—चाहे वह पुरुपत्व का अनुकरण करने वाली स्त्री हों या लता की भाँति पुरुप का आश्रय खोजने वाली—पुरुपत्व का अतिरंजित मूल्य लगाती है तथा 'नारीत्व' को एकदम मूल्यहीन चीज समझती है। अन्तर केवल उनके तरीकों मे है—एक की मिथ्या प्रशंसा का रूप अनुकरण है तथा दूसरी का विवशता, जिनका आधार पुरुष की कल्पित स्वतन्त्रता तथा कौशल है।

लिंग-परिवर्तन की प्रवृत्ति

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एडलर ने स्त्री में अपनी अवस्था के प्रति असन्तोष की प्रवृत्ति को 'पुरुष-श्रेष्ठता की भावना' (मैस्कुलिन प्रोटेस्ट) कहकर व्यक्त किया है, परन्तु इससे असली भाव स्पष्ट नहीं हो पाता। इसकी जगह पर यदि हम 'पुरुषत्व की तरफ प्रवृत्त होना' (एएड्रोट्रॉपिज्म) शब्द का प्रयोग करें तो इससे स्त्री के मनोवैज्ञानिक आचरण के उस लक्षण का ठीक बोध होता है जिसमें वह स्त्री होने की दशा से असन्तुष्ट होकर इस प्रकार आचरण करती है मानो वह पुरुष बन सकती है। इसी प्रकार 'स्त्रीत्व' की तरफ प्रवृत्त होना (जेनोट्रॉपिज्म) एक ऐसा समानान्तर शब्द होगा जिसका प्रयोग पुरुष द्वारा स्त्रैण सिद्धान्तों का अतिरंजित मूल्य लगाने की प्रवृत्ति के अर्थ में किया जा सकता है। समजातीय कामुक मनुष्य (होमोसेक्स्वल्स) प्रायः स्त्रीत्व की ओर प्रवृत्त होते देखे जाते है।

स्पष्ट है कि काम-वृत्ति सम्बन्धी इस प्रतिद्वन्द्विता को लोग प्रेम और विवाह के क्षेत्र में ही कार्यान्वित करने का अवसर पाते है। लेकिन दूसरी तरफ यह एक कठोर मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जहाँ एक साथी अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए दूसरे का दुरुपयोग कर रहा है वहाँ प्रेम-सम्बन्ध का सुखी होना असम्भव है। ऐसे विकृत-मानस लोग, जो समझते है कि प्रेम-सम्बन्ध में ...कृत उतना ही अधिक आनन्द आता है जितना प्रेमी को

जीतने में कठिनाइयों का सामना करना पड़े, प्रेम का सहज और स्वाभाविक आनन्द कभी नहीं उठा पाते, क्योंकि व्यक्तिगत प्रभुत्व-प्राप्ति की दृष्टि से किया हुआ कठोर प्रयत्न प्रेम-सम्बन्ध को विकृत और पंगु बना देता है।

भय और अज्ञान जीवन-यापन की कला को विकृत ही नहीं कर देते, बल्कि दो व्यक्तियों के स्वाभाविक प्रेम-सम्बन्ध को सदा के लिए समाप्त कर देते हैं। अनेक स्त्रियों का दूषित शिक्षा के कारण यह विश्वास बन जाता है कि पुरुष हमेशा इसी ताक मे रहता है कि वह स्त्री से कितना फायदा उठा ले। ऐसी स्त्री के लिए यह असम्भव है कि वह बिना यह समझे कि उसने अपना व्यक्तित्व खो दिया तथा वह पुरुष की दासी बन गई, अपना सर्वस्व निछावर कर सके। इसी प्रकार एक ऐसे पुरुष के लिए जिसे बचपन से यह विश्वास कराया गया है कि स्त्री झूठी और विश्वास के अयोग्य होती है, अपनी पत्नी के साथ पवित्र सम्बन्ध स्थापित कर पाना असम्भव है, चाहे ऊपर से वह कितना भी प्रेम का स्वांग क्यों न करे।

प्रेम के क्षेत्र मे प्रतिद्वन्द्विता की भावना का एक सबसे स्पष्ट लक्षण वह वस्तु है जिसे कामोद्दीपक आकर्षण (सेक्स अपील) कहते है। जानवरों की दुनिया मे प्रत्येक नर में नारी के लिए तथा नारी मे नर के लिए सहज आकर्षण होता है। परन्तु हमारी लैंगिक प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण सभ्यता है जो स्त्री या पुरुष वासना जागृत करने वाले आचरणो का अतिरंजन करके

अपना आकर्षण बढ़ा सकता है, वह उस द्वन्द्व युद्ध के लिए अधिक तैयार समझा जाता है, तथा लोग उसे प्रमुख मानते है, क्योंकि विपरीत जाति वाला उसकी इस 'मनमोहकता' पर ही 'गिर' पड़ता है। लैंगिक सम्बन्धों का वर्णन करते समय हम प्रायः जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनसे भी उस सारे आचरण का प्रेरक-हेतु (मोटिव) प्रभुत्व-प्राप्ति ही ज्ञात होता है।

पुरुष-स्त्री की मनमोहकता पर 'गिर' जाता है, अर्थात् वह पुरुषत्व के ऊँचे शिखर से लड़खड़ाकर नीचे आ जाता है। स्त्री पुरुप के वशीभूत हो जाती है, यानी उसका प्राकृतिक चातुर्य 'जीत' लिया जाता है। पुरुष सोचता है कि कोई स्त्री उसे 'पा' नहीं सकती; स्त्री डींग हाँकती है कि उसने अमुक पुरुष को 'व्याकुल' कर दिया, परन्तु सन्तुष्ट नहीं किया। ऐसी व्याकुल करने वाली स्त्री से अन्य कम भाग्यशालिनी स्त्रियाँ ईर्ष्या करती है। स्त्री इस प्रवल 'आकर्षण' को आक्रमण और बचाव का एक ऐसा अस्त्र समझती है, जिससे पुरुष की अहमन्यता को चूर-चूर किया जा सकता है।

कामोद्दीपक आकर्षण और खतरनाक अवस्था

लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता से बेचैनी और मानसिक विकार पैदा होते हैं, क्योंकि दूसरे को चिढ़ाने में सिवा क्षणिक शक्ति के अनुभव के कोई स्वाभाविक सन्तोप नहीं मिलता। जो स्त्री अपना प्राकृतिक आकर्षण पुरुपों को 'गिराने' मे ही व्यय करती है, कभी-वह स्वयं भी मानसिक विकृति का शिकार बनकर 'गिर'

जाती है। अनेक स्त्रियाँ जो युवावस्था में सुन्दर रही हैं तथा जिन्होंने प्रभुता और महत्व प्राप्त करने के लिए अपने आकर्षण का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, ढलती अवस्था मे, जब प्रकृति उनकी मनमोहकता छीन लेती है, तथा उनके मनोरंजन के साधन समाप्त हो जाते है, दुखी और उदास जीवन व्यतीत करती हुई देखी गई है।

कभी-कभी वृद्धा स्त्रियाँ, जो फिर एक बार सिद्ध करना चाहती हैं कि उनका पुराना 'आकर्षण' अभी कहीं गया नहीं है, अत्यन्त विकृत आचरण करती पाई जाती है। प्रायः वे किसी जवान लड़के को फँसा लेती हैं और हालांकि आरम्भ के थोड़े दिनों युवक की दिलचस्पी का वे बेहतर फायदा उठाती हैं, परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद उनका सम्बंध फीका पड़ जाता है। युवक का स्वाभाविक आकर्षण अपनी समवयस्क युवतियों की ओर पढ़ने लगता है, हालांकि वे उसे ज़बरदस्ती रोक रखना चाहती है। अन्त मे सारे छल-छद्म का भंडाफोड़ हो जाने के बाद इन परित्यक्ता नारियों के जीवन का वास्तविक दुःख आरम्भ होता है।

लैंगिक बुढ़ापे (सेक्सुअल सेनेसेन्स) की इस दुःखदायी अवस्था से गुजरते समय स्त्री और पुरुष इतने विभिन्न प्रकार के विकारों का शिकार बनते है कि लोग प्राय. इस उम्र को 'खतरनाक अवस्था' कहा करते हैं। जो पुरुष निरन्तर लैंगिक शक्ति के व्यक्तिकरण द्वारा ही सारा व्यक्तिगत महत्व प्राप्त करने की आशा लगाए रहते हैं, इस शक्ति के क्षीण हो जाने

पर, उनकी भी स्त्रियों ही जैसी अवस्था होती है। खतरनाक अवस्था में पहुँचने पर उनके भी व्यक्तिगत जीवन में संघर्ष तथा बाह्य सम्बन्धों में असन्तोष और बेचैनी का आ जाना अवश्यं-भावी है। वैवाहिक जीवन मे अधिकांश मन-मुटाव इस समय ही पैदा हो जाते है, जब कि थोड़े सन्तोष और आवश्यकतानुकूल जीवन-प्रणाली को बदलने से ही सुखी और परिपक्व वृद्धावस्था का रास्ता साफ किया जा सकता है।

समाज मे व्यभिचार (ऐडल्टरी) की समस्या करीब-करीब एकदम इस 'लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता' का ही परिणाम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई ऐसे भी मामले होते हैं जिनमें थोड़ा 'शिष्ट-व्यभिचार' (पोलाइट ऐडल्टरी) एक दूषित वैवाहिक समस्या का सर्वोत्तम हल बन जाता है, परन्तु ऐसे मामलों की संख्या नगण्य है। व्यभिचार के अधिकांश मामलों मे—चाहे वे स्त्री द्वारा किये गए हों या पुरुष द्वारा—धोखा देने वाले की प्रेरक भावना दूसरे साथी को सजा देने या उसके ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने की ही होती है। यदि कोई पुरुष अपनी पत्नी से धोखा करता है, या पत्नी के संग मे तो नपुंसक हो जाता है, परन्तु दूसरी स्त्रियों के साथ पुंसत्व अनुभव करता है—जैसा कि प्रायः देखा गया है—तो इसका मनोवैज्ञानिक अर्थ यह है कि 'तुम मेरे लिए अपर्याप्त हो, अतएव मैं अपनी वासना की तृप्ति अन्यत्र करूँगा।"

जब स्त्री व्यभिचारिणी हो जाती है तो साधारणतः उसका

कारण होता है पति द्वारा मिथ्या-प्रभुत्व स्थापित करने का घोर विरोध। व्यभिचार में प्रवृत्त होकर वह केवल अपना विद्रोह ही नहीं वरन् श्रेष्ठता भी प्रकट करना चाहती है। उसकी दृष्टि में धोखा खाकर उसका पति मूर्ख और पतित बनता है। जब पति अपनी पत्नी को धोखा देता है तो लोग उसे बहुतेरों में से एक समझकर माफ कर देते हैं, परन्तु जब वह अपनी पत्नी से धोखा खा जाता है तो लोग उसे एक निकृष्ट और अधम प्राणी समझते हैं। इस प्रकार व्यभिचार के क्षेत्र में भी हम पुरुष की प्रभुता का अस्तित्व देखते हैं।

लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता का दुःखान्त

यदि हम लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता के विविध प्रकारों का वर्णन अपने समाचार-पत्रों, उपन्यासों और फिल्मों से निकाल दें तो संभवतः इनकी नवीनतम प्रवृत्तियों का अध्ययन करने वालों के लिए कोई दिलचस्प मसाला ही न रह जायगा। अब तक का हमारा अनुभव यह है कि इस विषय की जितनी भी लिखित सामग्री मिलती है सभी स्त्री और पुरुष के बीच एक-दूसरे के ऊपर प्रभुता जमाने की होड़ का विवरण है। संभव है कुछ पाठक समझने लगें कि हमारे जैसे मनोवैज्ञानिक एक ऐसे सम्पूर्ण समाज की वकालत कर रहे हैं, जिसमें किसी भी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता न होगी और इसके फलस्वरूप आधुनिक जीवन की सौन्दर्य प्रेरणा (एस्थेटिक स्टिमुलस) समाप्त हो जायगी, परन्तु

इसमें तनिक भी तथ्य नहीं है। मानवीय विकास के लिए प्रति-द्वन्द्विता को हम एक स्वाभाविक प्रेरक-शक्ति समझते हैं, परन्तु आज की लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता का अधिकांश न केवल अनावश्यक ही है, बल्कि इससे प्रतिद्वन्द्वियों के मानसिक स्वास्थ्य पर इतना जबरदस्त धक्का लगता है कि इस विषाक्त होड़ से निकलने पर उनका शरीर एकदम क्षीण, तथा मस्तिष्क सर्वथा विकृत हो जाता है। और ये विकृत प्राणी हमारे सामाजिक स्वास्थ्य की एक समस्या बन जाते है।

यदि आप समजातीय कामुक पुरुषों (होमोसेक्सवल्स) का वह अड्डा देखें, जहाँ अनेक पुरुष, जिनमे से कई स्त्रियों की वेश-भूषा धारण किये हुए होते है, एक दूसरे के साथ नाच रहे होते हैं; यदि आप उन 'विचित्र' स्त्रियों का अध्ययन करे जिनकी स्वकामुक प्रवृत्तियाँ (लेस्वियन टेण्डेन्सीज़) उन्हे अपने शरीर और मन दोनों को विकृत वना लेने पर मजबूर करती है, तो आप इस मिथ्या लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता द्वारा पैदा हुई भयंकर वरवादी का थोड़ा अनुमान लगा सकते है। यदि आप उन 'निर्जीव' स्त्रियों का बड़ा समूह देखें जो इस प्रतिद्वन्द्विता के भय से कहीं चित्रकारी करके, चाय की कोई दुकान चलाकर या ईसाई वैज्ञानिक, दफ्तर की नौकरी या वेश्या का पेशा ग्रहण करके तथाकथित उदात्तिकरण (सब्लिमेशन) खोजती फिरती हैं, तो आप इस वात से सहमत होंगे कि इस प्रतिद्वन्द्विता का फल समाज के लिए एक वड़ा अभिशाप है। जिस पति को उसकी कर्कशा पत्नी

ने जीवन से उदासीन बना दिया है, जिस प्रेमी के जीवन को उसकी प्रेमिका ने अपनी स्वार्थमयी ईर्ष्या से विशाक्त बना दिया है, जिस पुरुष का जीवन इसलिए मुरझा गया है कि किसी पत्नी, माता या बहन ने तब तक अपने को सुरक्षित न समझा जब तक उसे दुखी बनाने के लिए सब-कुछ न कर डाला, या जिस पुरुष की सारी प्रतिष्ठा एक ऐसी स्त्री द्वारा धूल में मिला दी गई है, जिसकी वैषयिक निराशा प्रतिशोध का और कोई तरीका सोच ही नहीं सकती थी, वही अनुभव कर सकता है कि लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता हमारे नैराश्य का कितना सर्वव्यापी कारण है।

ठीक उसी प्रकार जिस स्त्री को उसके पति ने केवल इसलिए पीटा है कि उसे अपने 'पुरुषत्व' का रोब जमाने का और कोई तरीका न सूझा, जिस स्त्री को उसकी योग्यता के बावजूद भी 'स्त्रियों की आवश्यकता नहीं' कहकर कोई पद देने से इनकार कर दिया गया है, जिस स्त्री को कारखाने में ठीक वही काम करने पर भी अपने पुरुष पड़ोसी की अपेक्षा इसलिए कम मज़दूरी दी जाती है कि वह स्त्री है, जिस स्त्री को बार-बार प्रसव-वेदना का शिकार इसलिए होना पड़ता है कि उसका पति गर्भ-निरोध के तरीकों से काम लेकर अपना 'आनन्द' कम करने से इनकार कर देता है, जिस स्त्री को जीवन-भर घर के अन्दर नौकरानी की तरह इसलिए पिसना पड़ता है कि पति का अहंकार उसे बाहरी दुनिया में आकर काम करने की आज्ञा ही नहीं देता,

या जिस स्त्री को किसी आकर्षक पेशे में जाने से केवल इसलिए रोक दिया जाता है कि पुरुष ने उसे स्त्रियों के लिए वर्जित कर रखा है, वही समझ सकती है कि पैतृक आदर्शों और सांस्कृतिक परम्पराओं ने स्त्री जाति को कितनी बुरी तरह जकड़ रखा है तथा इस लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम कितना भयंकर हो सकता है।

हम इस समय घरों में रात-दिन काम करने वाली दासियों और नौकरानियों, कारखानों मे खून-पसीना एक करने वाली शोषित मजदूरिनों, पैतृक समाज द्वारा दण्डित अविवाहित माताओं, विलास की जंजीरों मे जकड़ी हुई रखेलियों तथा दफ्तरों मे टाईप और क्लर्की का काम करने वाली उन अगणित दुखिया लड़कियों की बात नहीं करते, जिनको दुनिया की सारी गन्दगी का बोझ केवल इसलिए उठाना पड़ता है कि वे स्त्री हैं तथा अपने को जीवित रखने के लिए पुरुषो की गुलामी करने के सिवा उनके पास और कोई उपाय नहीं है। यहाँ तो हमारा अभिप्राय लैंगिक प्रतिद्वन्द्विता के अनेक दुष्परिणामों की तरफ ध्यान आकर्षित करके केवल यह बतलाना है कि विजयी और विजित दोनों ही को आज इस अभिशाप की कितनी मंहगी कीमत चुकानी पड़ रही है। हम तो यही चाहेंगे कि लोग इसे एक मनोवैज्ञानिक आदेश की भांति ग्रहण करें कि 'जिस भी व्यक्ति ने अपने स्त्री या पुरुष साथी की निन्दा की या उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाई, उसने सदा के लिए अपने वैवाहिक आनन्द पर

कुठाराघात कर लिया।'

भावात्मक अपरिपक्वता का रोग

अब हम प्रेम सम्बंधों मे नैराश्य के तीसरे कारण—भावात्मक अपरिपक्वता या कल्पनात्मक आदर्शवाद का वर्णन करते है। भावात्मक अपरिपक्वता से वैवाहिक असंतोष का बढ़ना अनिवार्य है, क्योंकि सच्चा आनन्द केवल परिपक्व सम्बंधों से ही उत्पन्न हो सकता है। मनोविज्ञान की खोजों ने यह भलीभांति सिद्ध कर दिया है कि ऐसे वयस्कों की संख्या बहुत कम है जो अवस्था के साथ मस्तिष्क से भी वयस्क हों। यदि हम अपने रोज के मिलने-जुलने वालो का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करे तो हम देखेगे कि उनमे से अधिकांश मानसिक परिपक्वता की दृष्टि से बच्चों की भाँति कच्चे, उत्तरदायित्व सँभालने मे डरपोक, सामाजिक अभियोजन (सोशल ऐडजस्टमैंट) के अनुपयुक्त तथा स्वप्न और कल्पना की दुनिया मे हवाई किले बनाने में मस्त रहते हुए अज्ञान के अँधेरे में प्रकाश के लिए भटकते रहते हैं।

आप आज के सनसनीपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं को देखिए, उन फिल्मो को देखिए जो आज मानसिक अपरिपक्व मनुष्यों के

बन्द रखकर जीवन की कठोर वास्तविकताओं के निकट भी नहीं आने देता। फिल्मों के निर्माता इन अपरिपक्व तथा कल्पनामग्न वयस्कों की विकृत इच्छाओं को भलीभांति समझते हैं। विज्ञापन करने वाली कम्पनियाँ जानती हैं कि इन वयस्क बच्चों की झूठी शान और अहं को किस प्रकार संतुष्ट किया जा सकता है। और यही कारण है कि इनकी लम्बी जेबें भरने वाले हमारे वयस्क ही हुआ करते हैं। जब किसी राजनीतिज्ञ को भावुक नारे लगाकर वोट लेना होता है तो वह भी इस वर्ग के ही सहारे सफलता प्राप्त करता है।

वयस्कों की मानसिक अपरिपक्वता वैवाहिक नैराश्य का प्रधान ही नहीं सर्वव्यापी कारण भी है। यह व्यक्ति को वास्तविकता से दूर रखकर व्यवस्थित सामाजिक जीवन के एकदम अयोग्य बना देती है। जो स्त्री पुरुष की प्रभुता को अपने ऊपर अन्याय समझकर उसके प्रति विद्रोह करती है, हो सकता है कि आरम्भ के थोड़े दिनों को छोड़कर बाद मे उसका वैवाहिक जीवन सुखी हो जाय, क्योंकि ऐसा करके वह जीवन की एक कठोर वास्तविकता के प्रति अपनी सामान्य प्रतिक्रिया प्रकट करती है। इसी प्रकार वह पुरुप जो पुरुषत्व की धाक जमाने के लिए अपनी जवानी का अधिकांश 'मजनू' बनकर चक्कर लगाने मे बिता देता है, परन्तु उम्र बढ़ने के साथ-साथ अपनी जिम्मेदारी समझने लगता है, अपने पिछले जीवन के बावजूद [illegible]क आदर्श पति या पिता बनकर समाज के लिए उपयोगी

सिद्ध हो सकता है।

परन्तु वह लड़की जो अपने को स्वर्ग की परी समझकर आशा करती है कि सारी दुनिया उसके ऊपर निछावर होगी तथा वह लड़का जो अपने को एक विशिष्ट व्यक्ति मानकर प्रत्येक नारी की आराधना को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता है, शायद ही कल्पना के इस माया-जाल से निकलकर धरती पर पाँव रख सके। इनका उपचार तो तभी हो सकता है जब एक नये सिरे से इनका मनोवैज्ञानिक काया-कल्प किया जाय। उपन्यासों के पृष्ठ इनकी ही रोमांचकारी कहानियों तथा दुःखान्त जीवन-वृत्तान्तों से भरे हुए मिलते हैं। पागलखानों में हम इसी विकृत-वर्ग की चलती-फिरती मूर्तियाँ देखते हैं।

कल्पनात्मक भ्रान्ति

एक हाथी का सुई की नोक से निकल जाना आसान है किन्तु बचपन के बिगड़े हुए व्यक्ति का विवाह-जैसे सहयोग-कार्य में सफल हो पाना असम्भव है। कल्पनात्मक आदर्शवादी को जीवन में चाहे बार-बार धक्के क्यों न खाने पड़ें, उसे अपनी कल्पनात्मक सूझ पर इतना अटूट विश्वास होता है कि वह कभी सुधर नहीं सकता। अपनी असफलता को भी वह उन्हीं विधानों के रंग में रंग लेता है। अपने साध्य के अनुकूल ही वास्तविकता को भी विकृत दृष्टि से देखकर एक काल्पनिक सफलता की भावना में मग्न रहता है। ऐसे लोगों का सारा जीवन ही बचपन

के बीते हुए आनन्दों को फिर से लौटा लाने के भद्दे प्रयत्नों में
बीत जाता है।

अतिशय लाड़-प्यार से बिगड़े हुए इन वयस्क बच्चों को प्रायः लोग 'शरीफ' कहकर पुकारते है, क्योंकि उन्हे जो कुछ कहा जाय, आँख मूँदकर कर डालते हैं, किसी जिम्मेदारी के काम में हाथ नही डालते तथा हमेशा माँ-बाप से चिपके रहते है। इनके कार्यों का क्षेत्र माँ-बाप की आज्ञाओं तक ही सीमित रहता है। ऐसे लोगों ने यदि शादी की और कहीं संयोग से ऐसी पत्नी मिल गई जो माता-पिता की ही भाँति उनकी आदतें बिगाड़ने वाली निकली तो उनका वैवाहिक जीवन तो एक अर्थ में सफल हो जाता है, परन्तु उनकी सन्तान पर इसका बड़ा बुरा असर होता है। वे अपने बच्चों के ऊपर बहुत अधिक लाड़-प्यार की वर्षा करके अपनी मनोविकृति की छूत दूसरी पीढ़ी तक पहुँचा देते हैं।

ऐसे माता-पिताओं का सन्तान-प्रेम इतना अन्धा होता है कि वे इन अभागे बच्चों का उपचार भी ठीक ढङ्ग से नहीं होने देते। शायद ही कोई मानसोपचार-शास्त्रज्ञ ऐसा हो जिसे इन बच्चों के उपचार मे माता-पिता की अन्धी ममता से बाधा न पहुँची हो। इस प्रकार के लड़कों को यदि आप कोई उपयोगी व्यवसाय सिखाना चाहे तो उनका मन काम मे बिलकुल न लगेगा और बार-बार आपकी तबीयत उन्हे जोर से चाँटे लगाने की होगी। ऐसे लड़के-लड़कियों को सुधारने मे बेचारे मास्टरों की दुर्गति

हो जाती है तथा छड़ी तक का प्रयोग करने की नौबत आ जाती है।

परन्तु इतना सब होते हुए भी हमे इन अभागों के साथ—जो पीढ़ियों से चले आते हुए दूषित शिक्षा के आदर्शों के शिकार हैं—सहानुभूति से ही काम लेना चाहिए। स्पष्ट है कि इन लोगों को दुनिया का जो नक्शा बताया गया है उसके अनुसार उनका आचरण एकदम ठीक और तर्क-युक्त है। न तो हम ऊबकर उन्हे छोड़ ही सकते हैं, और न उनकी विवशता और भोलेपन को अच्छा ही कह सकते हैं। सच तो यह है कि इन व्यक्तियों को उनके आदर्शवादी सपनों से जगाकर उपयोगी नागरिक न बनाना एक बड़ा अपराध है।

इन भावुक आदर्शवादियों को हम कई श्रेणियों में बाँट सकते है। एक तरफ तो वे लड़कियाँ हैं जिनके माता-पिता ने उनकी सुन्दरता और विशेषताओं का इतना जबरदस्त सिक्का उनके दिलों पर बिठा दिया है कि उन्हे कोई पुरुष अपने योग्य जँचता ही नहीं। यदि कोई पसन्द भी आता है तो वह या तो किसी नाटक, चल-चित्र, या उपन्यास का नायक होता है, अथवा कोई विवाहित पुरुष होता है। अभिप्राय यह है कि अपने मन मे वे हमेशा किसी अलौकिक देवकुमार की ही खोज मे लगी रहती है। असलीयत को तो जैसे वे समझतीं ही नहीं। परिणाम यह होता है कि थोड़े ही दिनों मे उनका स्वभाव चिड़चिड़ा तथा हर चीज की आलोचना करने वाला बन जाता है। अन्त मे समाज की परम्परा का [illegible]

आश्रय की आवश्यकता से मजबूर होकर जब उन्हें विवाह करना ही पड़ता है, तो अपने हाथों कोई काम करना तो दूर रहा बेचारे पति से ही अपनी सारी निराशाओं का प्रतिशोध लेती हैं, क्योंकि उनकी बढ़ी-चढ़ी माँगों की पूर्ति करना उसके लिए सर्वथा असम्भव होता है। जब उनकी असली पसन्द का आदमी उनकी कल्पना में निवास करता है, जिसकी रचना उन्होंने संसार के कोने-कोने से विशेषताएं चुनकर अपने मन में कर रखी है, तो भला इस मर्त्यलोक के आदमी से वह कैसे संतुष्ट हो सकती हैं?

ये कल्पनात्मक आदर्शवादी वे लोग हैं जो जीवन-भर प्रेम करते और तोड़ते रहते हैं। इनका जीवन एक ऐसा नाटक है जिसके पात्र की मनोवृत्ति एक नौसिखिए खिलाड़ी-जैसी होती है, और ये एक गन्दे खेल की झूठी भावुकता से जीवन-नाटक खेला करते हैं। प्रेमासक्ति का मनोवैज्ञानिक अर्थ एक गम्भीर विवेचन का विषय है। यह शब्द जितना ही प्रचलित है, इसका अर्थ उतना ही गूढ़ है। अनेक लोग 'प्रथम दर्शन में ही प्रेमासक्ति' (लव एट फर्स्ट साइट) की बात करते हैं, परन्तु इसका जो अर्थ होता है उसके अनुसार यह संभव नहीं है कि उनका जीवन सुखी होगा। आजकल लोग वैवाहिक जीवन की सफलता के लिए प्रेमासक्ति की पूर्व-उपस्थिति आवश्यक समझने लगे हैं, परन्तु इसमें जरा भी तथ्य नहीं है। हो सकता है कि कभी किसी स्त्री-पुरुष ने प्रथम दर्शन में एक-दूसरे के प्रति अनुभव किये स्वाभाविक आकर्षण को 'प्रेमासक्ति' मानकर, तथा यह सोच-

कर कि जब प्रेम मौजूद है तो अन्य बातें अपने-आप आ जायेंगी, शादी कर ली हो और परम्परागत अर्थ मे सुखी वैवाहिक जीवन भी बिता लिया हो, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है।

जैसा हमने पहले भी बताया है प्रेम वर्षों के अनवरत सहयोग तथा पारस्परिक सुख-दु:ख के अनुभव का फल होता है। अतएव एक आध असाधारण उदाहरणों को छोड़कर प्रेम को, जो वास्तव में सुखी जीवन का परिणाम है, उसका आधार नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों मे, 'प्रेमासक्ति' सामान्य स्थिति मे भली प्रकार बिताये हुए जीवन का एक सुखपूर्ण पारितोषक है न कि वैवाहिक जीवन की नींव। यदि लोग मनोविज्ञान के इस सरल नियम को भलीभाँति समझ लेते तो हमारे जीवन और साहित्य की अधिकांश विकृति अपने-आप दूर हो जाती तथा आज के मानव-समाज मे देखे जाने वाले अनेक दु:खान्त विवाह सदा के लिए बन्द हो जाते।

रोमांचकारी इन्द्रजाल—प्रेमासक्ति

प्रेमासक्त होने की मनोवैज्ञानिक क्रिया की तुलना मनुष्य की आकृति के उन विद्युत्-यन्त्रों (रोबॉट) की चाल से की जा सकती है, जो एक ध्वनि-विशेष का संकेत पाते ही विविध प्रकार के कार्य कर डालते है। ध्वनि का संकेत पाकर जब मशीन कोई काम करने के लिए चल पड़ती है तो फिर हज़ार मिन्नत करने पर भी आप उसे यह काम करने से रोक नहीं सकते। [illegible]

आश्रय की आवश्यकता से मजबूर होकर जब उन्हें विवाह करना ही पड़ता है, तो अपने हाथों कोई काम करना तो दूर रहा बेचारे पति से ही अपनी सारी निराशाओं का प्रतिशोध लेती हैं, क्योंकि उनकी बढ़ी-चढ़ी माँगों की पूर्ति करना उसके लिए सर्वथा असम्भव होता है। जब उनकी असली पसन्द का आदमी उनकी कल्पना में निवास करता है, जिसकी रचना उन्होंने संसार के कोने-कोने से विशेषताएं चुनकर अपने मन में कर रखी है, तो भला इस मर्त्यलोक के आदमी से वह कैसे संतुष्ट हो सकती है

ये कल्पनात्मक आदर्शवादी वे लोग हैं जो जीवन-भर करते और तोड़ते रहते हैं। इनका जीवन एक ऐसा नाटक जिसके पात्र की मनोवृत्ति एक नौसिखिए खिलाड़ी-जैसी होती और ये एक गन्दे खेल की झूठी भावुकता से जीवन-नाटक खे करते हैं। प्रेमासक्ति का मनोवैज्ञानिक अर्थ एक गम्भीर विवे का विषय है। यह शब्द जितना ही प्रचलित है, इसका अ उतना ही गूढ़ है। अनेक लोग 'प्रथम दर्शन में ही प्रेमास (लव एट फर्स्ट साइट) की बात करते हैं, परन्तु इसका अर्थ होता है उसके अनुसार यह संभव नहीं है कि उन जीवन सुखी होगा। आजकल लोग वैवाहिक जीवन का सफल के लिए प्रेमासक्ति की पूर्व-उपस्थिति आवश्यक समझने लगे परन्तु इसमें जरा भी तथ्य नहीं है। हो सकता है कि कभी कि स्त्री-पुरुष ने प्रथम दर्शन में एक-दूसरे के प्रति अनुभव कि एक स्वाभाविक आकर्षण को 'प्रेमासक्ति' मानकर, तथा यह सोच-

कर कि जब प्रेम मौजूद है तो अन्य बातें अपने-आप आ जायेंगी, शादी कर ली हो और परम्परागत अर्थ में सुखी वैवाहिक जीवन भी बिता लिया हो, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है।

जैसा हमने पहले भी बताया है प्रेम वर्षों के अनवरत सहयोग तथा पारस्परिक सुख-दुःख के अनुभव का फल होता है। अतएव एक आध असाधारण उदाहरणों को छोड़कर प्रेम को, जो वास्तव में सुखी जीवन का परिणाम है, उसका आधार नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में, 'प्रेमासक्ति' सामान्य स्थिति में भली प्रकार बिताये हुए जीवन का एक सुखपूर्ण पारितोषक है न कि वैवाहिक जीवन की नींव। यदि लोग मनोविज्ञान के इस सरल नियम को भलीभाँति समझ लेते तो हमारे जीवन और साहित्य की अधिकांश विकृति अपने-आप दूर हो जाती तथा आज के मानव-समाज में देखे जाने वाले अनेक दुःखान्त विवाह सदा के लिए बन्द हो जाते।

रोमांचकारी इन्द्रजाल—प्रेमासक्ति

प्रेमासक्त होने की मनोवैज्ञानिक क्रिया की तुलना मनुष्य की आकृति के उन विद्युत्-यंत्रों (रोबॉट) की चाल से की जा सकती है, जो एक ध्वनि-विशेष का संकेत पाते ही विविध प्रकार के कार्य कर डालते हैं। ध्वनि का संकेत पाकर जब मशीन कोई काम करने के लिए चल पड़ती है तो फिर हजार मिन्नत करके भी आप उसे वह काम करने से रोक नहीं सकते। कल्पनात्मक

आदर्शवादी बिजली से चलने वाले इस यंत्र के ही समान है। उनका मनोवैज्ञानिक ज्ञान-तंतु (ऑएटैनी) एक ऐसी प्रेरक शक्ति से सधा हुआ होता है, जिसकी रूप-रेखा उनके बचपन के अनुभवों के अनुरूप ही बन चुकी होती है।

उदाहरण के लिए एक ऐसी लड़की को ले लीजिए जिसे परिवार भर मे अपने पिता से ही लाड-प्यार मिला है। उसके चार भाई भी हैं परन्तु वे देखने मे आकर्षक नहीं हैं और उसे प्यार करने की जगह बराबर तंग करते रहे हैं। इसके विपरीत उसके स्नेही पिता, जिनकी देख-रेख में उसका सारा बचपन व्यतीत हुआ है, भूरे बालों और सुगठित शरीर वाले एक विनोदप्रिय और संभ्रान्त पुरुष हैं। लड़की के मस्तिष्क पर इस आकर्षक पिता के व्यक्तित्व का इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि अपने भावी जीवन की कल्पना में उसने ऐसे ही एक पुरुष को अपना आदर्श बना रखा है। स्वाभाविक है कि उसके बचपन का सारा आनन्द जिस एक प्रकार के सम्मोहक व्यक्तित्व पर केन्द्रित रहा है, वही उसके भावी स्वप्नों का आधार बने। लड़की के अबोध मन में यह धारणा बैठ जाती है कि यदि अपने जीवन-नाटक में भी बचपन के-से ही मनोहर दृश्यों और पात्रों का आयोजन कर ले तो उसका वह आनन्द चिरस्थायी हो सकता है। नतीजा यह होता है कि इस काल्पनिक संसार की खोज मे ही धीरे-धीरे वह ३५ वर्ष की प्रौढ़ा नारी बन जाती है। अब तक वह ज्ञारों व्यक्तियों से परिचित हो चुकी है, परन्तु एक भी उसके

आदर्श के निकट तक नहीं पहुँच सका है, कोई भी उसके बनाए नक्शे मे ठीक नहीं बैठता। और चूँकि उसके ज्ञान-तंतुओं को सही प्रेरणा पर सधने का अवसर कभी मिला ही नही, प्रत्येक मनुष्य मे उसे कोई-न-कोई अभाव अवश्य खटकने लगता है।

इसके बाद ही अमरीका जाते हुए एक जहाज पर यह युवती महिला एक मिस्टर 'अ' से मिलती है और एकाएक इस पुरुष में उसे अपना चिर-वांछित उद्दीपन (स्टिमुलस) मिल जाता है। यह पुरुष जहाज पर ही काम करने वाला एक छोटा अफसर है, विवाहित है, दो बच्चों का पिता है तथा उसकी स्त्री, जिसे वह हृदय से प्यार करता है, बच्चों के साथ न्यूयार्क में रहती है। परन्तु हमारी युवती महिला तुरन्त अपनी सारी आलोचना-बुद्धि को ताक पर रखकर अपने जीवन-स्वप्न के काल्पनिक उपभोग मे मग्न हो जाती है। वह इस बात को ध्यान मे भी नहीं लाती कि मिस्टर 'अ' की शिक्षा बड़ी साधारण है, उसकी अपनी और 'अ' की परिस्थिति में रत्ती-भर भी साम्य नहीं है, वह विवाहित है तथा उसकी तरफ 'अ' का आकर्षण बहुत मामूली है।

मिस्टर 'अ' के मुँह मे एक भी सुहावना शब्द निकला कि महिला ने उसे प्रेम की स्वीकृति समझा, तथा आशा करने लगी कि वह जहाज छोड़कर यूरोप लौट चले और जल्द-से-जल्द उसके साथ शादी कर ले। महिला 'प्रेमासक्त' हो गई है। उसके भावों की हार्दिकता तथा 'अ' के प्रति उसकी सच्ची संवेदना में भी कोई सन्देह नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मानो 'अ' के

व्यक्तित्व ने उसे मंत्र-मुग्ध कर लिया है। वह समझती है कि यह व्यक्ति उसकी कल्पना के एकदम अनुरूप उतरता है तथा इसके साहचर्य में ही वह अपने जीवन के स्वर्गीय सपनों को प्राप्त कर सकती है। परन्तु एक बाहर से देखने वाले को जो इस सारी परिस्थिति की विषमता को भलीभाँति समझ रहा है, इस महिला का विचित्र दृष्टिकोण पागलपन का एक नमूना प्रतीत होता है।

'प्रेमासक्ति' को एक अस्थायी पागलपन कहा जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्याकार विद्युत्-यंत्र द्वार खोलने के किसी नियुत ध्वनि-संकेत को सुनते ही आगे बढ़कर दरवाजा खोल देता है ठीक उसी प्रकार इस युवती महिला ने अपने भावात्मक जीवन-यन्त्र को एक पुरुष के काल्पनिक आकर्षण-मात्र पर एक ऐसी दिशा में तथा एक ऐसे बीहड़ पथ पर डाल दिया है, जहाँ से लौटना असंभव है। महिला महसूस करती है कि वह एक ऐसे प्रबल और अवर्णनीय मनोविकार (पैशन) का शिकार बन रही है, जिसका रोकना उसके व्यक्तित्व की शक्ति के बाहर है। जब कोई तटस्थ निरीक्षक उस महिला को यह कहकर उस व्यक्ति का विचार करने से मना करता है कि उसकी कल्पना का आधार बाल-बच्चों वाला आदमी है, उसकी हैसियत ऐसी नहीं है कि वह उसे उस ढंग से रख सके जिसकी उसे (महिला को) आदत है, वह एक अच्छा साथी भी नहीं बन सकता क्योंकि उसको अपना अधिकांश समय जहाज पर बिताना पड़ता है, या इसका पति बनने के लिए उसकी अवस्था कम-से-कम १० वर्ष

अधिक है, तो उसका उत्तर केवल इतना ही होता है, "परन्तु मैं उसे प्यार करती हूँ। उसे अपनी स्त्री को छोड़कर मेरे पास आ जाना चाहिए। मैं आपको बताती हूँ कि मैं उसे दिल से प्यार करती हूँ।"

प्रथम दर्शन मे उत्पन्न प्रेमासक्ति का भविष्य

हजारों व्यक्ति, जो यों साधारण जीवन मे सयाने कहे जायंगे इसी प्रकार की ऊपर से उत्तेजक और रोमांचकारी प्रतीत होने वाली, परन्तु वास्तव मे वैवाहिक जीवन के लिए सर्वथा घातक परिस्थितियों मे प्रेमासक्त हो जाते है। यदि वह युवती महिला जहाज के उस अफसर को अपने निर्णय से सहमत कर लेती तथा थोड़े दिनों के संग के बाद दोनों का विवाह हो जाता तो अधिक सम्भावना इस बात की ही होती कि शीघ्र ही युवती का स्वप्न भंग हो जाता और एकाएक एक सुबह को उसे यह भयकर अनुभव होता कि जैसे उसके पलंग पर कोई अजनबी सोया हो। वह देखती कि उसके प्रिय पिता से शारीरिक समता रखते हुए भी उसका पति 'अ' एक शराबी, निर्दयी और कठोर पुरुष है; कला और साहित्य पर, जो उसके जीवन की प्रधान प्रवृत्तियाँ है, बात करने की तमीज उसे छू भी नहीं गई है तथा सामाजिक शिष्टाचार की दृष्टि से उसमे ऐसी कोई योग्यता नहीं है कि वह उसके मित्रों की मंडली मे बैठ भी सके। इसके बाद ही बेचारी

महिला के इस प्रेम-नाटक का दुःखान्त आ जाता तथा कल्पनात्मक अपरिपक्वता के खाते में एक और टूटा हुआ दिल तथा दो बिखरे हुए जीवन जमा हो जाते।

दूसरी संभावना यह होती कि शायद नैराश्य के पहले झोंके मे वह महिला हार न मानती और आदर्शवादियों के इस सिद्धात का प्रयोग आरम्भ करती कि "चूँकि मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ, मैं जो कुछ कहूँ वह तुम्हें करना ही पड़ेगा।" अर्थात् बार-बार वह 'अ' को तम्बाकू पीने, शराबखोरी तथा इसी प्रकार की अन्य बुरी आदते छोड़ने पर मजबूर करती। इन बातों को लेकर रोज ही घर में कलह मचा रहता। यह नहीं कहा जा सकता कि यह आदते अच्छी हैं, परन्तु जैसी भी हों 'अ' की आदतें वे जरूर ही बन गई है। यदि हमारी युवती ने प्रथम दृष्टि में ही प्रेमासक्त बनकर अपनी सारी अकल बेच न दी होती तो आरम्भ मे भी इन बुरी आदतों पर उसकी निगाह पड़ सकती थी। जो-कुछ उसे मिला है उसकी अपनी करनी का फल है। कोई भी व्यक्ति किसी एक चीज पर—चाहे वह भूरे बाल हों, मधुर हास्य हो, सुन्दर वर्ण हो, छरहरा बदन हो, या सुडौल पैर हों—मुग्ध होकर शादी नहीं कर सकता; और यदि अभाग्यवश ऐसा कर बैठे तो फिर उसको यह आशा करना बेकार है कि चूँकि एक चीज पर वह मुग्ध है, तो और सब अपने-आप ठीक हो जायगा।

पूर्व मे कई जातियों मे माता-पिता द्वारा ठीक किये हुए विवाह ही प्रचलित हैं। इनमे युवक और युवती के प्रेम को इतना महत्व

नहीं दिया जाता जितना उनकी सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक, राजनीतिक या धार्मिक परिस्थितियों के साम्य को। पश्चिम मे लोग ऐसे विवाहो को भय और विस्मय की दृष्टि से देखते है। हालाँकि हम भी ऐसे विवाहो के पक्ष मे नहीं हैं, जिनको माता-पिता केवल अपने स्वार्थ-साधन के लिए ठीक कर देते है, परन्तु हमारा यह अटल विश्वास है कि विवाह के पहले से ही प्रेमासक्त होना कोई ऐसा आवश्यक तत्व नहीं है जिसके बिना सुखी वैवाहिक जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

वैवाहिक सम्बन्धों मे सुख की मात्रा बहुत बढ़ जाती यदि विवाह करने वाले प्रेम की बात कम सोचते तथा अपनी आर्थिक परिस्थिति, सन्तान-पालन के सिद्धान्त, खाली समय का पारस्परिक सदुपयोग, सामाजिक सहयोग के क्षेत्र में दोनों की सफलता का पिछला इतिहास तथा भविष्य में मिलकर जिम्मेदारी उठाने की योग्यता आदि आवश्यक विषयो पर गंभीरतापूर्वक विचार कर लेते। कितनी विचित्र बात है कि यदि कोई आदमी किसी व्यापार या साँझेदारी में महज इसलिए शामिल होने को लालायित हो उठता है कि उस व्यवसाय विशेष के दफ्तर की कुर्सी और मेज उसे बहुत पसन्द आय तो लोग उसे बेवकूफ बनाते है, परन्तु यदि वही आदमी एक लड़की से केवल इसलिए शादी कर ले कि वह देखने मे सुन्दर है, नाच अच्छा करती है तथा पार्टियों में जाने की शौकीन है, तो उसके मित्र उसे बधाई देते नहीं थकते।

दस वर्ष के बाद इस तरह शादी करने वाला आदमी दूसरी स्त्रियों के साथ मनोरंजन ढूँढता हुआ देखा जाता है। उसकी पत्नी प्रायः शराब पीने लगती है। दोनों ही बुरी तरह दुखी हैं। महज बच्चा एक ऐसा संयुक्त आकर्षण है जिसके कारण दोनों साथ रहने पर मजबूर हैं। बेचारे बच्चे की भी हालत बुरी है। माँ और बाप में से किसी को भी उसमें सच्ची दिलचस्पी नहीं है। वैवाहिक सुख के लिए आवश्यक सांसारिक सहयोग की इन अनेक बातों का ख़याल किये बग़ैर महज प्रेमासक्त बनकर विवाह कर लेने के दुष्परिणाम ऐसे ही हुआ करते हैं। वैवाहिक जीवन के जिस आनन्द का निर्देश "और उसके बाद दोनों आनन्दपूर्वक रहने लगे" वाले प्रचलित वाक्य में किया गया है, वह तो शायद ही कभी उस बदनसीब को मिल सकता है, जो आरम्भ के चुनाव में ही ऐसी मूर्खतापूर्ण भूल कर बैठता है।

परिपक्व प्रेम बनाम भावुकता

लोगों का वैवाहिक जीवन बहुत अधिक सुखी होता यदि स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की योजना उनकी सामाजिक, बौद्धिक और व्यावसायिक समताओं, सन्तान और राष्ट्र के प्रति उनके उत्तरदायित्व तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर की जाती, तथा वे अपने जीवन का आरम्भ कल्पित प्रेम की नींव पर न [illegible]के इस विश्वास के साथ करते कि यदि उन्होंने उचित वैवा-

हिक आचरण का पालन किया तो दस-पाँच वर्षों के निरन्तर सहयोग का पारितोषिक उन्हे 'प्रेम' के रूप मे ही मिलेगा। भाव, आदर्श और मस्तिष्क की दृष्टि से अपरिपक्व लोगों ने 'प्रेम' शब्द का इतना दुरुपयोग किया है कि उसका सारा अर्थ ही बदल देने की आवश्यकता है। अक्सर लोग सोचते हैं कि 'प्रेम' मानवीय भावों में एक विशेष श्रेणी की वस्तु है, परन्तु तथ्य यह है कि वह एक विशिष्ट सामाजिक भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रेम केवल वह सामूहिक चेतना है जिस पर सारे मानवीय सम्बन्ध आधारित है।

यदि 'मित्रता' मे दो भिन्न-जातीय (हेटरोसैक्स्वल) व्यक्तियों के बीच सहज रूप मे पाई जाने वाली सहयोग-भावना को और जोड़ दिया जाय तो दोनों के संयोग को 'प्रेम' कहेगे। दूसरे शब्दों में मित्रता और कामवृत्ति का योग ही 'प्रेम' है। हो सकता है अपरिपक्व भावना वाला व्यक्ति शरीर से पूर्ण विकसित हो तथा संभोग करने की योग्यता भी रखता हो, परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे व्यक्ति के लिए सच्चे प्रेम का अनुभव कर पाना उसी प्रकार असम्भव है जैसे सड़क पर झाड़ू लगाने वाले के लिए महाकवि बाणभट्ट की कविता का आनन्द ले पाना।

'प्रेम' के कारण भावुक आदर्शवादी को जितना कष्ट भोगना पड़ता है, उतना अन्य किसी को नहीं। हालाँकि यह सही है कि इन्हीं आदर्शवादियों में से कइयों ने समाज को सुन्दरतम काव्य, उच्च कोटि के नाटक, दिल दहला देने वाले उपन्यास तथा

मनोहारी सङ्गीत प्रदान किए हैं, फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि यदि इन लोगों ने प्रयत्न किया होता तो इनका प्रेम-जीवन अधूरा न रहकर सब प्रकार से पूर्ण हुआ होता तथा उस अवस्था में भी उनकी रचनाओं की श्रेष्ठता उसी कोटि की हुई होती। किसी भी पाठक को यह न समझना चाहिए कि सुन्दर काव्य और सगीत की सृष्टि के लिए भावुक आदर्शवादी होना आवश्यक है। हाँ, जहाँ तक साधारण कलात्मकता का प्रश्न है, उसे कल्पनात्मक आदर्शवाद का ही एक प्रकार कहना चाहिए। और तुकबन्दी लिखने के लिए उच्च कोटि की कामना और आदर्शवाद की जरूरत नहीं पड़ती।

संसार के साहित्य में इन अपरिपक्व भावना वाले प्रेमियों की विलक्षणता पर जितना अधिक लिखा गया है उतना शायद ही अन्य किसी एक विषय पर लिखा गया हो। हर भावुक आदर्शवादी को पक्का विश्वास होता है कि उसने जो कुछ किया एकदम ठीक किया। और चूँकि उसकी निगाहों में उसकी अपनी वेदनाएं और गुत्थियाँ अपने ढंग की निराली होती हैं, शिष्टाचार और विनय का संकोच किसी-न-किसी काव्यात्मक रूप में अपने टूटे हुए प्रेम की कहानी कह डालने से उसे नहीं रोक सकता। उसे प्रबल आकांक्षा होती है कि दुनिया भी उसकी वेदनाओं को देखे और समझे, कोई-न-कोई समवेदना प्रकट करने वाला मिल ही जायगा।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कल्पनात्मक परम्पराओं ने

सर्वसाधारण के मस्तिष्क पर इतना गहरा प्रभाव जमा रखा है। रोज ही कोई-न-कोई भावुक मन किसी-न-किसी कल्पनात्मक प्रेम-काव्य की रचना करता रहता है। दुनिया उसके लिए इतनी भूखी जो है? स्कूलों के लडके-लड़कियाँ बिना किसी प्रकार की आलोचना किये या परिणाम का खयाल किये हुए इन काव्यों मे मग्न देखे जाते हैं तथा यदि किसी सयाने व्यक्ति ने समझा कर या उदाहरण देकर उन्हे जीवन की सच्ची राह पर न मोड़ा तो वे उन्हीं काल्पनिक काव्यों के अनुसार अपने जीवन का नक्शा भी बनाने लगते है। कितने तो ऐसे होते हैं जो सारा जीवन ही इसी कल्पना के पीछे गँवा देते है।

अब हमे सोचना चाहिए कि सुखी प्रेम-जीवन की—चाहे वह विवाह के पहले हो या बाद में—आवश्यकताएं क्या हैं। जिस पाठक ने प्रेम के विरुद्ध किये जाने वाले तीन पापों—अज्ञान, प्रतिद्वन्द्विता और भावुक आदर्शवाद को भली भाँति समझ लिया है, उसके लिए इतना ही कह देना काफी है कि यदि कोई व्यक्ति इन गलतियों से बच जाय तथा थोड़े सन्तोष और विनोद-वृत्ति से काम लेकर जीवन-निर्वाह कर सके, तो वह किसी भी प्रेम या विवाह-सम्बन्ध को सुखी और सफल बना सकता है। मिथ्याभिमान, झूठी शान के लिए प्रतिद्वन्द्विता, अपने साथी को नीचा दिखाकर प्रभुत्व स्थापित करने की प्रवृत्ति, उसकी परिस्थितियों और समस्याओं को अपनी समझ सकने की अयोग्यता तथा हर बात मे अपने ही को पूर्ण, सही और श्रेष्ठ

समझने की कोशिश आदि ऐसे दुर्गुण हैं, जो किसी भी सम्बन्ध को विषाक्त बना देने के लिए काफी हैं। प्रेम-सम्बन्ध में तो इनके दुष्परिणाम बहुत ही घातक होते हैं। प्रेम-सम्बन्ध का निर्वाह उतना ही कलापूर्ण और रचनात्मक कार्य है जितना स्वयं जीवन-निर्वाह। अभिप्राय यह है कि जिन लोगों ने आत्म निर्माण की कला में पूरी सफलता प्राप्त कर ली है, उन्हीं को वैवाहिक सम्बन्ध में बँधकर इस नये आनन्द और संसार की सृष्टि करनी चाहिए।

कुछ उपयोगी सुझाव

आज जब परिवार की पैतृक संस्था का जोरों से विघ(डिस-इण्टेग्रेशन) हो रहा है तथा हमारी प्रेम-समस्याओं सुलझाने में आर्थिक परिस्थितियों का महत्व इतना अधिक ब गया है, हमें मानना पड़ेगा कि प्रेम और विवाह की समस्या क कोई एक आदर्श हल नहीं बताया जा सकता। चूँकि प्रत्ये व्यक्ति के लिए अपनी उस समस्या का हल अपने दृष्टिकोण तथ अपने ढंग से निकालना आवश्यक है, हम केवल इतनी ही राय दे सकते हैं कि "सारी बातों को पहले अच्छी तरह समझ लीजिए तथा जिस समाज में आप रहते हैं उसकी सर्वश्रेष्ठ मान्यताओं के अनुसार जितना सहयोग आप कर सकते हैं, उसमें कुछ भी उठा न रखें।" यदि आप महसूस करते हैं कि जानने योग्य कुछ [illegible]श्यक बातें आपके सामने नहीं हैं तो आप किसी कुशल मानस-

शास्त्री से, या विशेषज्ञ के अभाव में किसी सुखी और सफल दम्पति से, परामर्श कर लें। अनेक ऐसी बातें, जो प्रथम दृष्टि में आपको बड़ी गूढ़-सी प्रतीत होती हैं, ऐसा करने से पूरे प्रकाश में आ जायगी।

व्यक्तिगत लैंगिक समस्याओं के सही हल प्रायः दैनिक जीवन के छोटे-छोटे झंझटों तथा परेशानियों से और कठिन हो जाते हैं। कई प्रेम-सम्बन्ध इसलिए टूट गए हैं कि दोनों प्रेमियों को बहुत दिन तक एक-दूसरे के अत्यन्त निकट और साथ रहना पड़ा है। हमारे विचार से विवाहित जीवन के आनन्द को स्थायी बनाए रखने के लिए कभी-कभी पति-पत्नी का अलग रहना भी आवश्यक है। इससे उनमें से प्रत्येक को ऐसा अवसर मिल जाता है जब वे अपना समय बिना एक-दूसरे के दखल के अपनी इच्छा के अनुसार बिता सकते हैं। सामान्य व्यक्तियों में कुछ दिनों का यह वियोग उनके अन्दर एक-दूसरे के प्रति नई दिलचस्पी और आकर्षण पैदा करते देखा गया है। परन्तु जहाँ इसका परिणाम ईर्ष्या, बेचैनी अथवा सन्देह आदि के रूप में दिखाई दे, वहाँ इसे दोनों में से एक साथी के अन्दर दूषित परिग्रह-वृत्ति (पोज़ैसिवनैस) का लक्षण समझना चाहिए। परिग्रह-वृत्ति, ईर्ष्या, प्रतिद्वन्द्विता, या आवश्यकता से अधिक प्रेम प्रदर्शन, ये सभी भावात्मक अपरिपक्वता के द्योतक हैं। पुरुष का द्वेष उसकी हीन-भावना (इन्फीरियारिटी काम्प्लैक्स) का परिचायक है तथा अपने साथी को हमेशा बाँध रखने की परिग्रह

वृत्ति अरक्षितता (इन्‌सिक्योरिटी) की भावना प्रकट करती है।

प्रेम को बाँटा जा सकता है, किसी को दिया जा सकता है, परन्तु माँगा नहीं जा सकता। हमने पत्नियों को शिकायत करते सुना है कि उनके पति अब उनसे प्रेम नहीं करते, मानो यह उनके पतियों में ही किसी दोष का लक्षण है, जबकि असली कारण यह है कि पत्नियों ने विवाह के बाद अपना जीवन ऐसा रखा ही नहीं कि पतियों का प्रेम सुहाग के ही दिनों-जैसा बना रहता। हमने अनेक माता-पिताओं को भी रोना रोते सुना है कि उनके बच्चे उनसे स्नेह नहीं करते या उनका आदर नहीं करते। वे ऐसा समझते हैं मानो स्त्री-पुरुष का संभोग—जो बच्चों की पैदायश का एक-मात्र कारण है—कोई ऐसी गारण्टी है कि उस सभोग से पैदा हुए बच्चे जीवन-भर अपने पैदा करने वालों से प्रेम करते रहें। इसी प्रकार हमने अनेक भावुक पतियों को यह कहकर रोते और आहें भरते देखा है कि उनकी पत्नियाँ अब उनमें पहले-जैसी दिलचस्पी नहीं लेतीं, जैसे कि कृत्रिम विनोदों, छोटी-छोटी कृपाओं तथा आदर और शिष्टाचार के उन मिथ्या प्रदर्शनों का बन्द हो जाना ही—जिनकी प्रथम मिलन के दिनों में भरमार हुआ करती थी—दो व्यक्तियों में सच्ची मानवीय संवेदना तथा सहज वैवाहिक आकर्षण के अभाव का स्पष्ट प्रमाण है।

स्वतन्त्रता की भाँति प्रेम में आनन्द भी निरन्तर सतर्कता और पारस्परिक अभियोजन (म्युच्वल एडजस्टमेण्ट) के ही मूल्य

पर खरीदा जा सकता है। इस प्रेम से कभी सुख नहीं मिल सकता जिसमें सारा अभियोजन (एड्जस्टमेण्ट) केवल एक साथी को करना पड़े तथा दूसरा अपनी पूर्णता के मिथ्या घमण्ड से चट्टान की तरह अपनी जगह पर खड़ा रहे। इनके अतिरिक्त सस्ती भावुकता और लोगों के सामने आवश्यकता से अधिक प्रेम-प्रदर्शन ठीक उसी प्रकार प्रेम का भ्रम भङ्ग कर देते हैं जैसे इसका विपरीत विश्वास, अर्थात् किसी भी प्रकार की प्रेमाभिव्यक्ति को लड़कपन और मूर्खता की निशानी ही समझना, प्रेम की सहज सुन्दरता और आनन्द को नष्ट कर देता है। ऊपर हमने दो सिरों (एक्स्ट्रीम्स) का वर्णन किया है। एक तरफ विवाह-जैसे कोमल सम्बन्ध से भी निरुत्साह और व्यापारिक दृष्टिकोण से काम लेना तथा दूसरी तरफ कल्पना से भरे हुए रोमाञ्चकारी तूफान में बह जाना। परन्तु जहाँ तक आदर्श मानवीय प्रेम का सम्बन्ध है वह इन दोनों सिरों के बीच की वस्तु है। आनन्द की ही भाँति प्रेम की प्राप्ति भी वहीं होती है जहाँ दोनों साथी एक-दूसरे को केवल अपने ही लिए नहीं वरन् सारी मानवता के लिए उपयोगी समझते हैं।

कोई भी दो मनुष्य पूर्ण नहीं होते। बहुत सम्भव है कि अच्छे-से-अच्छे विवाह-सम्बन्ध में बँधे हुए स्त्री-पुरुषों में से भी एक या दोनों में कुछ लड़कपन या अपरिपक्वता बाकी हो। शायद ही कोई ऐसा पुरुष हो जो किसी-न-किसी क्षेत्र-विशेष में अपने को संपूर्ण समझने की स्पृहा न रखता हो, हालाँकि

वैसे जीवन के प्रति उसका सामान्य दृष्टिकोण एकदम ठीक भी हो। इसी प्रकार शायद ही कोई स्त्री हो जो किसी-न-किसी क्षण एक क्षेत्र-विशेष में अपने को अद्वितीय समझने की कल्पना न कर लेती हो। चतुर व्यक्ति अपने साथी की इस छोटी-सी आदत पर ध्यान नहीं देते, विशेषकर जब वह जीवन के एक अति गौण क्षेत्र तक ही सीमित रह जाती है।

मैं कई ऐसे विवाहों को जानता हूँ जिनमें पत्नी को यह खब्त था कि वह भोजन बनाने की कला में बड़ी प्रवीण है, जबकि असलियत बिलकुल इसके विपरीत थी। फिर भी वह विवाह सम्बंधपूर्ण सुखी था, क्योंकि पति इस बात पर कभी ध्यान न देता था। मैं एक और विवाह जानता हूँ जिसमें एक चतुर पत्नी ने अपने पति के इस विश्वास का कभी खंडन न किया कि सारे महत्वपूर्ण निर्णय वह अकेले ही करता है, हालाँकि वह जानती थी कि हफ्तों पहले स्वयं उसी ने वह निर्णय अपने पति को सुझाया था। उल्टे वह चुपचाप उस समय की प्रतीक्षा करती थी जब उसका पति अपने विचारों को इस स्वाभिमान के साथ घोषित करता था मानो उसने कोई नया आविष्कार किया है। दूसरी तरफ मैंने अनेक विवाहों को केवल इसलिए विच्छेद होते देखा है कि पत्नी ने ताश खेलते समय पति की चालों पर एतराज किया अथवा तस्वीरें टाँगने या कमीज के अनुकूल टाई चुनने के उसके तरीकों को नापसन्द किया।

इस प्रकार के मानसिक नैराश्य के अनेक उदाहरण दिये

जा सकते हैं, परन्तु इनसे मानवीय आचरण के किसी सामान्य नियम का प्रतिपादन नहीं होता। सबसे सुन्दर नियम यह है कि विवाह करने के पहले अपने साथी को भली-भाँति समझ लीजिए तथा विवाह के बाद उसे वही समझिए जो वह वास्तव में है और उसी का उत्तम-से-उत्तम उपयोग कीजिए। जो पुरुष वेश्याओं से विवाह करते हैं यह सोचकर कि उन्हें साध्वी बना लेंगे, तथा जो स्त्रियाँ शराबियों, अफीमचियों और जुआरियों से इस आशा मे विवाह कर लेती हैं कि वे उन्हें सुधार लेंगी, ठीक वही पाती हैं जिसकी वे पात्र हैं—अर्थात् जीवन-भर के लिए उनके घमण्ड का अपमान। ऐसे व्यक्तियों के लिए विवाह नाना प्रकार के मानसिक विकारों का कारण बन जाता है।

विवाह और प्रेम के सम्बन्ध तब तक सुखी नहीं हो सकते जब तक हम अपने बच्चों के दिमाग़ से कल्पनात्मक उद्दीपन (पैशन्स) के प्रबल वेग से उत्पन्न भ्रान्ति (फ़ैलेसीज़) को निकाल-कर प्रेम-कला की क्रियात्मक शिक्षा नहीं देते तथा प्रत्येक स्त्री और पुरुष को यह सिखा नहीं देते कि उन्हे अपने भावों और काम-वृत्तियों को ठीक उसी प्रकार जिम्मेदारी के साथ काबू में रखना चाहिए, जिस प्रकार वे दूसरी असामाजिक भावनाओं को दबाते हैं।

हमारे प्रेम-जीवन की अनेक कठिनाइयों का एक सीधा कारण यह है कि अधिकांश युवक और युवतियों को प्रेम

हमारे जीवन का अर्थ

(भाग एक)

डाक्टर एल्फ्रेड एडलर

जीवन का एक ही अर्थ है—सहयोग। सहयोग की इस नींव पर ही हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का ढाँचा बनना आवश्यक है।" यही इस पुस्तक का मूल-सूत्र है।

राजकमल मनोविज्ञान-माला—४

हमारे जीवन का अर्थ

(भाग एक)

लेखक की What Life Should Mean To You का अनुवाद

लेखक

डाक्टर एल्फ्रेड एडलर

अनुवादक

श्री ओमप्रकाश

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली : बम्बई : नई दिल्ली

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई ।

प्रथम संस्करण १९४८
द्वितीय संस्करण १९५१

मूल्य एक रुपया

गोपीन

प्रकाशक की ओर से

मनोविज्ञान-शास्त्र के विश्व विख्यात वैज्ञानिक डाक्टर एल्फ्रेड एडलर की पुस्तक "व्हट लाइफ शुड मीन टु यू" का हिन्दी अनुवाद एक ही जिल्द में प्रकाशित करने की योजना पहले थी। इस बीच राजकमल मनोविज्ञान-माला का प्रारम्भ किया गया। हिन्दी-जगत ने इस मनोविज्ञान-माला को अपनाया और यह सुप्रिय हुई। इसी माला के ग्राहकों के आग्रह से डाक्टर एडलर की पुस्तक का भाषान्तर 'हमारे जीवन का अर्थ' नाम से राजकमल मनोविज्ञान-माला में छापा जा रहा है।

'हमारे जीवन का अर्थ' को छः जिल्दों में छापा गया है। मूल पुस्तक के बारह अध्यायों का विभाजन इस तरह हुआ है :

भाग एक	१.	जीवन का अर्थ
	२.	मन और शरीर
भाग दो	३.	हीनता और श्रेष्ठता के भाव
	४.	प्रारम्भिक संस्मरण
भाग तीन	५.	स्वप्न
	६.	पारिवारिक प्रभाव
भाग चार	७.	स्कूल के प्रभाव
	८.	यौवन-काल
भाग पांच	९.	अपराध-वृत्ति की रोकथाम
	१०.	व्यवसाय
भाग छः	११.	मानव का साथी मानव
	१२.	प्रेम और विवाह

क्रम

हमारे जीवन का अर्थ

: १ :

जीवन का अर्थ

हम लोग जिस दुनिया में रहते हैं, उसमें हर चीज़ का कुछ-न-कुछ अर्थ होता है। हम कभी कोरी परिस्थिति का अनुभव नहीं करते, परिस्थितियों का अनुभव सदा मनुष्य के प्रसङ्ग में ही हुआ करता है। मूल अनुभव भी हमारे मानव-उद्देश्यों से प्रभावित होते हैं। 'लकड़ी' का अर्थ है 'मानव के लिए आवश्यक लकड़ी,' और 'पत्थर' का अर्थ है कि 'किस तरह पत्थर मनुष्य-जीवन से सम्बन्धित हो सकता है।' यदि कोई मनुष्य इस तरह के अर्थों से बचने की कोशिश करे और केवल परिस्थितियों तक अपने को सीमित रखे तो वह भाग्यहीन मनुष्य होगा। वह दूसरों से अपने को दूर कर लेगा, उसके सब काम-काज अपने या दूसरों के लिए व्यर्थ-से हो जायंगे; संक्षेप मे वह अर्थहीन हो जायंगे। परन्तु कोई भी मनुष्य अर्थो की दुनिया से इस तरह दूर नहीं हट सकता। किसी भी घटना का हम जो अर्थ लगाते हैं उसी अर्थ के रूप में उस घटना का अनुभव करते हैं; घटना का अपना महत्व कुछ नहीं होता, महत्व उस अर्थ और प्रसङ्ग का होता है जिससे हम उस घटना को

जोड़ते हैं। इसलिए यह मान लेना ठीक होगा कि यह अर्थ प्राय: सदा ही सम्पूर्ण नहीं होते, और यह भी कि उन्हें हमेशा सच मान लेना भी उचित नहीं है। अर्थों की दुनिया तो भूलों की दुनिया है।

यदि हम किसी मनुष्य से पूछें कि "जीवन का अर्थ क्या है," तो शायद वह इसका उत्तर न दे सके। ज्यादातर ऐसे प्रश्न उठाना, और उनके उत्तर देने का कष्ट, लोग नहीं करते। यह ठीक है कि यह प्रश्न उतना ही सनातन है जितना कि मानव का अपना इतिहास, और आज के युग में नवयुवक और बूढ़े लोग, प्राय: यह प्रश्न पूछ बैठते हैं—"हमारे जीवन का ध्येय क्या है? जीवन का अर्थ क्या है?" हम यह जानते हैं कि कहीं ठोकर खाने और हार होने पर ही ऐसे प्रश्न पूछे जाया करते हैं। जब तक जीवन की राह सुगम हो और मार्ग मे कठिन परीक्षाएं पेश न आयं तो इस प्रश्न के लिए शब्द नहीं जुड़ते। लेकिन अपने व्यवहार में हर मनुष्य निश्चित रूप से इस प्रश्न को पूछा करता है और इसका उत्तर भी दिया करता है। यदि हम उसके मुख से निकले हुए वचनों पर ध्यान न देकर उसके व्यवहार पर ध्यान दें तो हमें मालूम हो जायगा कि अपने लिए उसने 'जीवन का अर्थ' समझ-बूझ लिया हुआ है और उसका हर इशारा, दृष्टिकोण, चाल-ढाल, बोल-चाल का ढङ्ग, इच्छाएं, आदतें और चरित्र की विशिष्टताएं उसी अर्थ से सम्बन्धित हैं। इस तरह व्यवहार करता है जैसे कि उसे जीवन में किसी

विशेष व्याख्या का सहारा हो। उसकी हरेक क्रिया में दुनिया और अपने को जिस तरह वह जाँचता-तोलता है उसका प्रतिबिम्ब रहता है। यह फैसला कि "मैं इस तरह हूँ और दुनिया उस तरह है," और यह कि उसने अपने जीवन और दुनिया का क्या-क्या अर्थ लगाया है, उसके व्यवहारों में प्रदर्शित होता है।

इस तरह जीवन के उतने ही अर्थ समझे जाते हैं जितने कि दुनिया मे आदमी हैं और जैसे कि हमने ऊपर कहा है, शायद प्रत्येक अर्थ में कुछ-न-कुछ गलती रहती है। कोई भी मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण और त्रुटिहीन अर्थों से परिचित नहीं है। और हम यह भी कह दे कि जो भी अर्थ जीवन में कुछ भी उपयोगी सिद्ध हो सके उसे पूर्णतया दोषी नहीं ठहराया जा सकता। सभी अर्थ इन दो सीमाओं के भीतर आ जाते हैं। अर्थ की इन विभिन्नताओं में हम यह भेद तो कर सकते हैं कि कौनसे अर्थ अच्छे हैं और कौनसे अपेक्षाकृत कम अच्छे। कुछ ऐसे हैं कि जिनमें भूले कम हैं और दूसरे जिनमें कि भूले ज्यादा है। हम यह भी जान सकते हैं कि अच्छे अर्थों में क्या वात एक समान है और कम अच्छे अर्थों में किस वात की कमी है। इस तरह जीवन के अर्थ का हम एक वैज्ञानिक उत्तर पा सकेंगे, जो वास्तविक अर्थों में एक समान होगा. और वह अर्थ ऐसा होगा जो दुनिया की वास्तविकताओं को भोंपने में हमें, जिस हद तक कि वे मानव से सम्बन्धित हैं, समर्थ करेगा। यहां हमें यह अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए

कि वास्तविक का अर्थ है जो मानव के लिए वास्तविक — जो मनुष्यों के उद्देश्य और आदर्शों के लिए सत्य हो। इस वा विकता और सचाई से ऊपर कोई और सचाई नहीं है; और य कोई दूसरी सचाई है भी तो उससे हमारा कोई मतलब सिद्ध न हो सकता; हम उसे कभी नहीं जान सकते; वह अर्थहीन होगं

प्रत्येक मनुष्य पर तीन मुख्य बन्धन होते हैं, और इन्ह बन्धनों का उसे ध्यान रखना पड़ता है। उसके लिए दुनिया व वास्तविकता इन्हीं से बनती है। उसके सामने जो समस्या उठती हैं वह इन्हीं बन्धनों के कारण पैदा होती हैं। उसे सद इन्हीं समस्याओं का हल ढूंढना होगा, क्योंकि यही सदा प्रश्न बनकर उसके सामने खड़ी रहती हैं, और वह जो भी उत्तर देगा उससे हमें पता चल जायगा कि उसने अपने लिए जीवन के क्या अर्थ लगाए हैं। इन बन्धनों में पहला बन्धन यह है कि हम इस सीमित धरती के धरातल पर रह रहे हैं, इसकी परिधि से बाहर नहीं। हमारा जो भी विकास होना है वह हमारे इस निवास-स्थान से उत्पन्न सीमाओं और सम्भावनाओं से परि- मित रहता है। शारीरिक और मानसिक विकास हमें एक साथ करना है, ताकि हम पृथ्वी पर अपने वैयक्तिक जीवन बनाये र सकें और मानव-सन्तति के सतत भविष्य में सहायक हों। यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्रत्येक मनुष्य के सामने उठता है। इससे कोई भी व्यक्ति दूर नहीं रह सकता। हम जो कुछ भी करते हैं, हमारे व्यवहार में ही मानव-जीवन की स्थिति के प्रति

हमारा अपना उत्तर रहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम क्या बात आवश्यक, उचित, सम्भव और ठीक समझते हैं। प्रत्येक उत्तर इस सत्य से ओत-प्रोत रहता है कि हम मानव-मात्र से सम्बन्धित है, और इस धरती पर ही मानव का निवास है।

यदि हम मनुष्य के शरीर की कमियों का, और उन अनिश्चित परिस्थितियों का, जिनमें कि हमें रहना पड़ता है, ख्याल करें तो हमे मालूम होगा कि हमे अपने जीवनों के लिए और मानव-मात्र की भलाई के लिए कितना यत्न करना चाहिए कि हमारे उत्तर ठोस, दूरदर्शितापूर्ण और स्पष्ट हों। यह समस्या तो गणित की किसी समस्या के समान है जिसका हल ढूंढने की कोशिश हमें करनी है। हम अनुमान से अथवा अस्त-व्यस्त तरीकों से इसका हल नहीं पा सकते, परन्तु दत्तचित्त होकर और समस्त प्राप्य साधनों का उपयोग करके हमे इस पर काम करना है। हम विलकुल शुद्ध और सम्पूर्ण उत्तर नहीं पा सकेंगे—एक ऐसा उत्तर जो सदा के लिए निश्चित हो, परन्तु फिर भी, हमें अपनी समान योग्यता का प्रयोग ठीक उत्तर पाने के लिए करना ही चाहिए। हमें इस विषय में सदा प्रयत्नशील होना चाहिए कि हम वेहतर उत्तर पा सके और वह उत्तर सदा ही इस सत्य से सम्बन्धित होना चाहिए कि हम इस सीमित धरती के धरातल से, इस स्थिति के लाभ और हानियों सहित बंधे हुए हैं।

कि वास्तविक का अर्थ है जो मानव के लिए वास्तविक हो, जो मनुष्यों के उद्देश्य और आदर्शों के लिए सत्य हो। इस वास्तविकता और सचाई से ऊपर कोई और सचाई नहीं है; और यदि कोई दूसरी सचाई है भी तो उससे हमारा कोई मतलब सिद्ध नहीं हो सकता; हम उसे कभी नहीं जान सकते; वह अर्थहीन होगी।

प्रत्येक मनुष्य पर तीन मुख्य बन्धन होते हैं, और इन्हीं बन्धनों का उसे ध्यान रखना पड़ता है। उसके लिए दुनिया की वास्तविकता इन्हीं से बनती है। उसके सामने जो समस्याएं उठती हैं वह इन्हीं बन्धनों के कारण पैदा होती हैं। उसे सदा इन्हीं समस्याओं का हल ढूंढना होगा, क्योंकि यही सदा प्रश्न बनकर उसके सामने खड़ी रहती हैं, और वह जो भी उत्तर देगा उससे हमें पता चल जायगा कि उसने अपने लिए जीवन के क्या अर्थ लगाए हैं। इन बन्धनों में पहला बन्धन यह है कि हम इस सीमित धरती के धरातल पर रह रहे हैं, इसकी परिधि से बाहर नहीं। हमारा जो भी विकास होना है वह हमारे इस निवास-स्थान से उत्पन्न सीमाओं और सम्भावनाओं से परिमित रहता है। शारीरिक और मानसिक विकास हमे एक साथ करना है, ताकि हम पृथ्वी पर अपने वैयक्तिक जीवन बनाये रख सके और मानव-सन्तति के सतत भविष्य में सहायक हों। यह एक ऐसा प्रश्न हैं जो प्रत्येक मनुष्य के सामने उठता है। इससे कोई भी व्यक्ति दूर नहीं रह सकता। हम जो कुछ भी करते हैं, हमारे व्यवहार में ही मानव-जीवन की स्थिति के प्रति

हमारा अपना उत्तर रहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम क्या बात आवश्यक, उचित, सम्भव और ठीक समझते है। प्रत्येक उत्तर इस सत्य से ओत-प्रोत रहता है कि हम मानव-मात्र से सम्बन्धित है, और इस धरती पर ही मानव का निवास है।

यदि हम मनुष्य के शरीर की कमियों का, और उन अनिश्चित परिस्थितियों का, जिनमें कि हमें रहना पड़ता है, ख्याल करें तो हमे मालूम होगा कि हमें अपने जीवनों के लिए और मानव-मात्र की भलाई के लिए कितना यत्न करना चाहिए कि हमारे उत्तर ठोस, दूरदर्शितापूर्ण और स्पष्ट हों। यह समस्या तो गणित की किसी समस्या के समान है जिसका हल ढूंढने की कोशिश हमें करनी है। हम अनुमान से अथवा अस्त-व्यस्त तरीकों से इसका हल नहीं पा सकते, परन्तु दत्तचित्त होकर और समस्त प्राप्य साधनों का उपयोग करके हमे इस पर काम करना है। हम बिलकुल शुद्ध और सम्पूर्ण उत्तर नहीं पा सकेंगे—एक ऐसा उत्तर जो सदा के लिए निश्चित हो, परन्तु फिर भी, हमें अपनी समान योग्यता का प्रयोग ठीक उत्तर पाने के लिए करना ही चाहिए। हमे इस विषय में सदा प्रयत्नशील होना चाहिए कि हम बेहतर उत्तर पा सकें और वह उत्तर सदा ही इस सत्य से सम्बन्धित होना चाहिए कि हम इस सीमित धरती के धरातल से, इस स्थिति के लाभ और हानियों सहित बंधे हुए हैं।

अब हम दूसरे बन्धन पर आते हैं। केवल हम ही इस मानव जाति के सदस्य नहीं हैं। हमारे चारों ओर दूसरे लोग भी हैं और हम उनसे सहयोग कर रहे हैं। किसी अकेले मनुष्य की कमियां और सीमाएं उसके लिए यह असम्भव कर देती है कि वह अपने उद्देश्य अलग-थलग रहकर पूरा कर सके। यदि वह अकेले रहने की और अपनी समस्याओं से स्वयं ही भिड़ने की कोशिश करेगा तो वह नष्ट हो जायगा ; वह अपना जीवन नही विता सकेगा, न वह मानव-जाति के जीवन-प्रवाह में ही वृद्धि और उन्नति कर सकेगा। सदा ही वह अन्य मनुष्यों से वंधा रहता है; और इस बन्धन का कारण उसकी अपनी कमजोरियां, कमियां और सीमाएं होती है। अपनी भलाई और मानव-मात्र की भलाई के लिए सबसे बड़ा कदम तो दूसरों से सहयोग में है । इसलिए जीवन-समस्या के प्रश्न के प्रत्येक उत्तर को इस बन्धन का ध्यान अवश्य करना चाहिए। यह उत्तर इस सत्य की छाप लिये हुए होना चाहिए कि हम सहयोग से ही जी रहे हैं और अकेले होने पर नष्ट हो जायंगे। यदि हमें जीवित रहना है तो हमारी भावनाओं का भी इस महानतम समस्या, आदर्श या ध्येय से सामञ्जस्य होना चाहिए कि हम अपने वैयक्तिक जीवन, इस भूमि पर, जहाँ कि हम रहते है, दूसरे मनुष्यों से सहयोग करते हुए जारी रखें और मानव-जाति की शृंखला अटूट बनी रहे।

एक तीसरा बन्धन भी है जो हमें बाँधे हुए है। मनुष्य

जाति दो लिङ्गों में बँटी है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की रक्षा के प्रश्न के लिए इस सचाई का ध्यान अवश्य करना पड़ेगा। प्रेम और विवाह का प्रश्न इस तीसरे बन्धन से सम्बन्धित है। कोई भी पुरुष या स्त्री इस सम्बन्ध मे उत्तर देने से बच नहीं सकता। इस प्रश्न के पेश होने पर कोई मनुष्य कुछ भी करे, उसका उत्तर यही होता है। इस प्रश्न का हल दुनिया मे कितने ही तरीकों से हुआ करता है। उनका व्यवहार वही राह बता देता है जिससे वे समझते है कि यह प्रश्न उनके विषय मे सुलझाया जा सकता है। यह तीन बन्धन इस प्रकार तीन प्रश्न खड़े कर देते हैं—किसी ऐसे व्यवसाय को हम किस तरह अपनाएं जिससे कि पृथ्वी की सीमाओं से परिमित रहते हुए हम जीवित रहने में समर्थ हो सकें: अपने मानव-साथियों में हम किस तरह अपने लिए स्थान बना लें ताकि हम सहयोग करें और स्वयं भी सहयोग के लाभ प्राप्त करें; हम इस सत्य से किस तरह अपने को सन्तुलित कर ले कि हम दो लिङ्गों मे बँटे हैं और मानव-जाति का भविष्य अक्षुण्ण रहना हमारे प्रेम-जीवन पर निर्भर है।

वैयक्तिक मनोविज्ञान ने जीवन की ऐसी कोई समस्या नहीं पाई जो इन तीन समस्याओं के अन्तर्गत न हो—व्यवसाय सम्बन्धी, सामाजिक और यौन-सम्बन्ध विषयक। इन्हीं तीन प्रश्नों के प्रतिक्रियात्मक व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य निश्चय ही जीवन के अर्थ की आन्तरिक अनुभूति प्रगट करता है। उदाहरण

के लिए एक ऐसा व्यक्ति लीजिए जिसका प्रेम-जीवन अधूरा है, जो अपने व्यवसाय की उन्नति में विशेष प्रयत्न नहीं करता, जिसके बहुत कम दोस्त हैं, और जिसके लिए दूसरे मनुष्यों के सम्पर्क में आना दुखदायी होता है। उसके जीवन की ऐसी क्षुद्र परिधि से हम यह अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि वह अपने जीवन को कठिन और भयावह बात मानता है जिसमें आगे बढ़ने के अवसर न हों और केवल पराजय की सम्भावना ही हो। उसकी क्रियाओं का छोटा दायरा तो उसके इसी निष्कर्ष की ओर इशारा करता है—"जीवन का अर्थ है, मैं अपने-आपको प्रहारों से बचाऊँ, अपने चारों ओर किलाबन्दी कर लूँ, बिना किसी बाह्य सम्पर्क के बच निकलूँ।" दूसरी ओर किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जिसका प्रेम-जीवन गम्भीर है और बहुविध सहयोग की नींव पर टिका है, जिसका काम-काज उपयोगी परिणामों की सृष्टि करता है, जिसके बहुत-से दोस्त हैं, और जिसका सहयोगियों से सम्पर्क अधिक और लाभदायी है। ऐसे व्यक्ति के विषय मे हम कह सकते हैं कि वह जीवन को सृजन के एक कर्तव्य की तरह मानता है, जिसमें उन्नति के अनेक अवसर हों और पराजय अवश्यम्भावी न हो। जीवन की समस्याओं का वह जिस साहस से मुकाबला करता है उससे जान पड़ता है कि वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है—"जीवन का अर्थ है, मैं अपने साथी मनुष्यों मे दिलचस्पी लूँ, सम्पूर्ण का एक अंश होऊँ, मानव-मात्र की भलाई के

लिए अपना कर्तव्य-भाग निबाहूँ।"

यहीं पर हम 'जीवन के अर्थों' में समान भूलों के और 'जीवन के अर्थों' में समान सचाइयों के मापदण्ड को पाते हैं। दुनिया में सब विफल मनुष्य—विक्षिप्त, दुर्बल-चित्त, अपराधी, शराबी, ढीठ बच्चे, आत्म-हत्या करने वाले, कुमार्गी और वेश्याएँ—इसीलिए विफल होते हैं क्योंकि वह दूसरों में दिलचस्पी नहीं लेते और सामाजिक भावना नहीं पैदा करते। व्यवसाय, दोस्ती और यौन-सम्बन्ध की समस्याओं को वह इस विश्वास से सुलझाने का यत्न नहीं करते कि यह सहयोग से, सुगमता से सुलझाई जा सकती है। जीवन के जो अर्थ वह लगाते हैं वह उनके अपने वैयक्तिक अर्थ होते हैं; उनके अपने उद्देश्यों की पूर्ति से किसी दूसरे को लाभ नहीं होता और उनकी दिलचस्पी अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित रहती है। सफलता के अर्थ वह अपनी काल्पनिक वैयक्तिक उच्चता से लेते हैं और उनकी प्रत्येक विजय उन्हीं के लिए सार्थक होती है। हत्यारों ने यह कहा है कि हाथ में जहर की शीशी होने पर वह कितने शक्तिशाली होने का अनुभव करते हैं। परन्तु इस बात से तो अपने महत्व को वह अपने ही सामने बघारते हैं, हमारे लिए उनके हाथ में जहर की शीशी का होना उन्हें अधिक शक्तिशाली नहीं बना देता। वास्तव में कोई भी वैयक्तिक अर्थ सफल नहीं समझा जा सकता। अर्थ तो तभी सार्थक होता है जब उसे दूसरे समझ सकें। कोई ऐसा शब्द जिसका भाव

एक व्यक्ति ही समझ सके निरर्थक ही माना जायगा। यही बात हमारे आदर्शों और व्यवहार के लिए कही जा सकती है, वह तभी सार्थक होंगे जब दूसरों के लिए उनका कुछ अर्थ होगा। प्रत्येक मनुष्य अपने महत्व के लिए कोशिश करता है, परन्तु लोग प्रायः ग़लती करते हैं जब वह यह नहीं समझते कि उनका सारा महत्व दूसरों के जीवन में सहायक होने से ही बनता है।

एक छोटे-से धार्मिक संगठन के विषय में एक दन्तकथा प्रसिद्ध है। इस संगठन की नेत्री ने अपने अनुयायियों को एक दिन इकट्ठा किया और उन्हें बताया कि अगले बुधवार को संसार में प्रलय हो जायगी। उसके अनुयायी इस खबर से प्रभावित हुए, अपनी सम्पत्ति उन्होंने बेच दी, सांसारिक मोह-जाल से पल्ला तोड़ा और उत्सुकता से आने वाली प्रलय की प्रतीक्षा करने लगे। लेकिन बिना किसी असाधारण दुर्घटना के वह बुधवार बीत गया। बृहस्पतिवार को इकट्ठे होकर वह अपनी नेत्री के पास गए। उन्होंने कहा—"देखो, हमें कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ रही हैं। हमने अपने स्थानादि सब बेच दिए हैं। जिस किसी से भी हम मिले उसने कहा कि बुधवार को दुनिया की समाप्ति हो जायगी और जब यह सुनकर उन्होंने उपहास किया तो भी हम निराश नहीं हुए और उन्हें बताया कि एक परम विश्वस्त सूत्र से इस आगामी विपत्ति से हम परिचित हैं। बुधवार बीत गया है और दुनिया ज्यों-की-त्यों है।" इस अवतार-नेत्री

ने इस पर उत्तर दिया—"परन्तु जिस बुधवार की बावत मैंने कहा था वह आपका यह बुधवार नहीं है।" इस तरह अपने वैयक्तिक अर्थ बताकर, उसने अपने-आपको विरोध से सुरक्षित कर लिया। वैयक्तिक अर्थों की कभी परीक्षा नही हो सकती।

जीवन के सच्चे अर्थों का चिह्न यह है कि वह साधारण अर्थ है। वह ऐसे अर्थ है जिनमें दूसरे हिस्सा बॉट सकते हैं; ऐसे अर्थ जिन्हें दूसरे भी उचित ठहरा सकते हैं। जीवन की समस्याओं का कोई भी अच्छा हल दूसरों का मार्ग भी सहल कर देगा, क्योंकि उसमे सार्वजनिक समस्याओं से सफलता से निपटने का तरीका हमे मिलेगा। अपूर्व विवेक का अर्थ भी महत्तम उपयोगिता से ही किया जा सकता है; जब किसी मनुष्य के जीवन को दूसरे लोग अपने लिए उपयोगी और महत्वपूर्ण समझे तभी उस मनुष्य को परम विवेकी कहा जाता है। ऐसे जीवन मे जीवन का अर्थ इस तरह माना जाता है—"जीवन का अर्थ है, सम्पूर्णता में अपना अंश प्रदान करना।" यहाँ हम मौखिक धारणाओं की बात नहीं कर रहे हैं। मौखिक धारणाओं से कान हटाकर हम व्यावहारिक नतीजों पर ध्यान दे रहे हैं। उस मनुष्य का, जो मानव-जीवन के प्रश्नों का सफलतापूर्वक सामना करता है, व्यवहार ऐसा होता है जैसे उसने पूरी तरह और स्वयमेव ही यह जान लिया हुआ है कि जीवन का अर्थ दूसरों में दिलचस्पी और सहयोग लेना है। वह जो कुछ भी करता है, जान पड़ता है कि मानव-जीवन के हित की दृष्टि से प्रभा-

वित होकर कर रहा है, और जहाँ भी कठिनाइयाँ उसके सम्मुख आईं वह उन्हें ऐसे साधनों से पार पाने का प्रयत्न करता है जिनका कि मानव की भलाई से सामञ्जस्य हो।

शायद कई लोगों के लिए यह दृष्टिकोण एक नई चीज़ हो और हो सकता है कि जीवन के जो दूसरों मे दिलचस्पी, सहयोग और त्याग के अर्थ हम दे रहे है, वह उसमें सन्देह करें। वह शायद पूछें—"परन्तु व्यक्ति के विषय में आपका क्या कहना है? यदि वह सदा दूसरों के विषय मे ही सोचता रहता है और दूसरों के हित में अपने को लीन रखता है, तो क्या उसका अपना व्यक्तित्व सीमित नहीं रह जायगा? क्या थोड़े-से भी व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि यदि उन्हें अपना पूरा विकास करना है तो वह अपने पर ही पूरा ध्यान दें? क्या हममें से ऐसे लोग नहीं हैं जिन्हे पहले यह सीखना चाहिए कि वह अपने हितों की रक्षा करें और अपने व्यक्तित्व को मजबूत बनाएं?" मैं समझता हूँ कि यह दृष्टिकोण बहुत ग़लत है और जो यह प्रश्न खड़ा किया है वह तथ्यहीन प्रश्न है। यदि कोई मनुष्य जीवन के जो अर्थ वह लगाता है, उनके अनुसार, जीवन को कुछ प्रदान करना चाहता है, और यदि उसकी सब भावनाएं इसी उद्देश्य की ओर जुट गई हैं, तो स्वभावतः यह आवश्यक है कि ऐसे दान के लिए, वह अपने को उद्देश्य के योग्य बना लेगा। वह सामाजिक भावना में अपने को शिक्षित करेगा और इस प्रकार अभ्यास से वह कुशल बनेगा। उद्देश्य निश्चित हो जाने पर आवश्यक सूझ-बूझ

पा लेना सहज है। तभी और केवल इसी दशा में, वह इस योग्य हो सकेगा कि जीवन के तीन प्रश्नों का हल ढूंढ सके और अपनी योग्यताओं का विकास कर सके। उदाहरण के लिए हम प्रेम और विवाह का प्रश्न लें। यदि हम अपने सहचर मे दिलचस्पी रखते हैं, यदि हम इस कोशिश में हैं कि अपने संगी के जीवन को सुगम बनाएं, तो निःसन्देह हम अपने को हर सम्भव रीति से आदर्श बनाने की कोशिश करेंगे। यदि हम यह सोचते है कि हमे व्यक्तित्व का विकास शून्य में ही करना है, और 'प्रदान' का कोई उद्देश्य हमारे सामने नहीं हैं, तो हम अपने को केवल दूसरों पर झूठा रोब डालने वाला और दुखदायी बना-कर रह जायंगे।

एक और बात है जिससे हमें पता चलता है कि जीवन में 'प्रदान' ही जीवन का सच्चा अर्थ है। यदि आज हम अपने चारों ओर उस सांस्कृतिक सम्पत्ति को देखें जो हमारे पूर्वज हमारे लिए छोड़ गए हैं तो हम क्या देखते हैं? जो कुछ उनसे शेष रहा है वह केवल वही है जो कुछ उन्होंने मानव-जीवन को दिया था। हम खेती-बाड़ी की भूमि को देखते हैं; सड़कें और मकान खड़े है, जीवन-परम्परा, विचार-धारा, विज्ञान और कलाओं के अनुभव, मानवीय परिस्थितियों में व्यवहार करने के ढंग, जो कुछ भी हम तक पहुँचा है हम उसी में पूर्वजों को पाते हैं। यह निष्कर्ष वह लोग छोड़ गए हैं जो मानव की सुख-वृद्धि में सहायक हुए थे। और बाकी दूसरों को क्या हुआ है? उनका क्या हुआ

है जिन्होंने कभी सहयोग नहीं किया था, जिन्होंने जीवन के भिन्न अर्थ लगाए थे, जो केवल यही पूछते थे कि "मैं जिन्दगी से क्या पा सकता हूँ ?" वह अपने पीछे अपना कोई भी चिह्न नहीं छोड़ गए। वह केवल मर ही नहीं चुके हैं, उनके सारे जीवन ही व्यर्थ थे। ऐसा जान पड़ता है जैसे हमारी पृथ्वी ने स्वयं उनसे कहा हो—"मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। तुम जीवन के उपयुक्त नहीं हो। तुम्हारे ध्येय और आदर्शों का, तुम्हारे पसन्द के जीवन-मूल्यों का, तुम्हारे मन और आत्मा का कोई भविष्य नहीं है। तुम दूर हट जाओ। तुम्हारी यहां जरूरत नहीं है। मरो, और लोप हो जाओ।" उन लोगों को, जो जिन्दगी का अर्थ सहयोग के अतिरिक्त कुछ और लगाते हैं, अन्तिम बात यही कही जा सकती है—'तुम व्यर्थ हो। कोई भी तुम्हें नहीं चाहता, चले जाओ।' हम आज की संस्कृति मे, नि.सन्देह कितनी ही कमियां पा सकते है। हम जहां देखें कि यह विफल हो रही है, हमें इसमें परिवर्तन कर देना चाहिए, परन्तु परिवर्तन ऐसा होना चाहिए जो मानव-हित का पहले से अधिक संवर्धन करे।

ऐसे मनुष्य सदा हुए हैं जो इस सत्य से परिचित रहे है, जो यह जानते थे कि जीवन का अर्थ समस्त मानव-जाति मे दिलचस्पी रखना है, और जो सामाजिक अनुभूति और प्रेम को बढ़ाने की कोशिश किया करते थे। सभी धर्मों में मनुष्य के परमार्थ के लिए इस चिन्ता को पाया जाता है। दुनिया के

सभी बड़े आंदोलनों में कितने ही मनुष्य सामाजिक अनुभूति को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे हैं, और धर्म इस तरह के बड़े प्रयत्नों मे से एक प्रयत्न है। लेकिन धर्म प्रायः गलत ही समझे जाते रहे हैं, और यह नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ काम वह आज कर रहे हैं, तब तक उससे अधिक कर सकते है, जब तक कि वह इस कर्तव्य को अधिक दृढ़ता से निभाने का भार न उठाएं। वैयक्तिक मनोविज्ञान इस निष्कर्ष पर वैज्ञानिक ढङ्ग से पहुँचता है, और एक वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली सुझाता है। मैं समझता हूँ कि यह एक प्रगतिशील कदम है। शायद विज्ञान लोगों की दूसरे लोगों में और मानव के सर्वसाधारण हितों में दिलचस्पी बढ़ाने मे (राजनीतिक या धार्मिक आंदोलनों को इस आदर्श के समीपतर होने मे पीछे छोड़कर) समर्थ हो जायगा। हम इस समस्या पर एक भिन्न दृष्टिकोण से विचार करते है, परन्तु आदर्श एक वही होता है—दूसरों में दिलचस्पी बढ़ाना।

हमने देखा है कि जीवन को दिया हुआ अर्थ हमारी जीवन-यात्रा के महा सुखदायी या दुखदायी होने का कारण बन जाता है, इसलिए स्पष्टतया हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह अर्थ किस तरह बनते हैं, वह एक दूसरे से क्यों भिन्न होते हैं, और यह कि उनकी बड़ी गलतियाँ कैसे सुधारी जा सकती हैं। यह अनुसन्धान का काम मनोविज्ञान-शास्त्र का है, देह-शास्त्र अथवा जीव-शास्त्र का नहीं—मानव के हित के लिए 'अर्थों' का अभिन्न परिचय और इस बात की समझ कि यह

अर्थ किस तरह मनुष्य के व्यवहार और मनुष्य के भविष्य को प्रभावित करते हैं। बचपन के आरम्भ के दिनों से ही जीवन के अर्थ के लिए टटोल पाई जाती है। एक छोटा बच्चा भी अपनी शक्तियों का अनुमान लगाने और जो जिन्दगी उसको चारों ओर घेरे हुए है उसमें अपना हिस्सा समझने की कोशिश किया करता है। पाँचवें वर्ष के अन्त तक बच्चा व्यवहार का एक नियत नक्शा बना चुका होता है, कर्तव्यों और समस्याओं का मुकाबला करने का अपना तरीका ढूँढ चुका होता है। दुनिया से और ख़ुद अपने-आपसे उसे क्या आशा है, इसका वह गहरा और स्थायी अन्दाज़ा लगा चुकता है। अब से वह दुनिया को परखने की एक निश्चित योजना के अनुसार परखता है, नये अनुभवों को स्वीकार कर लेने से पहले उनकी व्याख्या की जाती है और यह व्याख्या सदैव ही जीवन को दिये गए अर्थों के अनुसार ही होती है। चाहे इन अर्थों मे भयङ्कर भूल हो, चाहे कर्तव्यों और समस्याओं का सामना करने का ढङ्ग हमें बार-बार कठिनाइयों में डाले और नए-नए दुःख पैदा करे, इनसे पल्ला छुड़ाना सहल नहीं होता। जीवन के अर्थों मे गलती तभी सुधर सकती है जब कि उस परिस्थिति का पुनर्विचार किया जाय जिसमें वह अर्थ बनाये गए थे, इस परिस्थिति की कमियाँ समझी जायँ और दुनिया को परखने के लिए बना ली गई कसौटी को बदल लिया जाय। बहुत ही कम हालतों में, शायद, कोई व्यक्ति अपने गलत व्यवहार के परिणामों से जीवन को जो

अर्थ उसने दिये है उन्हे बदलने मे और इस परिवर्तन को खुद ही कर लेने में सफल हो जाय। लेकिन विना किसी सामाजिक दवाव के या विना इस वात को जाने कि यदि वह अपने पुराने ढङ्ग पर चलता रहा तो उसे ठोकरें खानी पड़ती हैं, वह कभी ऐसा नहीं कर सकता। वैसे अधिकतर अपनी पुरानी समझ-बूझ को वह किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता से ही बदल सकता है जिसे इन अर्थों की पहचान हो, जो आरम्भ की गलतियों को ढूंढ सके और वेहतर अर्थ समझाने मे सहायक हो सके।

अव हम इस वात का एक उदाहरण लें कि किस तरह वाल्यकाल की परिस्थितियों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं कर ली जाती हैं। वचपन के जो एक समान दुखदायी अनुभव भी होते है उनके भी परस्पर-विरोधी अर्थ लगा लिये जाते हैं। एक ऐसा मनुष्य, जिसका कि भूतकाल दुखदायी अनुभवों से भरा हो, तव तक उन पर अपना ध्यान आकर्षित नहीं करता जव तक कि उसे यह विचार न हो कि-ऐसा करने से इस सम्वन्ध में भविष्य का कुछ सुधार हो सकता है। वह ऐसा अनुभव करता है— "हमें ऐसी दुखदायी परिस्थितियों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और कोशिश करनी चाहिए कि हमारी सन्तान हमसे वेहतर स्थिति मे से गुजरे।" दूसरा मनुष्य इस तरह अनुभव कर सकता है—"जीवन ही अन्यायपूर्ण है। दूसरे लोगों को सभी ऐश्वर्य प्राप्त है। यदि दुनिया मुझसे ऐसा व्यवहार कर रही है, तो मैं दुनिया के प्रति क्यों अच्छा व्यवहार करूँ?"

कुछ माता-पिता अपने बच्चों के लिए इस तरह भी कहते हैं—"जब मैं बच्चा था, मुझे भी इतने ही कष्ट उठाने पड़े थे, लेकिन उन्हें सहकर मैंने वह दिन बिता दिए। अब यह बच्चे ऐसा क्यों न कर सकेंगे ?" एक तीसरा मनुष्य इस तरह सोचेगा—"मेरे दुखदायी बचपन का ध्यान करते हुए मुझे हर चीज माफ होनी चाहिए।" इन तीनों व्यक्तियों की क्रियाओं में उनकी व्याख्याएं प्रतिबिम्बित होंगी और तब तक वह अपनी क्रियाओं को बदल नहीं सकेंगे जब तक कि अपनी व्याख्याओं में परिवर्तन नहीं कर लेंगे। ठीक ऐसे ही मामलों में वैयक्तिक मनोविज्ञान नियतिवाद के सिद्धान्त को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। कोई भी अनुभव सफलता या विफलता का कारण नहीं होते। हम अपने अनुभवों की चोट से दुखी नहीं होते, परन्तु जैसा कि हम चाहते हैं उन्हें समझ लेते हैं। अपने अनुभवों को जो अर्थ हम देते हैं वही हमारी नियति-रेखा निर्धारित करता है, और जब हम किन्हीं विशिष्ट अनुभवों को अपने आगामी जीवन का आधार बना लेते हैं तो शायद सदा ही इसमें कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई गलती भी रहती है। परिस्थितियां व्याख्याओं को निश्चित नहीं करतीं, परन्तु उन परिस्थितियों की व्याख्या लगाकर हम अपना भविष्य स्वयं निश्चित करते है।

लेकिन बाल्यकाल की कुछ ऐसी परिस्थितियां भी हैं जिनके कि प्रायः बहुत ही गलत अर्थ किये जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों के बच्चों से ही दुनिया में विफल मनुष्यों की अधिक

संख्या आती है। पहले हम उन बच्चों को लें जिनका कोई अङ्ग विकृत हो, या जो बचपन में बीमार या शारीरिक त्रुटियों से असहाय रहे हों। ऐसे बच्चों पर अधिक बोझ पड़ जाता है, और उनके लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि जीवन का अर्थ सहयोग है। जब तक उनके पास कोई ऐसा व्यक्ति न हो जो उनका ध्यान उनसे दूर और दूसरों में आकर्षित करता रहे, सम्भव है कि अधिकतर वह अपने भावावेशों मे ही रत रहा करें। बाद मे अपने चारों तरफ के लोगों से अपनी तुलना करके उनमें निराशा के भावों का संचार भी हो सकता है, और आज की हमारी सभ्यता में यह भी सम्भव है कि उनके हीन-भावों को अपने साथियों की दयार्द्रता, मज़ाक अथवा उनसे कतराने के रवैये से और भी दृढ़ता मिले। यह सब वातावरण उन्हें अपनी ओर ही लौटने को मजबूर कर सकता है; वह इस आशा को गँवा सकते हैं कि सार्वजनिक जीवन मे वह कोई उपयोगी भाग ले सकेंगे। और वह संसार द्वारा अपने को वैयक्तिक रूप में अपमानित मानने लगेंगे।

मैं समझता हूँ कि मैं पहला व्यक्ति था जिसने ऐसे बच्चों के विषय में लिखा जिनके अङ्ग विकृत हों अथवा जिनकी ग्रन्थियों से रस-प्रवाह सर्व साधारण-सा नहीं हो रहा। विज्ञान की इस शाखा ने अब बड़ी तरक्की कर ली है, परन्तु जिस विचार-धारा के अनुसार इसे उन्नति करते देख मुझे प्रसन्नता होती उसके अनुसार नहीं। मैं आरम्भ से ही कोई ऐसा उपाय ढूंढ लेना

चाहता था जिससे कि इन कठिनाइयों से पार पाया जा सके—विफलता का उत्तरदायित्व पैतृक देन पर अथवा शारीरिक स्थिति पर डाल देने का बहाना नहीं। अङ्गों की किसी तरह की भी अपूर्णता जीवन के प्रति गलत रवैये को मजबूर नहीं करती। हमें कोई भी दो ऐसे बच्चे नहीं मिल सकेंगे जिनकी ग्रन्थियों के रस का उन पर एक-सा प्रभाव हो। हमे ऐसे बच्चे प्रायः मिलेंगे जो इन कठिनाइयों का मुकाबला कर लेते हैं और जो इन कठिनाइयों को पार करते हुए असाधारण समर्थताएं पैदा कर लेते हैं। इस तरह वैयक्तिक मनोविज्ञान सुसन्तानोत्पादन (यूजनिक सिलेक्शन) की योजनाओं के लिए कोई अच्छा विज्ञापन नहीं है। सुप्रसिद्ध मनुष्यों में से बहुत-से मनुष्य—ऐसे मनुष्य जिन्होंने कि हमारी संस्कृति को बहुत कुछ प्रदान किया—बचपन में असम्पूर्ण अङ्गों वाले थे। प्रायः उनका स्वास्थ्य गिरा रहता था और कुछ तो छोटी आयु में मर भी गए। मुख्यतया इसी प्रकार के लोगों द्वारा, जिन्हे कि शरीर की और बाह्य परिस्थितियों की कठिनाइयों से कठिन संघर्ष करना पड़ा, सांसारिक और सांस्कृतिक उन्नति देखने में आई है। संघर्षों ने उन्हें मजबूत बनाया और वह आगे बढ़ते रहे। शरीर से तो हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि मानसिक विकास अच्छा रहेगा या विकृत। लेकिन अब तक ऐसे बच्चे जो कि विकृत अङ्ग या ग्रन्थियों वाले हों, अधिकतर ठीक तरह की शिक्षा नहीं पाते, उनकी कठिनाइयां समझी नहीं जातीं; और वह केवल अपने

व्यक्तित्व मे ही दिलचस्पी लेने के अभ्यासी हो जाते हैं। यही कारण है कि विफल मनुष्यों की अधिक संख्या बचपन में विकृत अङ्गों वाले बच्चों से आती है।

जीवन के अर्थ गलत समझने मे सहायक होने वाली एक दूसरी परिस्थिति उस बच्चे की होती है जो कि बहुत लाड-प्यार मे पला हो। लाड-प्यार के पले बच्चे को ऐसी समझ-बूझ मिली होती है कि वह अपनी इच्छाओं को कानून समझता है। बड़ाई के लिए बिना कोई प्रयत्न किये ही उसे बड़ाई मिलती रहती है; और साधारणतया वह यह मानने लग जाता है कि बड़ाई पाना उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है। परिणामस्वरूप, जब वह अपने को ऐसे वातावरण मे पाता है जहां कि वह आकर्षण का केन्द्र न हो और जहां कि दूसरे लोग उसके भावों का विशेष आदर करने की चेष्टा नहीं करते तो वह डावांडोल हो उठता है। वह यह सोचने लगता है कि उसकी दुनिया ने उसे धोखा दिया है। उसे तो केवल लेने की ही शिक्षा मिली है, देने की नहीं। दुनिया की समस्याओं को सुलझाने का कोई और दूसरा अङ्ग उसने नहीं सीखा। दूसरे लोग उसके सामने इतना झुके रहे हैं कि वह अपनी स्वतन्त्रता खो चुका है और नहीं जानता कि बिना दूसरों की सहायता के वह स्वयं भी कुछ कर सकता है। उसका आकर्षण अपने में ही निहित रहा है, और सहयोग की आवश्यकता और लाभ उसने कभी नहीं जान पाया। जब उसके सामने कठिनाइयां उपस्थित हों, उनका मुकाबला करने का उसके

पास एक ही तरीका है—दूसरे लोगों पर बोझ डाल देना। वह सोचता है कि यदि अपनी बड़ाई का पद वह फिर पा सके, यदि दूसरों को यह मान लेने पर मजबूर कर सके कि वह एक विशिष्ट व्यक्ति है और उसकी प्रत्येक इच्छा पूरी होनी चाहिए, तभी उसकी परिस्थितियाँ सुधर सकेंगी।

बड़ी आयु के ऐसे बिगड़े बच्चे हमारे समाज में शायद सबसे अधिक खतरनाक होते हैं। सम्भव है कि उनमें से कुछ-एक अपनी सद्‌भावना का ढंढोरा पीटते रहें, या दूसरों पर छा जाने के उद्देश्य से वह अपने को बहुत 'प्रिय' व्यक्ति भी बना लें; परन्तु वह साधारण मनुष्यों की तरह, साधारण मनुष्यों की कर्तव्य-पूर्ति में सहयोगी होने के तो एकदम विरोधी होते हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो सहयोग का खुल्लमखुल्ला विरोध करते हैं। जिस भावना, आदर और गुलामी पाने के वह अभ्यस्त हो चुके थे उसे अब न पाकर वह समझने लगते है कि उनको धोखा दिया गया है। समाज को वह अपने हितों का दुश्मन मान लेते हैं और सभी लोगों से बदला लेने में तत्पर रहते है। और यदि समाज उनकी ऐसी जीवन-धारा से बिगड़े (और निश्चयपूर्वक ऐसा ही होगा) तो वह इस बिगाड़ को इस बात का नया प्रमाण मानेंगे कि उनसे वैयक्तिक रूप में दुर्व्यवहार हो रहा है। यही कारण है कि उन्हें दिये गए दण्ड का भी कुछ प्रभाव नहीं होता। इससे तो उनकी यही सम्मति पक्की होती है कि 'दूसरे लोग मेरे विरुद्ध है।' परन्तु चाहे बिगड़ा बच्चा असहयोग

करे या खुल्लमखुल्ला विरोध पर उतर आए, चाहे वह कमजोरी से दूसरों पर हावी होना चाहे अथवा बलपूर्वक दूसरों से बदला लेने का यत्न करे, वह एक-सी ही भूल कर रहा होता है। हमें ऐसे लोग मिलते है जो अलग-अलग अवसरों पर इन दोनों तरीकों को बरतते हैं। उनके उद्देश्य में कोई भेद नहीं पड़ता। उनके अनुसार 'जिन्दगी का अर्थ है—सबसे आगे होना, यह मान लिया जाना कि मैं ही सर्वोपरि और आवश्यक हूँ, जो-कुछ भी मैं चाहूं मुझे मिले।' और जब तक वह जीवन का यही अर्थ समझते रहते है तब तक समस्याओं के प्रस्तुत होने पर उन्हे सुलझाने के प्रत्येक प्रयत्न में अवश्य भूल रहती है।

एक तीसरी परिस्थिति भी है जिसमे कि भूल की जा सकती है; यह परिस्थिति उस बच्चे की है जिसकी उपेक्षा की गई हो। ऐसे बच्चे को तो प्यार और सहयोग से परिचय ही नहीं हुआ; वह जीवन की जो व्याख्या बना लेता है उसमें इन सद्भावनाओं को कोई स्थान नहीं मिलता। देखा जायगा कि जब जीवन की समस्याएं उसके सामने आयंगी तो वह उनकी कठिनाइयों को गुरुतर समझेगा और दूसरों की सहायता और सद्भावना से उनका मुकाबला करने की अपनी क्षमता को हीनतर समझेगा। उसने व्यवहार में समाज से शीतलता ही पाई है और समाज से सदा इसी शीतलता की अपेक्षा करता रहेगा। विशेषतया वह यह जान लेने में असमर्थ रहेगा कि दूसरों के लिए उपयोगी काम-काज करके वह उनके प्यार और आदर को जीत सकता है।

इस तरह दूसरों को वह सन्दिग्ध दृष्टि से ही देखता रहेगा—और अपने पर भी विश्वास नहीं कर सकेगा। वास्तव में ऐसा कोई भी दूसरा अनुभव नहीं है जो निःस्वार्थ प्यार की जगह ले सके। माता का सर्वप्रथम कर्तव्य यही होता है कि वह अपने बच्चे को एक विश्वसनीय निजेतर व्यक्ति का अनुभव दे, तदुपरान्त इस विश्वास की भावना को उसे तब तक बढ़ाना और फैलाना है जब तक कि वह बच्चे की सीमा के शेष वातावरण को नहीं घेर लेती। यदि वह अपने पहले प्रयत्न में असफल रही है, अर्थात् वह बच्चे का ध्यान, प्यार और सहयोग नहीं पा सकी तो बच्चे के लिए सामाजिक दृष्टिकोण का विकास और अपने साथियों के प्रति सामीप्य के भाव पैदा करना कठिन हो जायगा। यह शक्ति तो प्रत्येक में होती है कि वह दूसरों में दिलचस्पी पैदा कर सके, परन्तु इस शक्ति का विकास शिक्षा और अभ्यास से ही होता है।

यदि किसी ऐसे बच्चे का उदाहरण मिले जिसकी कि कोरी उपेक्षा ही की गई हो और घृणा का ही व्यवहार किया गया हो अथवा जिसे अनावश्यक समझा जाता रहा हो तो हम पायंगे कि सहयोग की सम्भावना से ही वह अनभिज्ञ होगा, दूसरों तक अपने विचार पहुँचाने मे असमर्थ होगा, और उसे किसी भी ऐसी बात का ज्ञान नहीं होगा जो कि दूसरे मनुष्यों के साथ मिलकर जीने मे उसकी सहायक हो सके। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, इन परिस्थितियों

मे व्यक्ति जी ही नहीं सकता। यह सत्य कि बच्चे ने शैशवकाल बिता दिया है, इस बात का सूचक है कि उसका ध्यान किया गया है और उसे सहायता मिली है। इसलिए हमे निरी उपेक्षा मिले बच्चों से कभी पाला नहीं पड़ता; हम ऐसे उदाहरणों से व्यवहार करते है जिन्हे साधारण से कम ध्यान और प्यार मिला है, अथवा जिनकी कुछ मामलों मे उपेक्षा की गई है, शेष मे नहीं। संक्षेप मे हम ऐसा कह सकते है कि उपेक्षित बच्चा वह होता है जो विश्वसनीय निजेतर व्यक्ति को नहीं पा सका। हमारी सभ्यता की यह दुर्भाग्यमय समालोचना है कि जीवन की अधिकतर विफलताएं अनाथ अथवा वर्णसङ्कर बच्चों में से आती हैं और हमें इन बच्चों को प्रायः उपेक्षित बच्चों में ही गिनना पड़ता है।

यह तीनों परिस्थितियां—विकृत अङ्ग, लाड-प्यार और उपेक्षा—जिन्दगी के गलत अर्थ लगाने में बड़ी चुनौतियाँ हैं; इन परिस्थितियों के बच्चों को जीवन की समस्याओं के प्रति अपने दृष्टिकोण को दुहराने मे प्रायः सदा ही सहायता की जरूरत पड़ती है। बेहतर अर्थ लगाने में उनको सहायता मिलनी आवश्यक है। यदि हम इन बातों पर ध्यान देने के आदी हैं—जिसका अर्थ है कि हमें उनमें सच्ची दिलचस्पी है और इस दिशा में हमने अपने को शिक्षित किया है—तो उनके हर व्यवहार में हम उन द्वारा लगाये गए अर्थ को प्रतिबिम्बित पायंगे। स्वप्न और प्रसङ्ग भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। स्वप्नों की दुनिया में भी

वही व्यक्तित्व रहता है जो यथार्थ दुनिया में, परन्तु सपनों में सामाजिक आवश्यकताओं का दबाव कम हुआ करता है और बिना अधिक आवरण और आडम्बर के व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। लेकिन एक व्यक्ति जीवन का और अपना क्या अर्थ लगाता है यह जानने के लिए सबसे अधिक सहायता तो हमे उसके संस्मरणों से मिलती है। हरेक संस्मरण, चाहे वह उसे कितना ही अर्थहीन क्यों न समझता हो, उसे किसी ऐसी बात की याद दिलाता रहता है जिसे वह स्मरणीय समझता है। जीवन का जो चित्र उसने बनाया है उससे सम्बन्धित होने के कारण ही वह उसे याद रखने योग्य समझता है। यह बात उसे याद दिलाती रहती है—'इसी की तुम्हें आशा करनी चाहिए;' अथवा, 'इसी से तुम्हे बचना चाहिए,' अथवा, 'जीवन ऐसा है।' हम इस बात को दुहरा दे कि वह अनुभव अपने ही में महत्वपूर्ण नहीं है वरन् महत्वपूर्ण यह बात है कि केवल वही अनुभव संस्मरणों मे टिका रह गया है और उसका उपयोग जीवन को दिये गए अर्थों को स्पष्ट करने के लिए हो रहा है। प्रत्येक संस्मरण महत्वपूर्ण होता है।

यह दरशाने के लिए कि किसी व्यक्ति का जीवन के प्रति खास दृष्टिकोण कितने काल से है और उन परिस्थितियों को जानने के लिए जिनमें कि दृष्टिकोण का निर्माण हुआ था, बाल्यावस्था के संस्मरण विशेषतया उपयोगी होते हैं। दो कारणों से सबसे पुराने संस्मरण का अपना ही महत्व होता है। पहले तो व्यक्ति का

अपना और अपनी परिस्थिति का मूल्य-निरूपण उसमें निहित रहता है; दुनियावी चीज़ों के पहले परिचय का इसमें हिसाब रहता है; उससे जो-जो मांगें की गईं उनका और उसके अपने सच्चे रूप का यह पूर्ण प्रतीक होता है। दूसरे, यह उसके लिए आगे बढ़ने का पहला कदम बन जाता है; जो आत्म-कथा उसने अपने लिए बना ली है उसका आरम्भ यहीं से होता है। इसलिए हम प्रायः इसमें निर्बलता और अपर्याप्तता की उस स्थिति का, जिसमें कि वह अनुभव करता है कि वह था, और बल और सुरक्षा के उस उद्देश्य का, जिसे कि उसने अपना आदर्श बना रखा था, भेद पा सकते है। मनो-विज्ञान के दृष्टिकोण से इस बात का महत्व नहीं है कि जिस संस्मरण को कोई व्यक्ति पहला संस्मरण समझता है, वही अनुभव पहला था जिसे कि वह याद रख सका था, अथवा क्या वह संस्मरण किसी सच्ची घटना का संस्मरण है भी या नहीं। संस्मरणों का महत्व तो जैसे 'उन्हे समझा जाता है,' उसीसे है—उनकी व्याख्याओं के लिए, और वर्तमान और भविष्य के जीवन पर उनके प्रभाव के कारण।

यहाँ हम कुछ पहले संस्मरणों के उदाहरण ले लें और जो 'जीवन के अर्थ' उन्होंने लगा लिए है उन्हे देखें। "चाय का बर्तन छिटककर मेज से गिरा और मैं जल गई।" ऐसा है जीवन! हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जिस लड़की की आत्मकथा इस तरह आरम्भ हुई वह असहायता के विचारों

से सदा घिरी रही और जीवन के खतरों और कठिनाइयों को अधिक महत्व देती रही। हमें यह जानने पर भी हैरानी नहीं होनी चाहिए कि अपने दिल मे वह दूसरे लोगों को, अपना अधिक ध्यान न करने का आक्षेप लगाकर, कोसती रही हो। कोई व्यक्ति इतने छोटे बच्चे को ऐसे खतरों के आगे अरक्षित छोड़ देने में इतना असावधान रहा है! दुनिया का ऐसा ही चित्र किसी दूसरे के पहले संस्मरण में इन शब्दों मे खींचा गया है—"मुझे याद है कि जब मैं तीन साल का था, मैं बच्चा-गाड़ी से बाहर गिर गया था।" इस पहले संस्मरण के साथ-साथ एक स्वप्न की भी उसे याद थी—"दुनिया की समाप्ति हो रही है और आधी रात के समय मैं जागकर देखता हूँ कि आकाश आग के कारण लाल हो रहा है, तारे गिर रहे हैं और हमारी किसी दूसरे नक्षत्र से टक्कर हो रही है। परन्तु उस टक्कर से कुछ ही पहले मेरी नींद खुल गई।" यह पूछे जाने पर कि उसे किसी का भय रहता है या नहीं, इस विद्यार्थी ने कहा—"मुझे यही भय रहता है कि कहीं मैं जीवन मे असफल न रह जाऊँ।" और यह स्पष्ट है कि उसका पहला संस्मरण और तत्कालीन स्वप्न उसके लिए निरुत्साहक सिद्ध होते हैं और विफलता और विनाश के उसके भय की पुष्टि करते है।

एक बारह वर्ष का लड़का बेबस मूत्र निकल जाने के रोग और अपनी मां से सतत झगड़े की वजह से मेरे हस्पताल मे लाया गया। उसने अपना पहला संस्मरण इस तरह बताया—

"मां ने समझा कि मैं खो गया हूँ, और वह मेरा नाम पुकारती हुई, डरी हुई, बेतहाशा बाज़ार को भागी। मैं उस वक्त घर में ही एक आलमारी के पीछे छिपा हुआ था।" इस संस्मरण में हम जीवन का यह अनुमान पढ़ सकते है—"जीवन का अर्थ है—दूसरों को कष्ट देकर अपनी ओर उनका ध्यान खींचना। अपने को सुरक्षित करने की राह धोखे में से होकर गुज़रती है। मेरी उपेक्षा की जाती है, परन्तु मैं दूसरों को बेवकूफ बना सकता हूँ।" मूत्र-प्रवाह पर बेबसी का उसका रोग भी अपने को दूसरों की चिन्ता और ध्यान का केन्द्र बनाए रखने के लिए उचित साधन था। जो ज़िन्दगी का अर्थ उसने बनाया था उसकी सम्पुष्टि उसकी मां के उसके प्रति चिन्ता और अस्थिरता के व्यवहार से हो जाती थी। पिछले उदाहरणों की तरह, इस लड़के ने छोटी अवस्था में ही यह समझ लिया था कि बाहरी दुनिया में जीवन खतरों से भरा पड़ा है और उसने यह निष्कर्ष निकाला था कि वह सुरक्षित तभी रह सकता है जब दूसरे लोग उसकी ओर से खतरों का मुकाबला करने को तैयार हों। केवल इसी तरह वह अपने को आश्वासन दे सकता था कि ज़रूरत पड़ने पर उसकी रक्षा करने को दूसरे लोग तैयार हैं।

३५ वर्ष की एक स्त्री ने अपना पहला संस्मरण इस तरह बताया—"जब मैं तीन वर्ष की थी, मैं घर के नीचे तहखाने में गई। जब अंधेरे में मैं सीढ़ियों पर ही थी, मेरे एक निकट के सम्बन्धी ने जो मुझसे कुछ ही बड़ा था, दरवाज़ा खोला और

मेरे पीछे नीचे आ गया। मैं उससे बड़ी डरी।" इस स्मृति से यह सम्भव जान पड़ता है कि दूसरे बच्चों से खेलने का उसे अवसर नहीं मिलता था और विशेषतः लड़कों से मिलने-जुलने में उसे बड़ी झिझक थी। एक यह अनुमान कि वह अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थी, सत्य निकला, और अब भी पैंतीस वर्ष की आयु में वह अविवाहिता थी।

सामाजिक भावना का अधिक विकास इस स्मृति से जान पड़ेगा—"मुझे याद है कि मेरी माता ने मुझे अपनी छोटी बहन को गाड़ी में बिठाकर घुमाने की इजाजत दी।" इस उदाहरण से अपने से निर्बल व्यक्तियों के साथ ही खेलने-खुलने की प्रवृत्ति के लक्षण भी हम पा सकते है और शायद माता के ऊपर आश्रय के भी। सबसे अच्छी बात यही है कि जब नए बच्चे का जन्म हो तो उसका ध्यान रखने मे बड़े बच्चों की सहायता ली जाय, उनकी नवागन्तुक मे दिलचस्पी पैदा की जाय और उसके भले-बुरे के उत्तरदायित्व का हिस्सा उन्हें भी मिले। यदि उनका सहयोग मिल जाय तो उन्हे उस ध्यान के विषय मे जो कि नए बच्चे को दिया जा रहा है, इस तरह सोचने का आकर्षण न होगा कि उनके अपने महत्व मे कमी हो रही है।

सदा इस बात की इच्छा कि कोई-न-कोई साथ रहे, दूसरों में सच्ची दिलचस्पी का द्योतक नहीं है। एक लड़की ने जब उस से उसका पहला संस्मरण पूछा गया तो उत्तर दिया—"मैं अपनी बड़ी बहन और दो सहेलियों के साथ खेल रही थी।" यहां

इस बात का उदाहरण जरूर है कि बच्चे को सामाजिक होने की शिक्षा मिल रही है, परन्तु उसके प्रयत्नों पर एक नया प्रकाश तब पड़ता है जब वह अपना सबसे बड़ा डर यह बताती है कि "मुझे अकेले छोड दिए जाने का डर बना रहता है।" तदर्थ हमे उसकी स्वतन्त्रता की कमी के लक्षण भी ढूंढने पड़ेगे।

यदि एक बार जीवन को दिये गए अर्थ समझ-बूझ लिये जायं तो हमे समूचे व्यक्तित्व की कुञ्जी मिल जाती है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि मानव-चरित्र बदला नहीं करता, परन्तु यह दृष्टिकोण केवल उनके लिए ही है जो स्थिति की ठीक कुञ्जी पा नहीं सके। जैसा कि हम देख चुके है—कोई तर्क अथवा उपचार तब तक सफल नहीं रह सकता जब तक कि भौतिक भूल पहचान न ली गई हो, और उन्नति की एक सम्भावना केवल इसी बात में है कि जीवन के प्रति रवैये को अधिक सहयोगमय और साहस-पूर्ण बनाया जाय। नस-सम्बन्धी-तनाव की प्रवृत्ति के बढ़ने के विरुद्ध हमारे पास एक संरक्षण सहयोग का ही है। इसलिए यह बहुत महत्वपूर्ण बात है कि बच्चों को सहयोग की ओर प्रोत्साहन और शिक्षा दी जाय; अपनी आयु के बच्चों में सांझे कर्त्तव्यों और सांझे खेलों में उन्हे स्वतन्त्रता से भाग लेने दिया जाय। सहयोग मे जरा भी अवरोध के परिणाम गम्भीर होंगे। उदाहरणस्वरूप ऐसा बच्चा जिसे केवल अपने में ही दिलचस्पी लेने की शिक्षा मिली है, दूसरों मे दिलचस्पी न लेने की आदत को अपने साथ स्कूल में भी ले जायगा। पढ़ाये गए पाठों में वह उसी सीमा तक दिल-

चस्पी लेगा जहाँ तक कि वह समझेगा कि अध्यापक की कृपा-दृष्टि जीतने के लिए वह सहायक होगी; वह उसी बात को ध्यान से सुनेगा जिसे वह अपने लिए लाभदायक समझेगा। जैसे-जैसे वह बड़ा होगा, सामाजिक भावना में उसकी विफलता प्रत्यक्षतः विनाशकारी दीखने लगेगी। जब पहले-पहल उससे यह भूल हुई थी, उसने उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता के लिए अपने को तैयार करना बन्द कर दिया था, और अब जीवन की उलझनों का मुकाबला करने के लिए उसकी तैयारी दुर्भाग्यवश बड़ी ही कमजोर है।

अब हम उसकी कमियों के लिए उसे बुरा-भला नहीं कह सकते, जब उन कमियों के परिणामों का अनुभव उसे हो तो उनका उपचार करने के लिए उसकी सहायता ही कर सकते हैं। जिस बच्चे ने भूगोल पढ़ा ही नहीं है, उससे हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह इस विषय की परीक्षा में सफल हो सकेगा और जिस बच्चे को सहयोग की शिक्षा कभी मिली नहीं उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि जब ऐसे कर्त्तव्य प्रस्तुत हों, जहाँ कि सहयोग की शिक्षा आवश्यक है, तो वह ठीक-ठीक उत्तर दे सके। परन्तु जीवन की हर समस्या को सुलझाने के लिए दूसरों का सहयोग करने की शक्यता आवश्यक होती है। हरेक समस्या को मानव-समाज की चौखट के अन्दर ही कसना होता है और इस तरह कि मानव की प्रगति को उन्नति मिले। केवल वही व्यक्ति, जो यह समझता है कि जीवन का अर्थ 'प्रदान'

है, अपनी कठिनाइयों का साहस और सफलता की सम्भावना से मुकाबला कर सकेगा।

जीवन को अर्थ देने में जो-जो भूलें हो सकती है, यदि अध्यापक, माता-पिता अथवा मनोवैज्ञानिक उन्हे समझे और यदि उन भूलों को वह खुद भी न करते हों, तो हम इस वात का विश्वास कर सकते है कि जिन बच्चों से सामाजिक दिलचस्पी नहीं रही है वह अपनी समर्थता और जीवन के सुअवसरों के प्रति बेहतर भाव बना सकेंगे। जब उलझनों से उनकी मुठभेड़ होगी, वह अपने प्रयत्नों को बन्द नहीं कर देगे, दिक्कत से बचने के सरल साधन खोजने नहीं लगेगे, दूसरों पर बोझा डालकर आप बच निकलना नहीं चाहेगे, अपने से कोमल व्यवहार और विशेष सहानुभूति की याचना नहीं करेंगे, खुद को अपमानित समझकर बदला नहीं लेना चाहेंगे और न यह ही पूछेंगे—"जीवन का क्या लाभ है? मुझे इससे मिल क्या रहा है?" वह कहेंगे—"हमे अपने जीवन का निर्माण करना है। यह हमारा अपना कर्त्तव्य है और हम इसको सुलझाने में समर्थ हैं। हम अपने व्यवहार के स्वयं स्वामी है। यदि कुछ नया काम करना है या किसी पुराने ढङ्ग को बदलना है तो हमारे सिवा कोई दूसरा यह नहीं करेगा।" यदि जीवन तक इस ढङ्ग से पहुँचा जाय—स्वतन्त्र मनुष्यों में सहयोग के ढङ्ग से—तो मानव-समाज की उन्नति की सीमा का हम अनुमान भी नहीं लगा सकेंगे।

है, अपनी कठिनाइयों का साहस और सफलता की सम्भावना से मुकाबला कर सकेगा।

जीवन को अर्थ देने में जो-जो भूलें हो सकती हैं, यदि अध्यापक, माता-पिता अथवा मनोवैज्ञानिक उन्हें समझें और यदि उन भूलों को वह खुद भी न करते हों, तो हम इस बात का विश्वास कर सकते हैं कि जिन बच्चों में सामाजिक दिलचस्पी नहीं रही है वह अपनी समर्थता और जीवन के सुअवसरों के प्रति बेहतर भाव बना सकेंगे। जब उलझनों से उनकी मुठभेड़ होगी, वह अपने प्रयत्नों को बन्द नहीं कर देंगे, दिक्कत से बचने के सरल साधन खोजने नहीं लगेंगे, दूसरों पर बोझा डालकर आप बच निकलना नहीं चाहेंगे, अपने से कोमल व्यवहार और विशेष सहानुभूति की याचना नहीं करेंगे, खुद को अपमानित समझकर बदला नहीं लेना चाहेंगे और न यह ही पूछेंगे— "जीवन का क्या लाभ है? मुझे इससे मिल क्या रहा है?" वह कहेंगे—"हमें अपने जीवन का निर्माण करना है। यह हमारा अपना कर्त्तव्य है और हम इसको सुलझाने में समर्थ हैं। हम अपने व्यवहार के स्वयं स्वामी हैं। यदि कुछ नया काम करना

चस्पी लेगा जहाँ तक कि वह समझेगा कि अध्यापक की कृपा-दृष्टि जीतने के लिए वह सहायक होगी; वह उसी बात को ध्यान से सुनेगा जिसे वह अपने लिए लाभदायक समझेगा। जैसे-जैसे वह बड़ा होगा, सामाजिक भावना मे उसकी विफलता प्रत्यक्षतः विनाशकारी दीखने लगेगी। जब पहले-पहल उससे यह भूल हुई थी, उसने उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता के लिए अपने को तैयार करना बन्द कर दिया था, और अब जीवन की उलझनों का मुकाबला करने के लिए उसकी तैयारी दुर्भाग्यवश बड़ी ही कमजोर है।

अब हम उसकी कमियों के लिए उसे बुरा-भला नहीं कह सकते, जब उन कमियों के परिणामों का अनुभव उसे हो तो उनका उपचार करने के लिए उसकी सहायता ही कर सकते हैं। जिस बच्चे ने भूगोल पढ़ा ही नहीं है, उससे हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह इस विषय की परीक्षा मे सफल हो सकेगा और जिस बच्चे को सहयोग की शिक्षा कभी मिली नहीं उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि जब ऐसे कर्त्तव्य प्रस्तुत हों, जहाँ कि सहयोग की शिक्षा आवश्यक है, तो वह ठीक-ठीक उत्तर दे सके। परन्तु जीवन की हर समस्या को सुलझाने के लिए दूसरों का सहयोग करने की शक्यता आवश्यक होती है। हरेक समस्या को मानव-समाज की चौखट के अन्दर ही कसना होता है और इस तरह कि मानव की प्रगति को उन्नति मिले। केवल वही व्यक्ति, जो यह समझता है कि जीवन का अर्थ 'प्रदान'

चस्पी लेगा जहाँ तक कि वह समझेगा कि अध्यापक की कृपा-दृष्टि जीतने के लिए वह सहायक होगी; वह उसी बात को ध्यान से सुनेगा जिसे वह अपने लिए लाभदायक समझेगा। जैसे-जैसे वह बड़ा होगा, सामाजिक भावना में उसकी विफलता प्रत्यक्षतः विनाशकारी दीखने लगेगी। जब पहले-पहल उससे यह भूल हुई थी, उसने उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता के लिए अपने को तैयार करना बन्द कर दिया था, और अब जीवन की उलझनों का मुकाबला करने के लिए उसकी तैयारी दुर्भाग्यवश बड़ी ही कमजोर है।

अब हम उसकी कमियों के लिए उसे बुरा-भला नहीं कह सकते, जब उन कमियों के परिणामों का अनुभव उसे हो तो उनका उपचार करने के लिए उसकी सहायता ही कर सकते हैं। जिस बच्चे ने भूगोल पढ़ा ही नहीं है, उससे हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह इस विषय की परीक्षा मे सफल हो सकेगा और जिस बच्चे को सहयोग की शिक्षा कभी मिली नहीं उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि जब ऐसे कर्त्तव्य प्रस्तुत हों, जहाँ कि सहयोग की शिक्षा आवश्यक है, तो वह ठीक-ठीक उत्तर दे सके। परन्तु जीवन की हर समस्या को सुलझाने के लिए दूसरों का सहयोग करने की शक्यता आवश्यक होती है। हरेक समस्या को मानव-समाज की चौखट के अन्दर ही कसना होता है और इस तरह कि मानव की प्रगति को उन्नति मिले। केवल वही व्यक्ति, जो यह समझता है कि जीवन का अर्थ 'प्रदान'

है, अपनी कठिनाइयों का साहस और सफलता की सम्भावना से मुकाबला कर सकेगा।

जीवन को अर्थ देने में जो-जो भूलें हो सकती है, यदि अध्यापक, माता-पिता अथवा मनोवैज्ञानिक उन्हे समझे और यदि उन भूलों को वह खुद भी न करते हो, तो हम इस बात का विश्वास कर सकते है कि जिन बच्चों से सामाजिक दिलचस्पी नहीं रही है वह अपनी समर्थता और जीवन के सुअवसरों के प्रति बेहतर भाव बना सकेंगे। जब उलझनों से उनकी मुठभेड़ होगी, वह अपने प्रयत्नों को बन्द नहीं कर देंगे, दिक्कत से बचने के सरल साधन खोजने नहीं लगेंगे, दूसरों पर बोझा डालकर आप बच निकलना नहीं चाहेंगे, अपने से कोमल व्यवहार और विशेष सहानुभूति की याचना नहीं करेंगे, खुद को अपमानित समझकर बदला नहीं लेना चाहेंगे और न यह ही पूछेंगे—"जीवन का क्या लाभ है? मुझे इससे मिल क्या रहा है?" वह कहेंगे—"हमे अपने जीवन का निर्माण करना है। यह हमारा अपना कर्त्तव्य है और हम इसको सुलझाने मे समर्थ हैं। हम अपने व्यवहार के स्वयं स्वामी है। यदि कुछ नया काम करना है या किसी पुराने ढङ्ग को बदलना है तो हमारे सिवा कोई दूसरा यह नहीं करेगा।" यदि जीवन तक इस ढङ्ग से पहुँचा जाय—स्वतन्त्र मनुष्यों मे सहयोग के ढङ्ग से—तो मानव-समाज की उन्नति की सीमा का हम अनुमान भी नहीं लगा सकेंगे।

: २ :

मन और शरीर

मनुष्यों में सदा ही इस प्रश्न पर विचार-संघर्ष होता रहा है कि क्या मन का शरीर पर प्रभुत्व है अथवा शरीर का मन पर। इस वहस में दार्शनिकों ने भी हिस्सा लिया है और वह एक या दूसरे पक्ष का समर्थन करते रहे है। इनमें से कुछ अपने को आदर्शवादी कहते थे और कुछ भौतिकवादी। हजारों की संख्याओं में उन्होंने तर्क पेश किये; लेकिन प्रश्न पहले की तरह ही उलझा हुआ और अनिश्चित रहा है। इसे सुलझाने में शायद वैयक्तिक मनोविज्ञान कुछ सहायता दे सके। क्योंकि वास्तव मे वैयक्तिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में हमें मन और शरीर की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से जूझना पड़ता है। मन अथवा शरीर, इनमें से किसी का उपचार आवश्यक होता है, और यदि हमारा निदान गलत हुआ तो हम सहायक होने में असफल होंगे। अनुभवों पर ही हमें सिद्धांत की नींव रखनी होगी, और वास्तविकता की परीक्षा में इसे उत्तीर्ण होना ही होगा। हम क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की इस दुनिया मे रह रहे हैं और ठीक दृष्टिकोण को खोजने की चुनौती सबसे अधिक हमारे ही ऊपर है।

वैयक्तिक मनोविज्ञान जिन नतीजों पर पहुँचा है उनसे

इस प्रश्न का खिंचाव बड़ी हद तक मिट गया है। अब इसमें विशेष दुविधा नहीं रह गई है। हमने देखा है कि मन और शरीर दोनों में ही जीवन की अभिव्यक्ति है, दोनों ही सम्पूर्ण जीवन के अंश हैं। इस सम्पूर्ण मे उनके पारस्परिक सम्बन्ध का हम परिचय पाने लगते है। मनुष्य की जिन्दगी एक गतिमान सत्ता की जिन्दगी है। और केवल शरीर का ही विकास उसके लिए पर्याप्त नहीं। एक पौधे की जड़ जमीन में ही रहती है, उसे एक ही स्थान पर रहना है, हिलना-डुलना नहीं है। इस दशा में यह अनुसन्धान करना कि पौधों में भी मन होता है—ऐसा मन जिसका कि अपनी अनुभूतियों से हम अनुमान लगा सकें—एक आश्चर्यप्रद बात होगी। यदि एक पौधा परिणामों को पहले ही जान सके या उन पर प्रभाव डाल सके, तो भी यह शक्ति उसके लिए निरर्थक है। पौधे को यह सोचने से क्या लाभ है कि—'कोई आ रहा है। एक क्षण में वह मुझे पाँव तले रौंद देगा और मेरी इह लीला समाप्त हो जायगी।' इस तरह सोचने के बाद भी पौधा रास्ते में से हट नहीं सकेगा।

सब घूम-फिर सकने वाले प्राणी इस ढंग से आगे की बात देख-भाल सकते है कि किस दिशा में उन्हे बढ़ाना है। यह सत्य इस बात का अनुमान लगाने के लिए आवश्यक है कि उनमें मन अथवा आत्मा है।

"विचार-शक्ति, निश्चय से, तुम में है अथवा तुम में गति नहीं होती।" (हैमलेट—अङ्क ३, दृश्य ४)

गति की दिशा को पहले ही भाँप लेना मन की केन्द्रीय शक्ति है। जैसे ही हम इस बात को समझ लेते हैं, हम इस बात को जान लेने की परिस्थिति में हो जाते हैं कि किस तरह, प्रत्येक गति का उद्देश्य स्थिर करके, मन शरीर पर राज्य करता है। हर समय किसी भी निरर्थक गति की नकल करते रहना पर्याप्त नहीं है। हर प्रयत्न का कुछ उद्देश्य होना चाहिए। क्योंकि यह मन का ही कर्त्तव्य है कि गति-धारा की दिशा को निश्चित करे, जीवन में मन का प्रभाव-युक्त स्थान रहता है। साथ-ही-साथ शरीर भी मन पर प्रभाव डालता रहता है, क्योंकि आखिर तो शरीर ने ही गति करनी है। मन तो वहीं तक शरीर में गति ला सकता है जहाँ तक कि वह समर्थ है, अथवा जिन गतियों के अभ्यास की उसे शिक्षा दी जा सकती है। उदाहरण के लिए यदि मन चाहे कि शरीर को चन्द्रमा तक ले जाया जाय तो वह तब तक विफल रहेगा जब तक कि वह पहले ऐसे साधन नहीं ढूंढ लेगा जो कि शरीर की बंधी सीमाओं में ही काम दे सकें।

शेष सब प्राणियों से मनुष्य ही अधिक गतिशील रहते हैं। यही नहीं कि वह अधिक तरीकों से हिलते-डुलते हों—जैसी गति कि उनके हाथों से विदित होती है—परन्तु उनमे यह सामर्थ्य भी है कि अपनी गति से वह अपने वातावरण में भी गति ले आयें। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के मन की दूरदर्शिता दृष्टि अधिक विकसित हुआ करती है। इस बात की स्पष्ट

साक्षी मनुष्य के उन प्रयत्नों मे मिलेगी जो वह अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति मे अपनी सम्पूर्ण स्थिति को सुधारने के लिए किया करते हैं।

इसके अतिरिक्त सभी मनुष्यों की आंशिक उद्देश्यों के लिए की गई आंशिक हलचलों मे हम एक गति अवश्य पायंगे। हमारा सभी प्रयत्न उसी स्थान पर पहुंचने के लिए निर्दिष्ट होता है जहां कि सुरक्षा की भावना मिल सके—एक ऐसी भावना कि जीवन की कठिनाइयो से पार पाया जा चुका है और अब हम निष्कटक राह पर हैं; अपने सारे वातावरण से, हम सुरक्षित और विजयी हैं। इस उद्देश्य को सामने रखने से, सब गतियों और अभिव्यक्तियों मे अवश्य ही एकता आ जाती है। मन इस रूप में विकसित होने के लिए मजबूर हो जाता है जैसे कि अन्तिम आदर्श पर पहुंचने का उद्यम करना हो। शरीर भी इस-से विपरीत नहीं रहता, उसे भी इसी ऐक्य मे मिल जाने की कोशिश रहती है। वह भी उस आदर्श ध्येय की ओर बढ़ने के लिए विकास करता है जिसका कि अनुमान उसमें बीज रूप में आरम्भ से ही विद्यमान होता है। उदाहरण के लिए, यदि त्वचा फट जाय तो सारा शरीर फिर से अपने को सम्पूर्ण करने के प्रयत्नों मे जुट जाता है। लेकिन शरीर को अपनी सामर्थ्यों को पा लेने का यत्न नहीं करना पड़ता, इस विकास में मन उसकी सहायता करता है। कसरत, शिक्षा और साफ-सुथरे रहने की, आवश्यकता सिद्ध हो चुकी है और मन शरीर के अन्तिम

ध्येय तक पहुंचने के प्रयत्न में मन द्वारा दी गई सहायताएं ही हैं।

जीवन के आरम्भ के दिनों से बिना रोक-टोक, अन्त तक विकास और वृद्धि का यह सांझीपन जारी रहता है। एक सम्पूर्ण वस्तु के अभिन्न अंशों की तरह शरीर और मन सहयोग करते रहते है। मन एक यन्त्र की तरह काम करता रहता है जो शरीर के सब सामर्थ्यों का पता लगाकर उसे आगे खींचता है, सब कठिनाइयों में शरीर को सुरक्षा और उच्चता की स्थिति पर लाने मे सहायता देता है। शरीर की हर गति मे, प्रत्येक अभिव्यक्ति और लक्षण में, हम मन के उद्देश्य की छाप देख सकते हैं। एक मनुष्य चलता है, उसकी चाल मे भा कोई अर्थ है। वह अपनी आंखों, जीभ या मुख के पट्ठों मे हरकत करता है। उसके मुख से एक विशिष्ट भाव स्पष्ट होता है—एक अभिप्राय जाना जा सकता है। यह अभिप्राय तो मन द्वारा प्रेरित है। अब हम जान सकते हैं कि मनोविज्ञान, मन के विश्लेषक शास्त्र, के क्या अर्थ हैं। मनोविज्ञान का प्रयत्न होता है—एक व्यक्ति की सब अभिव्यक्तियों के अर्थों की थाह ले, उसके उद्देश्य का परिचय पाये और दूसरों के उद्देश्यों से उसकी तुलना करे।

सुरक्षा के अन्तिम ध्येय तक पहुंचने के प्रयत्नों में मन को सदा ही इस जरूरत का सामना करना पड़ता है कि वह उद्देश्य को ठोस बनाए, यह हिसाब लगाए कि सुरक्षा किस विशेष बात में है, और किस विशेष दिशा मे जाने से वहां पहुंचा जा सकता है। और यहां ही गलती होना सम्भव है। परन्तु एक निश्चित

उद्देश्य और गति-दिशा के स्थिर हुए बिना कोई हरकत सम्भव ही नहीं है। यदि मैं अपना बायां हाथ उठाता हूँ तो पहले से ही मेरे मन मे इस गति का कोई-न-कोई उद्देश्य होना आवश्यक है। मन ने जो दिशा चुनी है, हो सकता है कि वास्तव में वह विनाशकारी हो, परन्तु इसे इसलिए चुना गया है क्योंकि गलती से मन ने इसे ही अतीव लाभदायक माना है। इस तरह सभी मनोवैज्ञानिक गलतियां गति की गलत दिशा के चुनाव मे ही होती है। सुरक्षा का उद्देश्य मानव-मात्र का एक समान है, परन्तु कुछ मनुष्य उस राह से भटक जाते है जिधर कि सुरक्षा मिल सकती है, और उनकी प्रत्यक्ष गति उन्हें गुमराह कर देती है।

यदि हमारा सामना ऐसे लक्षण अथवा अभिव्यक्ति से हो जिसका अभिप्राय जानने में हम असमर्थ रहे, तो उसे समझाने का सुगम तरीका यह है कि पहले उस लक्षण अथवा अभिव्यक्ति को केवल एक गति की रूपरेखा मे घटा लें। उदाहरण के लिए हम चोरी के लक्षण को लें। चोरी का अर्थ है—किसी दूसरे की सम्पत्ति को अपने पास ले लेना। इस गति के उद्देश्य पर हम विचार करे। उद्देश्य है—अपने को धनी बनाना और अधिक सम्पत्ति हथियाकर अपने को अधिक सुरक्षित अनुभव करना। इस तरह जिस बिन्दु से यह गति आरम्भ होती है वह गरीब और पीड़ित होने का भय है। अब अगला कदम यह जानने में है कि उस व्यक्ति की परिस्थितियां क्या हैं और किन कारणों से वह अपने को पीड़ित समझता है। अन्त में हम देख सकते हैं

कि उन परिस्थितियों को बदलने के लिए, और पीड़ित होने के विचार पर विजय पाने के लिए क्या वह ठीक राह अपना रहा है, क्या गति ठीक दिशा की ओर है, या क्या जो वह चाहता है उसे पाने के लिए उसकी कोशिशे ठीक है। उसके अन्तिम उद्देश्य की टीका हमें नहीं करनी है, परन्तु हम यह अवश्य जता सकते है कि अपने उद्देश्य तक पहुंचने के लिए उसने गलत राह अपनाई है।

मनुष्य जाति ने अपने वातावरण में जो परिवर्तन कर लिये है उन्हें हम अपनी संस्कृति के नाम से पुकारते है। हमारी संस्कृति शरीर के लिए मनुष्य-मात्र के मनों द्वारा सम्पन्न सब आन्दोलनों का परिणाम हुआ करती है। हमारी क्रियाओं को मन से ही प्रेरणा मिलती है। हमारे शरीरों का विकास मन द्वारा ही निर्दिष्ट है और मन द्वारा ही इसे सहायता मिलती है। आखिर में हम मनुष्य कोई भी ऐसी अभिव्यक्ति न पा सकेंगे जिसमें कि मन के ध्येय की छाप न लगी हो। लेकिन यह किसी भी रूप मे वाञ्छनीय नहीं है कि मन अपनी उपादेयता से बढ़-चढ़कर अपना महत्व समझने लगे। यदि हम अपनी कठिनाइयों पर पार पाना चाहते है तो शारीरिक सम्यगता आवश्यक है। इसलिए मन वातावरण पर इस तरह राज्य करने की कोशिश करता है जिससे कि शरीर की रक्षा हो सके—वह बीमारी और मौत से, चोट, दुर्घटना और इन्द्रियों की निष्क्रियता से बचसके। हमारे दुःख और सुख अनुभव करने की शक्यता का, कल्पनाओं

का और भली वा बुरी परिस्थितियों से सामञ्जस्य समझने का यही अभिप्राय होता है। ऐसी भावनाएं किसी विशिष्ट परिस्थिति में एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया के लिए शरीर को उद्यत करती हैं। कल्पना और सामञ्जस्य का तरीका दूरदृष्टि का तरीका है। पर इनका अभिप्राय इससे कुछ अधिक भी होता है। वह ऐसी भावनाओं को आन्दोलित कर देते हैं जिनके अनुसार शरीर क्रिया करता है। इसी तरह किसी भी व्यक्ति की भावना जीवन के उस अर्थ की जिसे उसने अपनाया है, और उसने अपने प्रयत्नों का जो ध्येय बनाया है उसकी छाप लिये होती है। हालांकि काफी हद तक यही भावना उसके शरीर पर हावी होती है, वह स्वयं शरीर पर आश्रित नहीं होती। मुख्यतः वह उसके ध्येय पर और उसके परिणामस्वरूप जो जीवन-प्रणाली उसने रची है उसी पर, आश्रित रहती है।

प्रत्यक्ष है कि केवल जीवन-प्रणाली का ही व्यक्ति पर प्रभुत्व
। दृष्टिकोण बिना अन्य सहायता के बाह्य लक्षण पैदा नही कर सकता। क्रियात्मक होने के लिए आवश्यक है कि इसकी पुष्टि भावों द्वारा हो। वैयक्तिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो बात नई है वह यही विचार है कि भावनाओं का जीवन-प्रणाली से कभी विरोधाभास नहीं होता। जहाँ जो भी ध्येय हो, भाव उसी की प्राप्ति में रत हो जाते है। अतः हम शरीर-विज्ञान अथवा जन्तु-शास्त्र के क्षेत्र में नहीं रह जाते। भावों के उदय की व्याख्या किसी रासायनिक सिद्धान्त के अनुसार नहीं हो सकती, और

न उनके विषय में भविष्यवाणी रासायनिक परीक्षाओं से सम्भव है। वैयक्तिक मनोविज्ञान मे हमें शारीरिक व्यापार (फिजियोलाजिकल प्रॉसैस) पहले ही मान लेना पड़ता है, लेकिन हमारी अधिक रुचि तो मनोवैज्ञानिक ध्येय की ओर ही है। इस बात से हमें मतलब नहीं है कि चिन्ता करने से कुछ अनुकम्पित या सपिंगल नाड़ी-मंडल (सिंपथैटिक ऑर पैरा-सिंपथैटिक नर्व्स) विशेष प्रभावित हो जाते हैं। हमे तो यही देखना है कि चिन्ता का उद्देश्य और अन्त क्या है।

इस दृष्टिकोण से चिन्ता को दबी हुई कामुकता से उत्पन्न हुआ नहीं समझा जा सकता, न यह ही कहा जा सकता है कि जन्म के दुख:दायी अनुभवों का वह शेष परिणाम होती है। यह व्याख्याएं सचाई तक नहीं पहुँचतीं। हम जानते है कि एक बच्चे को जिसे सतत अपनी माता के साथ की,सहायता और आश्वासन की आदत पड़ चुकी हो, चिन्ता (चाहे इसका कारण कुछ भी हो) अपनी माता को वश में रखने के लिए, बहुत उपयोगी साधन सिद्ध होती है। क्रोध की स्थूल, शारीरिक व्याख्या से हमें सन्तोप नहीं होता; हमारा अनुभव बताता है कि क्रोध एक ऐसा ढंग है जिसे किसी व्यक्ति अथवा स्थिति पर काबू करने के लिए बरता जाता है। हम इसे स्वीकार कर लेते हैं कि प्रत्येक शारीरिक और मानसिक अभिव्यक्ति जन्म-जात स्वभाव पर आश्रित होती है, परन्तु हमें तो यह देखना है कि इस स्वभाव का एक निश्चित ध्येय तक पहुँचने के लिए किस तरह उपयोग

हो रहा है। जान पड़ता है कि केवल यह ही ठीक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

हम देखते है कि प्रत्येक व्यक्ति मे भावों का उदय और विकास उसी दिशा और उसी मात्रा में हुआ है जो उसके ध्येय तक पहुँचने के लिए आवश्यक थे। उसकी चिन्ता अथवा साहस, खुशी अथवा उदासी, उसकी जीवन-प्रणाली से सदा मेल खाती रही है, इन सबकी आनुपातिक दृढ़ता और प्रभुत्व वही रहा है जिसकी कि हम आशा कर सकते थे। एक मनुष्य जो अपने बड़प्पन के ध्येय को उदासी से पूरा कर सकता है वह कभी खुश रहकर संतुष्ट नहीं हो सकता। वह तो तभी संतुष्ट हो सकेगा जब कि वह दुःखी होगा। हम यह भी पायेंगे कि आवश्यकतानुसार भावनाओं का उदय या लोप होता रहता है। खुली जगह के भय (एगोराफोबिया) से पीड़ित एक रोगी में अपने घर में होने पर या जब वह किसी व्यक्ति पर हावी हो, चिन्ता की भावना नहीं रह जाती। सब तन्तु-रोगी जीवन के हर उस अश का त्याग कर देते हैं जिसमे कि वह अनुभव करते हैं कि विजयी होने के लिए उनमें पर्याप्त शक्ति नहीं है।

जिस तरह जीवन-धारा निश्चित और स्थिर होती है उसी तरह भाव धारा भी निश्चित और स्थिर होती है। उदाहरण के लिए कायर सदा कायर ही रहता है चाहे वह कमजोर लोगों के सामने उद्दण्ड ही क्यों न हो, और दूसरों ने सुरक्षित होने की स्थिति मे साहसी ही क्यों न जान पडे। हो सकता है कि

वह दरवाजों पर तीन-तीन ताले लगाए, अपनी रक्षा के लिए शिकारी कुत्तों को भी पाले और कहे कि मैं तो साहसी हूँ। उसके चरित्र की कायरता इस बात से काफी हद तक प्रकट हो जाती है कि अपनी रक्षा के लिए उसने कितने तूल-तरीके अपनाए हैं।

इसी प्रकार की साक्षी हमें कामुकता और प्रेम के क्षेत्र में मिलती है। जब कोई व्यक्ति अपने वैषयिक-उद्देश्य तक पहुँचना चाहता है तो काम-भाव पैदा हो जाते हैं। ध्यान के केन्द्रीकरण द्वारा वह संघर्षमय कर्त्तव्यों और परस्पर विरोधी हितों को दूर करके समयोपयोगी भाव उभारता है। ऐसे भावों और क्रियाओं का अभाव—जैसे कि नपुंसकता, समयेतर स्खलन, विकृत-रति या पौरुष-हीनता में—अनुपयुक्त कार्यों और हितों को दूर न करने से ही सम्भव होता है। इस तरह की असाधारण क्रियाएँ बड़प्पन के एक गलत ध्येय और जीवन की एक गलत प्रणाली का ही परिणाम होती हैं। ऐसे उदाहरणों में हमें सदा अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने की प्रवृत्ति ही दीखती है, दूसरों का ध्यान करने की नहीं; और सामाजिक भावना का अभाव और साहस अथवा आशापूर्ण सक्रियता में विफलता ही प्रदर्शित होती है।

मेरा एक रोगी, जो अपने मां-बाप की दूसरी सन्तान था, अपराध की असाध्य भावना से पीड़ित रहता था। उसके पिता और बड़े भाई दोनों सचाई पर सदा ही बड़ा जोर दिया करते थे। जब यह लड़का सात वर्ष का था तो उसने

अपने स्कूल के अध्यापक से यह कह दिया कि घर के लिए दिया गया काम उसने स्वयं किया है जबकि सचाई यह थी कि यह काम उसके बड़े भाई ने उसे कर दिया था। लड़के ने अपराध की अपनी भावनाओं को तीन वर्ष तक छिपाए रखा। अन्त में वह अपने अध्यापक के पास गया और अपना भयंकर झूठ बयान किया। अध्यापक ने हँसकर बात उड़ा दी। इसके बाद आँखों में आँसू भरकर वह अपने पिता के पास गया और अपने झूठ की बात बताई। इस बार वह अपने उद्देश्य में सफल रहा। पिता ने अपने लड़के के सचाई से लगाव का गर्व किया, उसकी प्रशंसा की और उसे सान्त्वना दी। बावजूद इसके कि उसके पिता ने उसे क्षमा कर दिया था, वह लड़का कुछ निरुत्साहित ही रहा। हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि इस जरा-सी बात के लिए अपने पर ऐसी कड़ाई से आरोप लगाकर यह लड़का केवल अपनी अटूट सत्य-तत्परता और नेकी को सिद्ध करने की कोशिश में ही लगा था। उसके घर का उच्च नैतिक वातावरण उसे नेकी की होड़ में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता था। स्कूल की पढ़ाई और सामाजिक मेल-मिलाप में वह अपने बड़े भाई से अपने को हीनतर पाता था। उसने उच्चता प्राप्त करने का इसलिए यह नया ढङ्ग ही रचा।

पीछे जीवन में आत्म-तिरस्कार के दूसरे आरोपों से भी वह दुःखी रहा। वह हस्त-मैथुन का शिकार था और पढ़ाई वगैरा में धोखा देने से बाज नहीं आता था। उसकी अपराध की भावना

हमेशा किसी भी परीक्षा से पहले बढ़ जाया करती थी। जिस तरह वह बड़ा होता गया इस तरह की कठिनाइयों का ढेर उसने जमा कर लिया। उसने आन्तरिक भावुकता के कारण अपने अन्दर अपने बड़े भाई से बहुत अधिक बोझा इकट्ठा कर लिया और उससे बराबरी बनाए रखने के लिए अपनी सारी विफलताओं के लिए बहाना भी इस तरह जुटा लिया। महाविद्यालय की शिक्षा समाप्त करके उसने यान्त्रिक काम करने की योजना बनाई; लेकिन अपराध की जो भावनाएँ उस पर हावी थीं वह इतनी तीक्ष्ण हो गईं कि सारा-सारा दिन वह यही प्रार्थना किया करता था कि प्रभु उसे क्षमा कर दें। काम करने के लिए तो इस तरह उसे कोई समय ही नहीं बचता था।

अब उसकी हालत इतनी बिगड़ गई कि उसे आरोग्य-भवन में भेजना पड़ा और वहाँ उसकी स्थिति असाध्य समझी गई। लेकिन कुछ समय पश्चात् वह सुधरा और उसने आरोग्य-भवन इस शर्त पर छोड़ दिया कि यदि उसकी हालत दुबारा बिगड़ जाय तो उसे फिर से वहाँ प्रविष्ट कर लिया जाय। उसने अपने व्यवसाय में परिवर्तन कर लिया और कला के इतिहास का विद्यार्थी बन गया। अब परीक्षा का समय निकट आया। एक सार्वजनिक छुट्टी के दिन वह गिरजाघर गया। बड़ी भीड़ के सामने ही वह भूमि पर लेट गया और पुकारने लगा—"सब मनुष्यों में मैं ही बड़ा पापी हूँ।" इस तरह वह अपनी भावुक अन्तरात्मा के प्रति ध्यान आकृष्ट करने में फिर सफल हुआ।

कुछ समय फिर आरोग्य-भवन मे रहने के बाद वह घर लौट आया। एक दिन शाम को खाना खाने के लिए वह नंगा ही चला आया। वह हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति था और इस बात में अपने भाई और दूसरे लोगो से बराबरी का दावा बखूबी कर सकता था।

उसकी अपराध की भावना दूसरों से अधिक ईमानदार दीखने के लिए उसका साधन थी और इस तरह वह बड़प्पन पाने के लिए आतुर था। लेकिन उसके प्रयत्न जीवन के निरर्थक भाग की ओर निर्दिष्ट थे। परीक्षाओं और व्यवसाय से उसका बच निकलना उसकी कायरता और अपर्याप्तता के गहरे भावों की ओर संकेत करता था। उसकी सारी नाड़ी-विकृति जान-बूझकर उन सब कर्त्तव्यों से, जहाँ कि उसे हार की अपेक्षा हो सकती थी, बचे रहने का तरीका था। बड़प्पन के लिए ऐसे ही भद्दे प्रयत्नों का प्रयोग गिरजाघर मे सबके सामने भूमि पर लेटने, और भोजन-गृह मे उसके निरवस्त्र प्रवेश से प्रत्यक्ष होता था। उसकी जीवन-प्रणाली इन्हीं की माँग करती थी और जो भावनाएँ वह प्रस्तुत करता था वह पूर्णतया समुपयुक्त थीं।

जैसा कि हम पहले देख चुके है, प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के पहले चार या पाँच वर्षों मे ही अपने मन की एकता और मन और शरीर के सम्बन्ध का निर्माण कर लेता है। अपने पैतृक स्वभाव और परिस्थितिओं से उसे जो सूझ-बूझ प्राप्त होती है, बड़प्पन के उद्देश्य में वह उसका प्रयोग करने लगता

है। पांचवें वर्ष के अन्त तक उसके व्यक्तित्व की नींव रखी जा चुकी होती है। जीवन को जो अर्थ वह देता है, जिस उद्देश्य के पीछे लगा रहता है, उसकी कार्य-साधन-प्रणाली, और उसकी भाव-प्रवृत्ति (इमोश्नल डिस्पोज़ीशन) सबका निश्चय हो जाता है। इनमे पीछे परिवर्तन हो सकता है, परन्तु यह परिवर्तन बचपन मे व्यक्तित्व के स्थिर होते समय जो भूल हो चुकी है उसके दूर हो जाने पर ही सम्भव है। जिस तरह उसकी सब अभिव्यक्तियां उसके जीवन की व्याख्या से मेल खाती थीं ठीक उसी तरह, यदि वह भूल सुधारने मे सफल हो जाय, तो अब उसकी सब अभिव्यक्तियॉ जीवन के नए अर्थ से मेल खायेंगी।

इन्द्रियों के साधन द्वारा ही एक व्यक्ति अपने वातावरण के स्पर्श मे आता है और उससे संस्कार संजोता है। इसलिए जिस तरह अपने शरीर को वह शिक्षित कर रहा है, उससे हम यह जान सकते है कि किस तरह के संस्कारों को अपनाने के लिए वह उद्यत है, और वह अपने अनुभव का लाभ उठाने के यत्न में है। यदि हम यह ध्यान से देखे कि वह क्या और कैसे देखता और सुनता है और किस ओर उसका ध्यान आकर्षित हो जाता है तो हम उसके विषय में बहुत-कुछ जान जायेंगे। यही कारण है कि भावभङ्गी (पोश्चर्स) का इतना महत्व होता है। इनसे पता चल जाता है कि इन्द्रियों को क्या शिक्षा मिली है और संस्कारों के चुनाव मे उनका किस तरह प्रयोग हो रहा

है। भावभङ्गी सदा अभिप्रायों से ही बना करती है।

अब हम मनोविज्ञान की अपनी व्याख्या को कुछ बढ़ा सकते है। शरीर के संस्कारों के प्रति किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण से परिचय पाना ही मनोविज्ञान है। अब हम यह भी जान सकते हैं कि मनुष्यों के मनों की महान विषमताएँ क्योंकर पैदा हो जाती हैं। जो शरीर वातावरण के उपयुक्त नहीं है और वातावरण की मॉगो को पूरा करने मे जिसे कठिनाई होती है उसे प्रायःतर मन बोझ-रूप ही समझेगा। इसी कारण जिन बच्चों को विकृत अङ्गों का कष्ट सहना पड़ा है उन्हे अपने मानसिक विकास मे साधारण से अधिक साधनों का सामना करना पड़ता है। उनके मनों के लिए बड़प्पन की स्थिति की ओर शरीरों को बढ़ाना, प्रभावित करना और प्रभुत्व करना मुश्किल हुआ करता है। मन को अधिक प्रयत्न करना पड़ता है और एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हे दूसरों से अधिक मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इस तरह मन पर अधिक बोझ पड़ा रहता है और वह स्वकेन्द्रित और आत्म-दम्भी हो जाते है। जब कोई बच्चा अपने अङ्गों की विकृतता और गति की कठिनाई के ध्यान मे ही डूबा रहे तो निजेतर बातों पर ध्यान देने के लिए उसके पास समय नहीं होता। उनके पास दूसरो मे दिलचस्पी लेने के लिए न तो समय और न ही स्वतन्त्रता होती है। परिणामस्वरूप सङ्कुचित सामाजिक भावना

और दूसरों से सहयोग करने की समर्थता को लेकर वह बड़ा होता है।

विकृत अङ्ग कई तरह से बाधा तो बनते है परन्तु यह बाधाएँ ऐसी नहीं होतीं कि इनसे पार न पाया जा सके। यदि मन स्वयं सक्रिय हो और कठिनाइयों को जीतने का भरसक यत्न करे, तो उन व्यक्तियों की तरह जिन पर कि आरम्भ में बोझ नहीं पड़ा था, उस व्यक्ति का सफल होना भी सम्भव है। बाधाओं के बावजूद भी विकृत अङ्गों वाले बच्चे साधारण अङ्गों से सम्पन्न बच्चों से अधिक सफल होते देखे गए हैं। उनके लिए वह बाधा आगे बढ़ने की प्रेरणा बन गई। उदाहरण के लिए आँखों के विकार की वजह से किसी लड़के को भारी कष्ट हो सकता है। उसकी कोशिश हमेशा देखने मे लगी रहती है। आँखों से दीखने वाले संसार की ओर उसका ध्यान अधिक रहता है। रङ्ग और रूप के भेद में उसकी अधिक दिलचस्पी रहती है। अन्त मे दृष्टिगत जगत का अनुभव उसे उन बच्चों से कहीं अधिक हो जाता है जिन्हें कभी ऐसा संघर्ष नहीं करना पड़ा या छोटे-छोटे भेदों पर ध्यान नहीं देना पड़ा। इस तरह एक अपूर्ण अङ्ग बहुत लाभदायक भी सिद्ध हो सकता है परन्तु उसी हालत में जब कि मन ने कठिनाइयों को जीतने का ढङ्ग जान लिया हो। बड़े चित्रकार और कवियों मे से कितने ही ऐसे थे जिन्हे कि दृष्टि-विकार था। इन विकारों पर सुचारु मनों का प्रभुत्व था और इसलिए यह लोग साधारण दृष्टि वाले

लोगों से अपनी आँखों का बेहतर प्रयोग करने लग गए। इसी तरह का सन्तुलन हम अधिक आसानी से उन बच्चों मे देख सकते है जो कामकाज मे बाएँ-हाथ का प्रयोग करते है लेकिन जिनके विषय मे यह बात अभी तक जानी नहीं गई। घर अथवा स्कूल के अपने आरम्भ के दिनों में उन्हें अपने अशक्य दाहिने हाथों के प्रयोग की शिक्षा दी गई थी। इस तरह लिखने, चित्र बनाने अथवा दस्तकारी के लिए वह सुसज्जित नहीं थे। यदि इन कठिनाइयों को पार करने के लिए मन का प्रयोग हो तो सम्भव है कि यह अशक्य दाहिना हाथ कलाकृति मे ऊँची निपुणता प्राप्त कर सके। ठीक ऐसा हो भी जाया करता है। कितने ही उदाहरणों में बाएँ हाथ का प्रयोग करने वाले बच्चे दूसरों से सुन्दर हस्तलेख लिखते हैं, चित्रकारी मे अधिक चातुर्य और दस्तकारी में अधिक पटुता ले आना सीख लेते हैं। ठीक ढंग का पता लगाकर, दिलचस्पी, शिक्षा और अभ्यास से, वह एक बाधा को लाभ में बदल लेते हैं।

केवल वही बच्चा, जिसे सम्पूर्ण में 'प्रदान' करने की इच्छा हो, जो स्वयं ही अपने ध्यान का केन्द्र न हो, अपनी कमियों का सन्तुलन करने की शिक्षा पा सकता है। यदि बच्चों की यही इच्छा हो कि किसी तरह कठिनाइयों से पीछा छुड़ाया जाय तो वह पीछे ही रह जायँगे। वह अपने उत्साह को तभी बनाए रख सकते है, यदि अपने प्रयत्नों का कोई उद्देश्य उनके सामने हो और यदि वह उस उद्देश्य की सफलता को रास्ते की अड़चनों

से अधिक महत्वपूर्ण समझे। समस्या तो यह है कि उनकी दिलचस्पी और ध्यान किधर लग रहा है। यदि वह अपने से बाहर किसी उद्देश्य की ओर प्रयत्नशील है तो स्वाभाविक है कि उसकी प्राप्ति के लिए वह अपने को सुशिक्षित व सुसज्जित करेंगे। इस दशा में कठिनाइयाँ रास्ते की उन बाधाओं से अधिक न रह जायंगी जिन्हें कि सफलता तक पहुँचने के लिए जीतना ही है। लेकिन यदि उनकी दिलचस्पी अपनी कमियों पर जोर देने में ही हो अथवा इन भूलों से केवल इस उद्देश्य से संघर्ष करने मे कि इनसे किसी तरह छुटकारा पाया जाय, तो वह कोई वास्तविक उन्नति नहीं कर सकेंगे। एक ढीले-ढाले हाथ को केवल सोच-विचार से अथवा यह चाहकर ही कि यह कम ढीला हो जाय, अथवा ढीलेपन से बचाकर ही एक अभ्यस्त और निपुण हाथ नहीं बनाया जा सकता। यह तो तभी निपुण हो सकता है जब वास्तविक क्रियाओं का अभ्यास किया जाय। ऐसी क्रियाओं की ओर प्रेरणा का वेग उस उत्साह-हीनता से अधिक प्रबल होना चाहिए जो कि अब तक हाथ के ढीला होने पर रहा है। यदि किसी बच्चे को अपनी शक्ति एकत्रित करनी है और अपनी कठिनाइयों से पार पाना है तो उसकी सब चेष्टाओं का अपने से बाहर कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए—एक ऐसा उद्देश्य जो वास्तविकता मे, दूसरों में और सहयोग मे दिल-चस्पी की नींव पर आश्रित हो।

पैतृक स्वभाव और उसका प्रयोग किस तरह हो सकता है

इसका एक अच्छा उदाहरण मुझे उन परिवारों में खोज से मिला जो गुर्दों की कमजोरी से पीड़ित थे। प्राय: इन परिवारों के बच्चे बेबस मूत्र निकल जाने के रोगी थे। गुर्दों की कमजोरी तो वास्तविक थी, यह गुर्दों के मूत्रकोष से देखी जा सकती थी। इस तरह रीढ़ की हड्डी के नीचे शृङ्खला मे रिक्त-स्थान (स्पाइना विफिडा) के रोग मे और प्राय: कमर के पिछले हिस्से (लम्बर सैग्मेन्ट) के विकार का सन्देह उस हिस्से की त्वचा के तिल अथवा जन्म के समय किसी निशान से हो सकता है। लेकिन मूत्र प्रवाह पर वश न होने का पर्याप्त कारण गुर्दों की कमजोरी नहीं है। बच्चा अपने अङ्ग के दबाव में नहीं होता, पर वह उनका प्रयोग अपने तरीके से करता है। उदाहरण के तौर पर कुछ बच्चे रात को सोये-सोये मूत्र कर दिया करते हैं और दिन में कभी ऐसा नहीं करते। कभी-कभी यह आदत वातावरण में परिवर्तन होने से अथवा माँ-बाप के व्यवहार बदलने पर एक-दम छूट जाती है। मूत्र पर बेबसी का रोग, दुर्बल मन के बच्चों को छोड़कर, शेष बच्चों मे दूर किया जा सकता है, बशर्ते कि बच्चे अपने अङ्गों की कमजोरी का अपने गलत उद्देश्यों के लिए प्रयोग छोड़ दे।

लेकिन मुख्यतया जो बच्चे मूत्र-प्रवाह पर बेबसी के रोग से पीडित होते है उन्हे प्राय. इसे जारी रखने की ही उत्तेजना मिला करती है. परन्तु यदि माता ही चतुर न हो तो एक अनावश्यक कमजोरी बनी रहती है। प्राय इन परिवारों में

जहाँ कि गुर्दों के रोग अथवा मूत्र-कोप की कमजोरियाँ हों, मूत्र सम्बन्धी हर बात को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है। भूल से माताएँ भरसक प्रयत्न करती है कि मूत्र-प्रवाह मे बेवसी जाती रहे। यदि बच्चा यह जान जाय कि इस बात का कितना महत्व है तो शायद वह इसका प्रतिरोध करेगा। इस तरह की शिक्षा के प्रति अपना विरोध जताने का एक बड़ा अच्छा अवसर उसके हाथ लगेगा। यदि कोई बच्चा अपने माँ-बाप द्वारा मिल रहे उपचार का प्रतिरोध करता है तो उनकी इस दुर्बलता की बात पर हमला करने का रास्ता वह ढूँढ़ ही लेगा। जर्मनी के एक सुविख्यात समाज-शास्त्री ने इस बात का पता लगाया है कि अपराधियों की एक बड़ी संख्या उन्हीं परिवारों से आती है जो अपराधों के दबाने मे रत रहते है, न्यायाधीशों, सिपाहियों अथवा जेलों के दारोगों के परिवारों से। शिक्षकों के बच्चे प्रायः मूढ़ हुआ करते हैं। मैंने अपने अनुभव मे भी इस बात को ठीक पाया है और डाक्टरों के बच्चों में नस-विकृति (न्यूरोसिस) से पीड़ितों की और धर्म शिक्षकों के बच्चों मे कुपथगामी बच्चों की काफी संख्या मैंने देखी है। इसी तरह उन बच्चों के पास जिनके माता-पिता मूत्र-प्रवाह पर अधिक महत्व दिया करते हैं, यह जताने के लिए कि अपनी इच्छा-शक्ति भी है, यह बहुत ही सुगम और स्पष्ट मार्ग हुआ करता है।

मूत्र-प्रवाह पर बेवसी इस बात का भी एक अच्छा उदाहरण

है कि जिन क्रियाओं के हम इच्छुक है उनके लिए उपयुक्त भावनाएं उत्पन्न करने मे स्वप्नों को किस तरह प्रयोग किया जाता है। बच्चे जो रात को बिछौने मे ही मूत्र कर दिया करते हैं वह प्राय: स्वप्न देखा करते है कि बिछौना छोड़कर वह पेशाबघर की ओर गये। इस तरह वह अपने लिए बहाना घड़ लेते है। अब वह बिछौने मे ही मूत्र कर सकते हैं। इस तरह मूत्र-प्रवाह से दूसरों का ध्यान आकर्षित करने का, दूसरों पर जोर दिखाने का, दूसरों का दिन की तरह रात को भी ध्यान पाये रखने का ध्येय साधारणतया पूरा होता है। कभी इसका ध्येय उन्हे अपने विरुद्ध करने का भी होता है; यह आदत शत्रुता की घोषणा के समान है। बच्चा मुख के स्थान पर यहां अपने मूत्र-कोष से बोलता है। गुर्दों की कमजोरी तो उसके विचारों के प्रकाश के साधन से अधिक और कुछ नहीं हो पाती।

जो बच्चे इस तरह अपना विचार-प्रकाश किया करते हैं वह सदा एक खिचाव से पीड़ित रहते हैं। प्राय: वह उन बिगड़े बच्चों की श्रेणी से आते हैं जो दूसरों के ध्यान और आकर्षण का केन्द्र होने की स्थिति गँवा चुके होते हैं। शायद घर में किसी दूसरे बच्चे का जन्म हो चुका है और अपनी माता का अखण्ड ध्यान पाने में वह कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। इस रूप मे अवश मूत्र-प्रवाह अपनी माता के समीपतर आने की कोशिश है, चाहे वह मार्ग अप्रिय ही क्यों न हो। जैसे वह ऐसा कह रहा हो—"मैं इतना बड़ा नहीं हो गया जैसा कि तुम सोच रही

हो, मेरा तो अब भी ध्यान करना ही पड़ेगा।" किसी दूसरी परिस्थिति में अथवा किसी दूसरे अङ्ग की कमजोरी होने पर उसने भिन्न साधन बरते होते। शायद उसने सम्बन्ध जताने के लिए आवाज का प्रयोग किया होता और ऐसा होने पर रात को वह बेचैन रहता और चीखता-चिल्लाता। कुछ बच्चे नींद मे घूमा-फिरा करते हैं, बुरे बुरे स्वप्न देखते है, बिछौने से नीचे गिर जाते है और प्यासे होकर पानी की पुकार करते है। इन अभिव्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि एक समान है। लक्षणों का चुनाव कुछ तो अङ्ग-प्रत्यङ्गों की दशा पर, और कुछ परिस्थितियो पर निर्भर है।

ऐसे मामलों से मन का शरीर पर जो प्रभुत्व हुआ करता है वह प्रत्यक्ष हो जाता है। मालूम तो ऐसा होता है कि मन शरीर के किसी अङ्ग की विकृति के विशेष लक्षणों का ही चुनाव नहीं करता, यह शरीर की समस्त रचना को ही प्रभावित करता है, और उस पर प्रभुत्व रखता है। इस अनुमान का हमारे पास कोई सीधा प्रमाण नहीं है और कोई प्रमाण कभी मिल भी सकता है यह भी कठिन दीख पड़ता है। लेकिन जो साक्षी मिलती है, वह स्पष्ट है। यदि कोई बच्चा कायर है तो उसकी कायरता उसके सारे शारीरिक विकास से झलकती है। शारीरिक खूबियों की वह परवाह नहीं करेगा। परिणामस्वरूप उसे यह कभी विचार नहीं आयगा कि वह ठीक ढङ्ग से मांस-पुष्टि की कसरत करे और उन सब बाह्य प्रभावों को वह अपने से दूर रखेगा जो

साधारणतया मांस-पुष्टों की उन्नति को उत्तेजना दें। दूसरे बच्चे जो अपने पुष्टों की कसरत मे दिलचस्पी लेते या इस विषय में अपने को प्रभावित होने देते हैं, शारीरिक स्वास्थ्य मे आगे बढ़ जायंगे। वह पीछे रह जायगा क्योंकि उसकी दिलचस्पी अवरुद्ध है।

इस प्रकार के उदाहरणों से हम काफी हद तक इस निर्णय पर पहुँच सकते है कि शरीर का समस्त रूप और विकास मन से प्रभावित होता है और मन की भूलें व कमियां इसमे प्रतिबिम्बित होती हैं। हम प्राय: ऐसी कितनी ही शारीरिक गतिविधि को देख सकते है जो स्पष्टतया मानसिक विफलताओं का अन्तिम परिणाम हुआ करती हैं जहां कि किसी कठिनाई से पार पाने का तरीका अभी खोज नहीं लिया गया। उदाहरण के तौर पर हमे निश्चय रूप मे मालूम है कि जीवन के पहले चार-पांच वर्षों मे प्रणालीहीन ग्रन्थियां (इन्डोक्रीन ग्लैंड्स) प्रभावित हो सकती है। विकृत ग्रन्थियां व्यवहार पर कभी बहुत प्रभाव नहीं डाल सकतीं, इसके विपरीत सारा वातावरण, बच्चा जिस रूप मे प्रभाव संजोता है वह ढङ्ग, और इस आकर्षक परिस्थिति मे उसके मन की सृजनात्मक क्रियाशीलता उस पर सदैव प्रभाव डालते रहते है।

एक और सबूत है जिसे शायद जल्दी समझा और मान लिया जाय क्योंकि इससे हमारी अधिक पहचान है और यह शरीर के स्थायी चरित्र पर प्रभाव नहीं डालता—केवल

अस्थायी अभिव्यक्ति का कारण बनता है। कुछ हद तक प्रत्येक भाव को कोई-न-कोई शारीरिक अभिव्यक्ति भी मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भावों को प्रत्यक्ष दृष्टिगत रूप में प्रकट करता है—शायद अपनी भावभङ्गी और रवैये में, शायद अपने मुख पर, शायद अपनी टांगों और घुटनों के कम्पन में। इस तरह के परिवर्तन अङ्ग-प्रत्यङ्ग मे देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि उसका मुख लाल हो जाता है या पीला पड़ जाता है, तो शरीर में रक्त के प्रवाह पर असर पड़ता है। क्रोध, चिन्ता, दु:ख अथवा किसी भी दूसरे प्रकार के भावों में शरीर भी बोलता है, और हर व्यक्ति का शरीर अपनी-अपनी बोली बोलता है। कोई व्यक्ति डर की दशा में काँपने लगता है, दूसरे के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, तीसरे के दिल की धड़कन बढ़ जाती है, किसी को पसीना आजाता है या दम घुटने लगता है, भर्राई आवाज़ में बोलने लगता है, गुमशुम हो जाता है और डर से भाग जाता है। कभी-कभी शरीर की चालढाल प्रभावित हो जाती है, भूख नहीं लगती, वमन तक आने लगता है। ऐसे भावावेश में कुछ के मूत्रकोप, कुछ के दूसरे लिङ्गों पर प्रभाव पड़ता है। परीक्षाएं देते हुए कई बच्चों के लिङ्गों को उत्तेजना मिलती है और यह बात सर्वज्ञात है कि कोई बड़ा अपराध करने के बाद अपराधी प्रायः वेश्याओं के अथवा अपनी प्रेयसी के घर जाया करते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में कई मनोवैज्ञानिक ऐसे मिलते हैं जिनका दावा है कि चिन्ता और कामुकता एक

साथ रहती है और ऐसे मनोविज्ञान-शास्त्री भी हैं जो कहते हैं कि इनमे दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। सबका दृष्टिकोण उनके वैयक्तिक अनुभवों पर टिका होता है, इसलिए कुछ के अनुसार तो इनमे सम्बन्ध होता है, शेष के अनुसार नहीं।

यह सब प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों की हुआ करती है। कुछ हद तक शायद यह पाया जा सके कि वह पैतृक है और इस प्रकार की शारीरिक अभिव्यक्तियों मे परिवार की कमजोरियों और असाधारणताओं की ओर प्रायः इशारा भी मिलता है। सम्भव है कि परिवार के दूसरे व्यक्ति भी बहुत-कुछ मिलती-जुलती शारीरिक प्रतिक्रिया करें। लेकिन जो बात दिल-चस्पी से ध्यान देने योग्य है वह यह है कि किस तरह भावों के साधन से मन शारीरिक दशा मे हलचल लाने मे समर्थ होता है। भाव और उनकी शारीरिक अभिव्यक्ति हमे बताती है कि किस तरह किसी ऐसी परिस्थिति में जिसे लाभदायक अथवा हानिकारक समझा जाय मन की क्रिया और प्रतिक्रिया कैसी होती है। उदाहरण के तौर पर बहुत क्रुद्ध होने पर व्यक्ति अपनी अपूर्णता पर जल्द-से-जल्द पार पाने की इच्छा करता है। इसका सबसे अच्छा ढंग यही सूझता है कि किसी दूसरे व्यक्ति पर आरोप लगाया जाय, आक्रमण किया जाय या चोट पहुँचाई जाय। उधर क्रोध अंगों को प्रभावित करता है, किसी कार्यवाही के लिए उन्हें तैयार करता है अथवा उन पर अधिक बोझ डालता है। कुछ लोगों को क्रोधित होने पर साथ-ही-साथ

पेट में भी विकार हो जाता है अथवा उनके मुख पर लाली फैल जाती हैं; उनके रक्त-प्रवाह में इस हद तक गड़बड़ हो जाती है कि सिर दुखने लगता है। सदैव सिर दर्द का कारण हमें प्राय: अव्यक्त क्रोध अथवा शर्म ही मालूम हुआ करता है, और कुछ लोगों को तो क्रोध से पंचम-स्नायु-युग्म की पीड़ा (ट्रिजेमिनल न्यूरालिजया) अथवा मृगी के हमले तक हो जाते हैं।

किस प्रकार शरीर प्रभावित हो जाता है यह पूरी तरह नहीं जाना जा सका, और शायद हम इसका पूरा ब्यौरा ठीक तरह जान भी न पाएं। मन का तनाव स्वतन्त्र-शारीरिक-पद्धति (वॉलन्टरी सिस्टम) और नाड़ी-तन्त्र (नर्व सिस्टम) दोनों को प्रभावित करता है। जब खिचाव होता है तो शारीरिक पद्धति सक्रिय हो उठती है। व्यक्ति मेज़ पर उंगलियाँ बजाने लगता है, ओंठों को खुजाने लगता है अथवा कागज के टुकड़े करने में प्रवृत्त हो जाता है। यदि उसमें आवेश (टेन्शन) भर गया है तो उसे किसी-न-किसी प्रकार तो गति करनी ही पड़ेगी। पेन्सिल अथवा सिगार चबाने से भी उसे आवेश को गंवाने का ढंग मिल जाता है। यह गतियाँ दरशाती है कि वह किसी परिस्थिति से अपने को घिरा हुआ समझ रहा है। यही बात अपरिचितों में लजाने, कॉपने अथवा आकृति-विकार में स्पष्ट होती है। यह सब आवेश के परिणाम हैं। नाड़ी-तन्त्र के साधन से इस खिचाव का सारे शरीर में प्रसार कर दिया जाता है; और इस तरह प्रत्येक भावावेश से सारे शरीर में ही खिचाव पैदा हो जाता

है। इस आवेश का आकार हर जगह स्पष्ट नहीं होता; और हम केवल उन्हीं जगहों पर लक्षणों की बात करते हैं जहाँ कि वह खोजे और पाए जा सकते है। यदि हम ध्यान से देखे तो हम पायंगे कि शरीर का हर भाग भावात्मक अभिव्यक्ति मे हिस्सा लेता है; और यह शारीरिक अभिव्यक्तियां मन और शरीर की क्रिया और प्रतिक्रिया का परिणाम होती है। यह आवश्यक है कि हम सदा मन की शरीर पर और शरीर की मन पर पारस्परिक क्रिया प्रति-क्रिया को देखा करे क्योंकि यह दोनों उस सम्पूर्ण के ही अंश है जिसका कि हम अध्ययन कर रहे हैं।

इस सबूतों से यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि जीवन-प्रणाली और उसके साथ ही भावात्मक प्रकृति शरीर के विकास को निरन्तर प्रभावित करती रहती है। यदि यह सच है कि हरेक बच्चा अपनी जीवन-प्रणाली को बहुत आरम्भ के दिनों मे ही स्थिर कर चुका होता है, तो पर्याप्त मात्रा में अनुभवी हो जाने पर हम परिणामस्वरूप उसकी शारीरिक अभिव्यक्ति का भावी रूप पता लगाने मे सफल हो सकते है। एक साहसी व्यक्ति अपने दृष्टिकोण के प्रभाव अपने शरीर-गठन मे दिखायगा। उस का शरीर भिन्न तरीके से बना होगा, उसके पट्ठे बलशाली होंगे, उसकी चाल में दृढता होगी। शायद चाल-ढाल भी काफी हद तक शरीर के विकास को प्रभावित करती हैं और पुट्ठों की बेहतर मजबूती का शायद यही कारण होती है। साहसी व्यक्ति के मुख के भाव भी भिन्न होते हैं और उसके अंग-प्रत्यंग

का ढलन ही निराला होता है। सम्भव है कि खोपड़ी का निर्माण तक भी प्रभावित हो।

आज इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मन मस्तिष्क को प्रभावित कर सकता है। रोग-विज्ञान (पैथॉलोजी) ने हमें ऐसे उदाहरण दिये है जहाँ कि खोपड़ी के एक हिस्से पर आघात से एक व्यक्ति ने पढ़ने वा लिखने की सामर्थ्य गंवा दी परन्तु इस सामर्थ्य को मस्तिष्क के दूसरे हिस्से के अभ्यास से फिर से पा लेना सम्भव हुआ। प्राय: ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति को मृगी रोग का हमला होने पर और मस्तिष्क के आहत भाग को ठीक करने की सम्भावना न रहने पर भी मस्तिष्क का शेष भाग इस कमी को पूरा करता है, अंगों को फिर से सक्रिय कर देता है, और इस तरह मस्तिष्क की सामर्थ्यों को सम्पूर्ण कर देता है। यह सत्य शिक्षा सम्बन्धी प्रयोगों में वैयक्तिक मनोविज्ञान की उपयोगिता जताने के लिए विशेपतया सहायक सिद्ध होगा। यदि मन मस्तिष्क पर इस प्रकार का प्रभाव रख सकता है; यदि मस्तिष्क केवल मन के हाथ का खिलौना भर है—इसका बहुत महत्वपूर्ण साधन लेकिन फिर भी मन के अधीन एक साधन—तो इस साधन के विकास और उन्नति के तरीके हम ढूंढ सकते है। मस्तिष्क की एक स्थिर मात्रा लेकर पैदा हुए किसी व्यक्ति को जीवन-भर उसीसे सन्तोप करना आवश्यक नहीं है। ऐसे तरीके खोजे जा सकते है जिनसे कि मस्तिष्क जीवन के लिए अधिक सुयोग्य बनाया जा सके।

एक ऐसा मन जिसने अपना उद्देश्य गलत दिशा में स्थिर कर लिया हो—उदाहरण के लिए जो सहयोग के सामर्थ्य का विकास न कर रहा हो—मस्तिष्क की उन्नति पर सहायक प्रभाव डालने मे असफल होगा। हम देखते है कि इसी कारण जो बच्चे सहयोग करने मे अशक्य होते है वह पिछले जीवन मे भी अपनी बुद्धि का विकास, परखने-पहचानने का सामर्थ्य पैदा नहीं कर सकते। क्योंकि किसी भी वयस्क व्यक्ति के जीवन की सारी चाल-ढाल उसकी जीवन-प्रणाली के प्रभाव को स्पष्ट करती है जिसका ढाँचा उसने बचपन के पहले चार-पाँच वर्षो मे बना लिया था, और क्योंकि जीवन को जिस भाव मे उसने लिया है और जो अर्थ उसे दिये है उसका परिणाम हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं, उसके सहयोग के आदान-प्रदान में जो बातें बाधाएं बनकर खड़ी है उनका पता चलाकर हम उसकी विफलताओं को ठीक करने मे सहायता दे सकते हैं। वैयक्तिक मनोविज्ञान मे इस शास्त्र की ओर पहले कदम उठाए भी जा चुके हैं।

बहुत से लेखकों ने मन और शरीर की अभिव्यक्तियों मे सतत सामञ्जस्यता की ओर इशारा किया है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इन दोनों के बीच के पुल को ढूँढने का किसी ने यत्न नहीं किया। उदाहरण के लिए क्रेट्श्मर ने इस बात का विवरण दिया है कि किस तरह शरीर की बनावट से हम मन की विशेष प्रवृत्ति का आभास पा सकते है। इस तरह मानव-मात्र की बड़ी संख्या को कुछ विशेष किस्मों में विभाजन करने

में वह सफल हुए। जैसे कि एक किसम 'पिक्नायड्स' की है—जिन लोगों का मुख गोल, नाक छोटी और मोटापे की ओर प्रवृत्ति होती है, ऐसे लोग जिनके विषय में जूलियस सीजर ने यह शब्द कहे :

"मेरे पास ऐसे मनुष्य होने दो जो मोटे हों;
चिकने, घुटे सिर वाले मनुष्य और ऐसे जो रातों को सोया करें।"
(जूलियस सीज़र—अङ्क १, दृश्य २)

इस तरह की आकृति वाले मनुष्यों मे क्रेट्श्मर ने विशिष्ट मानसिक दशा बताई है; परन्तु ऐसा लिखते हुए उसने यह नहीं बताया कि यह सम्बन्ध क्योंकर होता है। हमारी अपनी परिस्थितियों में, इस तरह के शरीर-निर्माण वाले व्यक्ति अंग-विकार से पीड़ित नहीं जान पड़ते; उनके शरीर हमारी संस्कृति के अयोग्य नहीं होते। शारीरिक रूप मे तो वह दूसरों के समान ही अनुभव करते हैं। उन्हें अपने बल में भी विश्वास होता है। वह तेज मिजाज नहीं होते और यदि वह लड़ना चाहें तो वह नेत्रकोप लड़ने के योग्य भी समझते है। लेकिन दूसरों को अपना शत्रु समझने की अथवा जीवन में शत्रुभाव रखकर संघर्ष करने की उन्हे कोई जरूरत नहीं। मनोविज्ञान शास्त्र के कुछ सिद्धान्ती उन्हे बाह्य-दर्शी (एक्स्ट्रोवर्ट) कहकर पुकारेंगे परन्तु किसी कारण की व्याख्या नहीं करेंगे। उनमें बाह्य-दर्शी (एक्स्ट्रोवर्ट) होने की हमें आशा इसलिए होगी क्योंकि अपने शरीरों से उन्हें किसी प्रकार का कष्ट या उत्तेजना नहीं मिलती।

इसकी तुलना मे क्रेट्श्मर ने एक दूसरी जाति का विवरण किया है जिसे 'स्किजायड' कहा है। या तो यह छोटे रह जाते है या बहुत लम्बे हो जाते है, नाक लम्बी और सिर अंडे के समान होता है। उसके अनुसार यह लोभी, बेमिलनसार और अन्तर्मुखी (इन्ट्रोस्पेक्टिव) होते हैं, और यदि यह मानसिक उपद्रवों के शिकार हों तो दोहरे व्यक्तित्व वाले (स्किजोफ्रेनिक) बन जाते है। इस किसम के व्यक्तियों के विषय मे सीज़र ने इस तरह कहा है :

"उधर कैस्सियस की ढली हुई और भूखी-सी आकृति है,
वह सोचता बहुत है, इस तरह के मनुष्य भयानक होते है।"
(जूलियस सीज़र—अंक १ दृश्य २)

शायद इस तरह के लोगों को विकृत अंगों की शिकायत रही हो और तदनुसार इनका विकास अपने में ही ध्यान-स्थित होकर निराशामय, और अपने में ही दिलचस्पी रखकर हुआ हो। शायद इन लोगों ने दूसरों की सहायता की अधिक याचना की हो और जब उन्हे जान पड़ा हो कि पर्याप्त मात्रा में इन्हे ध्यान नहीं मिलता तो यह अधिक कड़वे और सन्दिग्ध हो गए हों। फिर भी जैसा कि क्रेट्श्मर ने माना है हम कभी-कभी

परिस्थितियों ने उनपर भिन्न-भिन्न प्रकार से बोझ डाला हो और वह कायर और निरुत्साहित बन गए हों। लगातार निरुत्साह से शायद हम किसी भी बच्चे को ऐसा व्यक्ति बना सकते हैं जो 'स्किज़ायड' किसम की तरह व्यवहार करें।

यदि हम पर्याप्त मात्रा मे अनुभव कर चुके हों तो किसी भी व्यक्ति की चालढाल और अभिव्यक्ति के कुछ अंशों से ही यह पता लगा सकते हैं कि किस हद तक सहयोग की सामर्थ्य उसमें है। इस विषय में सम्यग ज्ञान के विना भी लोग सदा ऐसे लक्षणों की तलाश करते रहे है। सहयोग की आवश्यकता सदा ही हमें घेरे रहती है, और इस विक्षिप्त दुनिया मे हम किस तरह का व्यवहार करें इस विषय मे, वैज्ञानिक ढङ्ग से नहीं परन्तु अन्तः स्फुरण से हम थोड़ी-बहुत समझ भी जुटा चुके हैं। इसी तरह हम देख सकते है कि इतिहास की सब वड़ी उथल-पुथलों के पहले मनुष्यों के मनों ने इन उथल-पुथलों की आवश्यकता भॉप ली हुई थी और उसे सम्भव करने के प्रयत्न कर रहे थे। जब तक हमारे प्रयत्न केवल अन्तः-स्फुरण पर ही आश्रित हों, भूलें और गलतियां आसानी से हो सकती हैं। लोगों ने सदा ही शारीरिक विकार वाले व्यक्तियों, कुरूप आकृति वालों अथवा कुबड़ों को नापसन्द किया है। विना जाने ही वह उनके विषय मे यह फैसला देते रहे हैं कि वे सहयोग में कम उपयुक्त सिद्ध होंगे। यह एक वड़ी ग़लती थी परन्तु उनका फैसला शायद पूर्व-अनुभव की नींव पर

टिका था। इस तरह के शारीरिक विकार से पीड़ित व्यक्तियों में सहयोग की मात्रा किस तरह बढ़ाई जा सकती है इसका तरीका तब तक नहीं जाना गया था। इसलिए उनके विकारों को अधिक महत्व दिया गया और सार्वजनिक भ्रान्तियों के वह शिकार हुए।

अब तक के अपने अध्ययन का हम संक्षेप रूप से फिर विवरण कर लें। जीवन के पहले चार या पाँच वर्षों में बच्चा अपने मानसिक प्रयत्नों को केन्द्रीभूत कर लेता है और उसके मन और शरीर में जो सम्बन्ध बनता है उसकी जड़ जमा लेता है। जीवन-यापन की एक निश्चित प्रणाली, तदनुसार भावात्मक और शारीरिक विशिष्टताएं अपना ली जाती हैं। इसके विकास में सहयोग की थोड़ी या बहुत मात्रा रहती ही है, और सहयोग की इसी मात्रा से ही हम किसी व्यक्ति का मूल्य-निर्णय या ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सभी विफलताओं में एक बात जो एक समान हुआ करती है वह सहयोग करने के सामर्थ्य की कम मात्रा है। अब हम मनोविज्ञान की परिभाषा और भी बढ़ा सकते हैं। सहयोग की कमियों का ज्ञान ही मनोविज्ञान है। क्योंकि मन एक इकाई के समान है और इसकी सभी अभिव्यक्तियों में एक-सी ही जीवन-प्रणाली स्पष्ट होती है, किसी भी व्यक्ति के विचार और भावनाएं आवश्यक रूप से उसकी जीवन-प्रणाली के अनुसार होनी चाहिए। यदि हमारा ऐसी भावनाओं से सामना हो जो स्पष्टरूप से कठिनाइयां पैदा कर रही हों और किसी व्यक्ति की

अपनी भलाई के विरुद्ध ही काम कर रही हों तो शुरू में इन भावनाओं को बदलने की कोशिश बिलकुल ही व्यर्थ होगी। उस व्यक्ति की जीवन-प्रणाली को यह ठीक प्रकट करती है और उन्हें तभी निर्मूल किया जा सकता है जब कि जीवन-प्रणाली को ही बदल दिया जाय।

यहाँ वैयक्तिक मनोविज्ञान हमारे शिक्षा और निदान सम्बन्धी दृष्टिकोण के लिए हमें विशेष निर्देश दे सकता है। हमे कभी भी किसी एक विशिष्ट लक्षण अथवा किसी एक अभिव्यक्ति का उपचार नहीं करना चाहिए। हमें तो समस्त जीवन-प्रणाली में जो भूल हो चुकी है उसका पता लगाना चाहिए। अनुभवों की जो व्याख्या मन ने लगाई है, जीवन को जो अर्थ दिया है और शरीर वा परिस्थितियों से संजोए प्रभावों का जिन क्रियाओं में प्रत्युत्तर दिया गया है इनको जान लेना चाहिए। मनोविज्ञान का तो यही वास्तविक कर्तव्य है। इसे मनोविज्ञान नहीं कहा जा सकता कि बच्चे को सुई चुभा के हम देखे कि वह कितना उछलता है, अथवा उसे गुदगुदाएं और देखें कि वह कितने ऊँचे हंसता है। इस तरह की हरकतें जो आज के मनोवैज्ञानिकों में पाई जाती हैं, शायद वास्तव मे किसी व्यक्ति के मनोविज्ञान से कुछ हद तक हमें परिचित कर सकें, परन्तु उसी हद तक जहां कि एक निश्चित और विशिष्ट जीवन प्रणाली की यह साक्षी दे सकती हैं। जीवन-प्रणाली ही मनोविज्ञान के अध्ययन और खोज का उचित विषय है। दूसरे सिद्धान्त जो किसी दूसरे विषयों के अध्ययन में

संलग्न है, मुख्यतया शरीर-विज्ञान अथवा जीवशास्त्र मे रत हैं। यही बात उन सबके विषय में भी सत्य है जो उत्तेजना (स्टिमुली) और उनकी प्रतिक्रिया की खोज करने मे लगे है; या जो किसी भयङ्कर अनुभव (ट्रामा) के प्रभाव की छानबीन में व्यस्त हैं, या जो पैतृक सामर्थ्यो का परीक्षण करते है और यह बात देखने मे रहते हैं कि किस तरह इन सामर्थ्यों का विकास होता है। लेकिन वैयक्तिक मनोविज्ञान में तो हम स्वयं जीवन-तत्व का, सम्पूर्ण मन का ही अध्ययन करते है; हम उस अर्थ का अध्ययन करते है जो व्यक्ति संसार को और अपने को देते हैं, हम उनके ध्येयों का, उनके प्रयत्नों की दिशा का और जीवन की समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण का समीक्षण करते हैं। मनोवैज्ञानिक विषमताओं को परखने की सबसे अच्छी कुंजी जो अब तक हम पा सके है वह सहयोग करने के सामर्थ्य की मात्रा के विवेचन में है।

बचपन

पांच से दस साल के बच्चों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मेरी चैडविक एस० आर० एन०

अपने बच्चों का मानसिक स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए आपको इस पुस्तक से अमूल्य सहायता मिलेगी।

राजकमल मनोविज्ञान माला—३

बचपन

[पांच से दस साल के बच्चों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण]

लेखक की Chapters about Childhood का अनुवाद

लेखिका

मेरी चैडविक एम० आर० एन०

अनुवादक

पं० जगन्नाथ विद्यालंकार

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

राजकमल मनोविज्ञान माला—२

बचपन

[पांच से दस साल के बच्चों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण]

लेखक की Chapters about Childhood का अनुवाद

लेखिका
मेरी चैडविक एस० आर० एन०

अनुवादक
पं० अमरनाथ विद्यालंकार

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

क्रम

भूमिका

शैशव, अर्थात् बालक के जन्म से लेकर प्रथम पांच वर्षो तक, तथा इस आयु के बालकों की मानसिक दशा के सम्बन्ध मे अब तक बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। परन्तु इसके पीछे की अवस्था, अर्थात् पांच से दस वर्ष की आयु के सम्बन्ध मे कुछ न लिखकर लेखक लोग प्राय: इसके बाद की किशोर अवस्था की कठिनाइयों का जिक्र ले बैठते है।

परन्तु इस बीच की आयु के सम्बन्ध मे लेखकों के चुप साधे रहने का अभिप्राय यह कभी नहीं हो सकता कि इसके विषय मे लिखने के लिए कुछ है ही नहीं। ज्यों ही बालक घर की सुरक्षित चारदीवारी से निकलकर जरा बाहर के विशाल क्षेत्र मे पग धरता है, तो उसे कई नई परिस्थितियों का सामना करना होता है, अनेक प्रकार की नई-नई कठिनाइयों से मुठभेड़ होती हैं। इन सबसे वह विविध प्रकार से प्रभावित भी होता है। बालक अपनी इन तकलीफों का मुआवजा बीमारी मे, कल्पना-सृष्टि के मीठे सपनों मे तथा अन्य अनेक प्रकार के मनोवैज्ञानिक लक्षणों मे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इन सब बातों का उसके भावी जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए इनका बहुत महत्व भी है।

इसलिए, इस महत्वपूर्ण अवस्था के विषय मे जो पुस्तक लिखी जायगी, उससे मां-बाप और शिक्षकों को बालक की

आयु में प्रकट होने वाली कठिनाइयों और उनके उपचार के सम्बन्ध मे कितनी ही उपयोगी बातें मिलेगी।

इस पुस्तक का उद्देश्य यही है कि इस अवस्था के बालकों को ठीक मार्ग पर चलाने के लिए कुछ निर्देश दिये जायं, जिससे भविष्य मे बालक के मानसिक स्वास्थ्य में निरन्तर वृद्धि और उन्नति सुगम हो जाय।

—मेरी चेडविक

: १ :

शरारती और ढीठ बच्चे

प्राय: सभी मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत है कि मनुष्य के भावी जीवन का ढांचा पहले पांच वर्षों में ही नियत हो जाता है। और इसलिए यह बात कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि उन बातों को जान लेने का अत्यधिक महत्व है, जो चरित्र का विकास होते समय प्रारम्भ मे ही अंकित हो जाती है, क्योंकि विशेषज्ञ लोग उन्हे जानकर यह बतला सकते हैं कि आगामी जीवन मे विशेष-विशेष परिस्थितियों मे कौन बालक कैसा-कैसा व्यवहार करेगा। अथवा जब किसी विशेषज्ञ के पास कोई ऐसा बालक लाया जाय जो अपनी प्रारम्भिक शिक्षा और परिस्थितियों के दोष के कारण घर और स्कूल में बहुत सताता हो, तो उन पिछली बातों का ज्ञान होने से विशेषज्ञ इस बात का अन्दाजा लगा सकता है कि बालक क्यों ऐसा व्यवहार करता है. और यह भी सुझा सकता है कि उसे सुधारने के लिए कौनसे उपाय किये जाने आवश्यक हैं।

परन्तु इतना ही काफी नहीं है। हमें मां-बाप तथा शिक्षक को यह भी तो समझाना है कि चरित्र का प्रारम्भिक विकास किस प्रकार होता है. किस-किस प्रकार के दबावों के नीचे वृद्धि रुक जाती है, और यदि दबाव असह्य हो जाय तो किस प्रकार बालक अपनी शिशु दशा की ओर लौट पड़ता है, जिस अवस्था को अब तक उसे सर्वथा पीछे छोड़ आना चाहिए था अथवा

ऐसी दशा मे बालक के स्वभाव मे विकार उत्पन्न हो जाता है और वह ऐसा नया कार्य चुन लेता है जो असुविधाजनक और अवांछनीय होता है।

आजकल का सामान्य अनुभव ऐसा नहीं है कि ज्यों ही कोई बालक पांच वर्ष का हुआ, मा-बाप की उसके पालन-पोषण-विषयक सब दिक्कते दूर हो जायं। शिक्षकों का अनुभव भी यह नहीं बतलाता कि जो शिक्षा वे बड़े उत्साह और प्रीति-पूर्वक बालकों को देते है, उसे वे शिशु हृदयंगम कर लेते है। इसके बिलकुल विपरीत, मां-बाप प्रायः शिकायत किया करते है कि अमुक बालक अथवा बालिका शैशव के प्रारम्भिक काल मे बिलकुल वैसे ही थे, जैसा कि मां-बाप चाहा करते थे, परन्तु अब ज्यो-ज्यो बड़े होते जाते हैं, वह मनमानी करने लगे है, ढीठ हो गये है। अब वे सुस्त, उत्साहहीन और निठल्ले बनते जा रहे है।

हमेशा बच्चा दुखदायी नहीं

'ढीठ लडका'—यह शब्द हम कई बार सुना करते है। इनसे बालक के चरित्र की कई प्रवृत्तियां अभिप्रेत होती है। बालक के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा मे कोई भी कठिनाई उपस्थित हो जाय, चाहे यह कठिनाई मां-बाप के साथ उसके व्यवहार के सम्बन्ध मे हो, भाई-बहनो के सम्बन्ध मे अथवा स्कूल सम्बन्धी हो, सबका एक ही कारण कहा जायगा कि 'लडका बडा ही ढीठ है।'

परन्तु वास्तव मे ऐसी बात नहीं होती। सम्भव है कि जिस बात की हमे शिकायत पैदा हुई है वह बालक की स्वाभाविक वृद्धि का ही कोई नया लक्षण हो जिसका मा-बाप को अभी तक इस कारण ज्ञान न हो कि वह उनका पहला ही बच्चा है, और

उनके जीवन में यह पहला ही अनुभव है। ऐसी दशा में मां-बाप को यह पता ही नहीं होता कि उन्हें किस बात की आशा करनी चाहिए, और वे व्यर्थ ही घबरा जाते हैं।

हम सभ्यता की उस पराकाष्ठा तक पहुंच गए हैं जब अधिकांश लोग ऐसा सोचते प्रतीत होते हैं कि अब बालक के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा के मार्ग में कोई भी कठिनाई उपस्थित न होनी चाहिए। विशेष रूप से अब जब कि कुछ मनोवैज्ञानिक विषयों का ज्ञान हमेशा मार्ग प्रदर्शित करने के लिए उपस्थित है, वह आशा करते हैं कि बालकों पर उनकी शिक्षण-शैली का मशीन की भांति नियम और बाकायदगी के साथ प्रभाव पड़े।

परन्तु मनुष्य कोई मशीन तो है नहीं। मनोवैज्ञानिक विषयों का बोध तो हमें इतना समझ लेने में सहायक होता है कि व्यक्ति के मामले में भिन्न-भिन्न प्रकार की उलझनें उत्पन्न होती हैं। साथ ही जब हमें समूह से वास्ता पड़ता है तो उस समय की उलझनें व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। मनोविज्ञान का परिचय हमें यह चेतावनी भी देता है कि हमारे लिए अपने बालकों की प्रकृति और उनकी प्रगति को भली-भांति समझना कोई बहुत सुगम कार्य नहीं है।

कोई बालक इसलिए दुखदायी प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी मनोवैज्ञानिक बनावट में जो मौलिक परिवर्तन निरन्तर हो रहा है, हम उनसे सर्वथा अनभिज्ञ हों। हम बालक के साथ क्या कुछ करना चाह रहे होते हैं, इसे वह प्रायः बिलकुल भी नहीं समझ रहा होता। और अगर वह इसे समझता है, तो भी हम यह क्यों आशा करते हैं कि उसके भावी सुख के

विषय मे हमारी जो इच्छाएं और आकांक्षाए हैं उनसे उसे पूरी तरह रुहमत होना ही चाहिए।

हमने यह मान रखा है कि हमारे बच्चे हमेशा वही कुछ करे जो हम उनसे कराना चाहते है, और हमे बिना कुछ कष्ट दिये हुए बड़े होते चले जायं। बच्चों के मन और उनकी भावनाओ का विकास किस प्रकार हो रहा है, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य और बल संचित करने के लिए उन्हे किन चीजों की जरूरत है, हमसे बच्चे किस प्रकार के व्यवहार की आशा किया करते है, जो व्यवहार उनके लिए भी अनुकरणीय बन सके, और जब हमारे विषय मे बनाई हुई बच्चो की धारणाएं झूठी सिद्ध होती है तो उन्हे किस प्रकार की घोर निराशा होती है, इन सब बातो को समझना हम शायद अनावश्यक समझते हैं। बच्चो के सम्बन्ध मे हमारी अधिकांश कठिनाइयां इसी कारण उत्पन्न होती है।

प्रारम्भिक सावधानी का अन्त सुखदायी है

यदि हमने बालक के जन्म ही मे उसकी उन्नति और शक्तियों के उचित विकास पर ध्यान दिया है, और उसे ठीक दिशा की ओर प्रेरित किया है, तो आगे चलकर हमारे रास्ते मे बहुत मामूली कठिनाइयां आयेंगी। परन्तु हममे बहुत कम लोग ऐसे भाग्यशाली और इतने समझदार होंगे, जिन्होंने जीवन

अधिक ज़ोरदार तरीके से दुहराई जाय।

तिस पर भी बिलकुल सम्भव है कि बालक की कोई कुचेष्टा और व्यवहार उसके शैशव-काल में हमारा ध्यान आकर्षित न कर सके, परन्तु जब बच्चा जरा बड़ा हो तो वही हमें अखरने लग पड़े। इसी प्रकार यह सम्भव है कि कोई भूली हुई चेष्टा फिर से प्रादुर्भूत हो जाय, खास तौर पर उस समय जबकि सहसा बच्चे को नई परिस्थिति में जाना पड़ जाय, जैसे घर की परिस्थिति से स्कूल में—और यह नई परिस्थितियां चेष्टा और व्यवहार के नये और बिलकुल भिन्न प्रकार के आदर्श अपनाने के लिए बालक को बाधित करने लगें और वे आदर्श पहले की तरह आसान न हों।

आगे चलकर इस पुस्तक में हमें बाल्य-जीवन की उत्तरोत्तर प्रगति के विविध पहलुओं का वर्णन करना ही है, इसलिए इस सामान्य प्रारम्भिक अवलोकन में हम उस सबका वर्णन नहीं कर रहे। यहां हमें केवल इस बात का एक मोटा-सा नक्शा खींचना है कि घर में बालक का क्या महत्त्व है, हमें उससे क्या-क्या आशाएं करनी चाहिएं, और वे किस प्रकार से हमारी प्रसन्नता अथवा निराशा का कारण बन सकते हैं।

जब कभी हम बालकों के सम्बन्ध में मां-बाप के कष्ट-वृत्तान्त सुनते हैं, तब उनके कष्ट का एक मूल कारण हमें यह मालूम पड़ता है कि इस विषय में वे प्रायः असाधारण रीति से चिन्तित रहते हैं कि उनके बालकों के सामान्य व्यवहार के सम्बन्ध में उनके दोस्त-मित्र क्या राय कायम करते हैं? मोटे तौर पर मां बाप यही चाहा करते हैं कि अपनी शारीरिक और मानसिक प्रगति के लिहाज से उनके बालक उनके लिए प्रतिष्ठा और प्रशंसा का कारण बनें। जब बालकों के व्यवहार और चेष्टाएं मित्र-मंडली की नजरों में पूरे नहीं उतरते, और इनके लिए

मां-बाप दोष के भागी ठहराए जाते हैं, तो अपने दोष और भूलों को स्वीकार करने की अपेक्षा मां-बाप बालकों को ही कसूरवार बताते हैं।

घर में अनुरूपता

ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते हैं, त्यों-त्यों उनके सम्बन्ध में बहुत-सी कठिनाइयां इस कारण से उत्पन्न होती हैं कि मां और बाप एक दूसरे के अनुरूप और आपस में सहमत नहीं होते। प्यार और परस्पर अनुराग का वातावरण बालक के हर्ष और स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए नितान्त आवश्यक है, और उसका अभाव अनेक कठिनाइयां उपस्थित कर देता है। बालक के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा के विषय में मां की एक राय होती है और बाप अपनी अलग राय रखता है। यह मतभेद उन भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों का परिणाम होता है, जिनमें उन्होंने अपना-अपना बचपन बिताया होता है। बहुत दफा वे अपने बच्चों से ही ईर्ष्या करने लगते हैं, या बच्चों के लिए आपस में ईर्ष्यालु हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि यदि किसी विषय में एक 'हां' करता है तो दूसरा उसे रद्द कर देता है। परिवार में दोनों अपना-अपना हुक्म चलाने का यत्न करते हैं और बच्चों के प्यार को अपने-अपने तक परिमित रखने की चेष्टा करते हैं। बच्चों के दिल को एक दूसरे से फेरने तक की कुचेष्टा भी की जाती है, और इसके लिए बच्चों के सामने एक दूसरे की बुराई की जाती है। इन सब अवस्थाओं का परिणाम बच्चों के लिए अत्यन्त भयंकर होता है।

आजकल यह भी प्रवृत्ति पाई जाती है कि बालक के प्रारम्भिक भावुकतापूर्ण जीवन में मां को इतना अधिक महत्व दे दिया जाय कि बाप का महत्व सर्वथा नगण्य-सा रह जाय।

निस्संदेह, शैशव-काल मे मां की उपस्थिति बालक के लिए अनिवार्य है, परन्तु ऐसी भी माताएं होती है जो स्वयं ही बच्चों का सब-कुछ बन जाना चाहती है। विशेष रूप से पहले बच्चे के सम्बन्ध मे माताओं की प्रायः ऐसी भावना रहती है। और इस प्रकार वे जान-बूझकर अथवा बिना जाने-बूझे हुए बाप को इस बात का मौका ही नहीं देतीं कि वह भी बालक की परिस्थिति का एक आवश्यक अंग बनकर उसकी उन्नति मे अपना महत्वपूर्ण भाग ले सके।

परिणाम यह होता है कि बाप बालक के लिए ईर्ष्यालु हो जाता है, और पत्नी से खीझा-सा रहता है, क्योंकि वह बालक की ओर जरूरत से ज्यादा ध्यान देती है, और उस पर आवश्यकता से अधिक प्यार और समय खर्च कर देती है। यह महसूस करते हुए कि घर मे उसकी किसीको भी चाह नहीं है, वह बाहर की वस्तुओं मे अपनी अभिरुचि दिखाने लगता है, और कुछ समय पीछे घर मे एक पराया व्यक्ति बन जाता है। शिशु भी उसे घर के कामों मे खामखाह दखल देने वाला एक आगन्तुक-सा समझने लग जाता है, उससे डरने और डाह करने लगता है। अब बाप और शिशु में मां के ध्यान को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करने के लिए एक रस्साकशी-सी शुरू हो जाती है। बाप-बेटा दोनों उसके प्यार को अपने तक ही सीमित रखने के लिए बढ़-चढ़कर जोर लगाते है—जिससे घर मे जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्विता चल पडती है।

प्राय: पहले बालक का आगमन घर में युवा दम्पति की सुख-चैन की जिन्दगी मे बखेड़ा खडा कर देता है। ऐसी दशा मे इसका प्रभाव मां-बाप और बालक दोनों के ही भावी जीवन पर पडता है, उनकी जिन्दगी मे बेचैनी और कष्ट उत्पन्न हो जाते है। इस दशा मे बालक की मानसिक उन्नति के मार्ग मे

कई प्रकार की विघ्न-बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं।

अवांछित संतान

मां-बाप की अभिलाषाओं के प्रतिकूल जो संतान बिन-बुलाए जन्म लेती है, वह कभी उस प्यार की भागी नहीं बन सकती, जो उस बालक को मिलता है जिसे मां-बाप दोनों, चाह और इन्तजार के बाद, उपलब्ध करते हैं। अवांछित बालक के साथ मां-बाप के व्यवहार में दूसरे बच्चों की अपेक्षा कुछ-न-कुछ फर्क हो जाता है, भले ही मां-बाप को स्वयं ऐसा प्रतीत न होता हो, परन्तु बालक आसानी के साथ इसे भांप लेता है।

भले ही मा-बाप डींग हांका करें कि वे इतने सावधान हैं कि बालक को यह मालूम भी नहीं होने देते कि उनकी जिन्दगी, इस नये बालक की देख-भाल और इसके पालन-पोषण की जिम्मेदारी आ पड़ने के कारण कितनी कठिन और दूभर हो गई है। वे ऐसा भी समझने लगते हैं कि ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है वे उसके कष्ट को भूलते जाते हैं और अब उन्हें वह वास्तव में प्यारा लगने लगा है। परन्तु घर में जब भी कभी कोई ऐसी घटना हो जाय कि बालक उन्हें भार-रूप प्रतीत होने लगे तो उसके प्रति दबी हुई भावनाएं फिर जाग उठती हैं, और परिणाम यह होता है कि अवांछित संतान के प्रति उनका रुख फिर कठोर हो जाता है।

परन्तु यदि मां-बाप प्रारम्भ में एक लम्बा-चौड़ा कुनबा बनाने के अनिच्छुक भी रहे हों, तो इसके बिलकुल विपरीत प्रभाव भी हो सकता है। अपने दोष और अपराधीपन की भावना को भुलाने के लिए तथा बालक के जन्म की सम्भावना पर दुःख मनाकर उसका निरादर करने का बदला चुकाने के लिए वे अब उसे जरूरत से ज्यादा लाड़-प्यार करते हैं, और

उसे अनुचित रूप से 'लाडला' बनाकर बिगाड़ डालते हैं।

जैसा हमने ऊपर कहा है, किसी एक बच्चे के प्रति हमारी भावुकता की प्रधानता हमेशा बालकों की सुशिक्षा के मार्ग में बाधक होती है। इसके कारण छोटी अवस्था में बालक के जो आचरण सर्वथा स्वाभाविक और निर्दोष भाव से होते हैं, उनके सम्बन्ध में भी मां-बाप की राय बुरी हो जाती है। ऐसे बालक पर घर में बात-बात पर डांट-फटकार पड़ा करती है। इसीलिए ऐसा बालक, जिसे घर में सदा ढीठ, जिद्दी और कष्टप्रद समझा जाता था, घर से बाहर की परिस्थिति या स्कूल में जाकर नई स्वाधीनता प्राप्त करता है और वहां सुखी और प्रसन्न रहने के कारण शीघ्र उन्नति करने लगता है।

अब उसका उठना-बैठना ऐसे लोगों की संगति में होता है, जिनके दिल में उसके प्रति कोई द्वेष भाव नहीं है। उसमें नया और ताजा आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है और उसे सब चीजें सुगम, सहज और स्वाभाविक प्रतीत होने लगती हैं, क्योंकि अब पग-पग पर उसे निरुत्साहित करने वाली ईर्ष्यालु मां-बाप की टोका-टोकी नहीं है, और उसकी चेष्टाओं पर उनकी तरफ से जो रुकावट थी वह दूर हो चुकी है। नई परिस्थितियों में वह बहुत सन्तुष्ट रहता है। उसके सम्बन्ध में अध्यापकों की रिपोर्टें अब बहुत अच्छी आ रही हैं और बालक मां-बाप पर यही प्रकट करना चाहता है कि स्कूल का नया वातावरण उसके लिए कितना रुचिकर है, और जो समय उसका स्कूल में गुजरता है वह उसके लिए कितना सुखदायक और आनन्दवर्धक होता है।

परन्तु यह बात भी मां-बाप के लिए एक प्रकार के डाह की सामग्री उपस्थित कर देती है। वे ऐसा यकीन करना नहीं चाहते कि बालक की खुशी के लिहाज से घर को स्कूल के बाद दूसरा

दर्जा मिल रहा है, अथवा बालक का प्यार और उसकी अभिरुचियां उनसे भिन्न किसी अन्य व्यक्ति की ओर प्रवाहित हो रही हैं।

यह एक बहुत बड़ी मुश्किल है जो, ज्यों ही बालक के लिए घर से बाहर का द्वार खुलता है, आगे आ जाती है। बालक घर से बाहर नये-नये सम्बन्ध गांठने लगता है। मां-बाप यह तो अनुभव करते हैं कि वे घर में बालक को वह सुख-चैन और सन्तोष नहीं दे सके जो उन्हें देना चाहिए था, परन्तु वे यह भी सहन नहीं कर सकते कि जो वस्तु बालक को घर से नहीं मिली, वह उसे बाहर के अपरिचित व्यक्तियों से उपलब्ध होती रहे। बालक के प्यार पर वे अपने प्रधान स्वत्व का दावा रखते हैं, और कई बार अपनी मूर्खतावश बालक को भी इसकी याद दिलाते हैं कि बालक का यह फर्ज है कि वह अपने मां-बाप को सबसे ज्यादा प्यार करे, और बाहर की अपेक्षा घर में अधिक खुशी अनुभव करे।

घरेलू जिंदगी से दूर

हम पहले कह चुके हैं कि पहले पांच वर्षों में बालक को केवल घरेलू रिश्तों से ही सरोकार होता है। इसके पीछे बालक दूसरे स्थानों पर जाकर उन्हीं अभ्यासों को दुहराता है, जो घर में उसने हासिल किये हैं। वहां उसे ऐसा करने के लिए विस्तृत क्षेत्र और अधिक अवसर उपलब्ध हो जाते हैं। बहुत बार घर से बाहर उसके आचरण मां-बाप की चिन्ता और उद्विग्नता का विषय बन जाते हैं।

परन्तु हमेशा ही ऐसा नहीं होता। कई दशाओं में उसका प्रारम्भिक लालन-पालन इस प्रकार होता है कि घर के साथ बालक जरूरत से अधिक बंध जाता है। उसका खिंचाव हर

समय घर की ओर रहता है और बाहर रहते हुए वह कभी खुश नहीं रहता। कई मां-बाप बालकों पर अपना बहुत ज्यादा प्रभुत्व जमाये रखते हैं। कई माताएं बड़े अभिमान से कहा करती हैं कि उन्होंने कभी किसी बाहर के व्यक्ति को बालक की प्रसन्नता के लिए कुछ करने का अवसर नहीं दिया। परन्तु इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे बच्चे जब कभी कुछ ही घंटों के लिए किसी मित्र या निकट सम्बन्धी के यहां छोड़ दिये जाते हैं तो बहुत जल्दी मां-बाप की उपस्थिति के लिए व्याकुल हो उठते हैं। इस तरह मां-बाप के लिए बड़ी दिक्कत हो जाती है। बच्चे उनके आजादी से घूमने-फिरने पर जबर्दस्त बन्धन बन जाते हैं। अगर कहीं दुर्भाग्य से मां अथवा बाप बीमार पड़ जाय, यहां तक कि बालक को उनसे पृथक् रखना आवश्यक हो जाय, तो एक मुसीबत ही खड़ी हो जाती है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता जाय, घर के साथ बालक का सम्बन्ध उत्तरोत्तर स्वाभाविक रीति से ढीला होते जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो मां से ज्यादा चिपटे रहने की बच्चे की आदत एक मुसीबत और मां के लिए भी एक बोझा-सा बन जायगी। तथापि, मताएं कभी यह समझने की चेष्टा नहीं करतीं कि बालक को हमेशा अपने साथ चिपटाए रखने के उनके अपने प्रयत्नों ने ही बालक के मन में माता के प्रति एक स्थायी अनुरक्ति (फिक्सेशन) उत्पन्न कर दी है, जिससे अब दोनों को कष्ट हो रहा है।

जब स्कूल जाने के दिन आते हैं तो बालक की मानसिक दशा और भी बिगड़ जाती है। वह घर छोड़कर एक अपरिचित दुनिया में जाने से घबराता है। उसकी तबीयत स्कूल की मुसीबत से किसी-न-किसी प्रकार छुटकारा तलाश करती है, और इसलिए छोट-मोटी बीमारियां उसे प्रति दिन आ घेरती हैं। आज

देखेंगे कि आपका छोटा लड़का अथवा लड़की—और ज्यादातर लड़का ही,जिसे कई दिन से कभी खांसी या जुकाम की शिकायत नहीं देखी गई थी—स्कूल के आरम्भिक दिनों में खांसी-जुकाम की बीमारी में निरन्तर फंस गया है, और इस प्रकार कई हफ्तों से छुट्टी लेकर घर बैठ रहा है।

तबीयत ने जो चाहा था, उसे प्रकृति ने ला उपस्थित किया। बालक स्कूल से छुट्टी और मां की निरन्तर उपस्थिति का अभिलाषी था। इधर मां ने भी समझ लिया कि घर से बाहर के लोगों ने उसके प्यारे बच्चे की भली-भांति परवाह नहीं की, क्योंकि वे उसे उसके बराबर प्यार थोड़े ही कर सकते हैं। उसे भय है कि हर मौसम में बाहर खुले में निकलने देने से बालक को तकलीफ हो जाती है। पर उसे हैरानी भी है कि पहले भी तो वह स्वयं हर रोज बच्चे को बाहर ले जाया करती थी; अब उसे क्या हो गया है।

परन्तु वस्तुतः मौसम का इस रोग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। स्कूल में भली-भांति बालक की परवाह भी हुई है। बालक का रोग वस्तुतः मानसिक है। मां के साथ बच्चे का गहरा लगाव, उसे घर की सुरक्षित चारदीवारी के अन्दर खींचता है; बीमारी उसे इसका अवसर दे देती है। मां मन-ही-मन यह सोचकर खुश होती है कि उसका बेटा उसकी जरा-सी जुदाई भी सहन नहीं कर सकता। यदि बालक अपरिचितों से बहुत जल्दी घुल-मिल जाय तो मां मन में दुःख मनाती है।

कहने को वह इससे खुश है, क्योंकि बालक बाहर वालों के साथ खुश है। परन्तु बिना जताये हुए वह बालक को इसकी सजा इस प्रकार देती है कि अपने प्यार का बड़ा भाग अब वह छोटे लड़के के लिए सुरक्षित कर देती है, और इस प्रकार बड़े

लड़के के मन में अपने छोटे भाई या बहन के लिए एक प्रकार की ईर्ष्या की अग्नि प्रज्वलित कर देती है।

इसी प्रकार और भी अनेक जटिल समस्याएं और कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है, जिनके कारण पहले पांच वर्ष बालक की उन्नति के लिए जितने आसान थे, उसके पीछे के वर्ष उतने आसान नहीं रहते।

स्वतन्त्र प्रकृति का विकास

मां-बाप के साथ स्थायी अनुसक्ति (फिक्सेशन) उत्पन्न हो जाने अथवा ऐसे ही किसी अन्य कारण से यदि बालक की मानसिक और भावुक प्रकृति की उन्नति में कोई बाधा ही उपस्थित न हो गई हो, तो हम देखेंगे कि वह ज्यों-ज्यों बड़ा होता है उत्तरोत्तर स्वतन्त्र होता जाता है। वह प्रतिदिन ज्यादा खुदपसन्द और खुदपरस्त होता जाता है। अपने-आपमें अब वह ज्यादा मस्त रहता है, और हर बात को अपने ही हित की दृष्टि से देखता है। अब उसकी दिलचस्पी अपने विचारों, अपने खेलों और अपने दिमाग की कल्पनाओं में ज्यादा हो जाती है। नये-नये दोस्तों, स्कूल के नये साथियों, शिक्षकों और उन सब व्यक्तियों और बालकों में उसका मन ज्यादा लगा रहता है जो घर से बाहर आने के बाद उसके संपर्क में आते हैं।

अपने मानसिक और शारीरिक सामर्थ्य के सम्बन्ध में उसे नित्य नई-नई बातें मालूम होती हैं। अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियों को प्रकट करने के लिए वह नया मार्ग बनाता है, और प्रत्येक काम स्वयं करने का ढंग सीखना चाहता है।

वह अपनी उत्साहपूर्ण चेष्टाओं द्वारा नये-नये परीक्षण करता हुआ प्राय: कई प्रकार की कठिनाइयों में फंस जाता है। इसे भली-भांति न समझकर हम कह देते हैं—"बालक बहुत शरारतें करता है।" परन्तु वस्तुत: वह इस बात का एक निश्चित

चिह्न है कि बालक के मन, बुद्धि और शरीर की सब शक्तियां उन्नति कर रही है। उसका क्षेत्र विशाल हो रहा है और आस-पास की दुनिया को वह भली-भांति जान लेने की चेष्टा कर रहा है।

विचार-शक्ति के विकास और विस्तार के साथ-साथ वह अधिक सचेत और चंचल प्रकृति होता जाता है। अपनी शान्त न हो सकने वाली ज्ञान-पिपासा को बुझाने के लिए वह मां-बाप पर सवालों की बौछार-सी लगा देता है, और उन्हे परेशान कर डालता है; उन्हे थका देता है, क्योंकि मां-बाप को उसके प्रत्येक प्रश्न का जवाब देना पड़ता है, और वह भी ऐसे प्रकार से कि बालक की बुद्धि उस उत्तर को भली-भांति ग्रहण कर सके।

वयस्क पुरुषों का दिमाग़ निश्चेष्ट होकर मलिन होने लगता है। उन्हे उतने ही ज्ञान की तलाश होती है जितना उनके दैनिक व्यवहार के लिए आवश्यक होता है। अपने पेशे से सम्बन्ध रखने वाली बातों तक ही उनकी जिज्ञासा का दायरा परिमित होता है। इसलिए बालक के अनेक प्रकार के प्रश्न वयस्क पुरुषों के लिए एक कठिन परीक्षा बन जाते है। इसलिए कभी-कभी जब बालक अपने ज्ञान-विस्तार के लिए प्रश्न-पर-प्रश्न करके उन्हे ज्यादा परेशान कर देता है, तो वह खीझ उठते है और डपटकर उसे चुप कर देते है—"सताओ मत, ज्यादा शैतान और गुस्ताख मत बनो।"

आगे चलकर इस पुस्तक के किसी अध्याय मे, हम बालक की मानसिक चेष्टाओं और उनके सवालों का जिक्र छेड़ेगे। यह विषय बहुत महत्व का है, और इसकी जरा विस्तार से छानबीन करना आवश्यक है। मा-बाप को प्राय. ऐसे प्रश्न ज्यादा परेशान करते हैं, जिन प्रश्नो का सम्बन्ध परिवार मे नये बच्चे का जन्म, लड़के-लड़कियों के देह और अंगों के फ़र्क़

और मां-बाप और बच्चे के अंगों मे स्वाभाविक फर्क के साथ होता है। परन्तु इन प्रश्नों के उत्तर जिस तरीके से दिये जायंगे उस तरीके का प्रभाव भविष्य में बालक के ज्ञानोपार्जन, उसकी शिक्षा और जीवनचर्या के चुनाव पर बहुत अधिक पड़ता है।

ऊपर हमने सरसरी तौर पर कुछ उन कठिनाइयों का वर्णन किया है जो पांच वर्ष की आयु के पश्चात् बालक के जीवन में उपस्थित हो जाती हैं। आइये, अब हम इन कठिनाइयों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् अधिक विस्तार से विचार करें, और जांचे कि यह छानबीन हमें कहां तक बालक के सम्बन्ध में सहायक और मार्ग-निदर्शक बन सकती है।

: २ :

लाड-दुलार या डांट-फटकार

प्राय: ऐसा देखने में आता है कि जब बालक पांच वर्ष का हो जाता है तो मां-बाप, जिन्होंने अब तक बालक को हर बात में खुली छुट्टी दे रखी थी कि वह जो चाहे करता फिरे, अब सहसा फैसला कर लेते है कि बालक को कठोर नियन्त्रण में रखने की जरूरत है।

अब होता क्या है? मां-बाप की आदत और उनके स्वभाव में इस अचानक और अद्भुत परिवर्तन पर हैरान होकर बच्चे घबरा-से जाते हैं, और उन्हें कुछ सूझ नहीं पड़ता कि इस नये व्यवहार के बदले कैसा व्यवहार करें।

छुटपन से ही मां के समर्थन अथवा निषेध के आधार पर ही बालक सुरक्षा और अनिश्चयात्मकता, प्यार और भय, इत्यादि में तमीज करता रहता है। बालक के अभिभावकों के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वे स्पष्ट शब्दों में किसी कार्य के सम्बन्ध में अपनी अप्रसन्नता प्रकट करें। कोई ऐसा शब्द जो असहमति का सूचक हो केवल सिर हिला देना, अथवा सहमति-सूचक मुसकराहट का अभाव—इन सब लक्षणों से बालक आपके भावों को भांप लेता है। इतने से ही उसकी मुखाकृति विकृत हो जाती है, और वह सहसा रोनी सूरत बना लेता है, और फिर जब तक मां दुबारा दिलासा नहीं देती, उसके आंसू बहते चले जाते हैं।

इस परिचित आत्मीय का चेहरा जो पहले हमेशा प्यार से

मुसकराता रहा हो, नन्हे बालक की नजरों मे तनिक-सी क्रोध की छाया पैदा करता है, और वह सोचता है मानो उसे प्यार करने वाला अब कोई नहीं रहा। वह अपने-आपको बिलकुल अकेला महसूस करने लगता है। उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो उसे प्यार करने वाला व्यक्ति कहीं चला गया है, और उसके स्थान पर कोई अपरिचित नवागन्तुक आ गया है। बालक रोता है। वह फिर पहले व्यक्ति को वापस लाना चाहता है।

मां-बाप के प्रबल हथियार

इन कारणों से हमे बालक के प्रति उसके किसी कार्य पर प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता प्रकट करने के इन दो तीखे और प्रबल हथियारों का प्रयोग बहुत ही विचारपूर्वक करना चाहिए। बालक के लिए ये बहुत ही खास मतलब रखते हैं। बालक को हर बात में पूरी स्वच्छंदता दे देना तो सम्भव नहीं है। आप उसे यह छुट्टी कभी नहीं दे सकते कि वह जो चाहे करता चला जाय, और अपनी हर इच्छा पूरी कर ले। यदि आप ऐसी खुली छुट्टी दिये रखेंगे तो उसकी तबीयत मे खुदपसन्दी बहुत अधिक बढ़ती चली जायगी, और जब कभी उसकी मर्जी पर कोई रोक लगाना आवश्यक भी हो जायगा. आपका ऐसा करना उसे सर्वथा असह्य होगा—और आप सुगमता से उसे किसी बात के लिए निषेध न कर सकेंगे।

परिणाम पर पहुँचते हैं कि बालक को ऐसी खुली छुट्टी दे देना न तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित है, और न ऐसा करने से घर मे शान्ति बनी रह सकती है।

हममें से कई लोगों को प्राय: ऐसे प्रौढ़ व्यक्तियों और बालकों का निरीक्षण करने का अवसर मिला होगा जो आगे चलकर जीवन में इसलिए असफल रहे, क्योंकि उनकी मानसिक दशा कुछ अव्यवस्थित हो गई थी, और उनमें कुछ मनोवैज्ञानिक दोष उत्पन्न हो गए थे। ऐसा होने का मूल कारण प्राय: यही देखा गया है कि ऐसे व्यक्तियों को पहले तो शैशव मे हर तरह की छुट्टी दी जाती रही; पहले पांच वर्षों में उनकी अन्त:प्रेरणाओं पर कोई रोक और पाबन्दी बिलकुल न लगाई गई; परन्तु ज्यों ही पांचवे या छठे वर्ष में उन्होंने पग रखा, अचानक उनके आजादी के दिन समाप्त हो गए, और रह-रह कर उनकी चेष्टाओं पर रोक-टोक आरम्भ हो गई—उनकी सीमा निर्धारित होने लग गई और पाबन्दियां ठोंसी जाने लगीं। चाहे तो ऐसा स्कूल-जीवन में प्रवेश के कारण हुआ—स्कूल-जीवन का नियन्त्रण भी तो बालक के लिए एक नया बोझ है—और चाहे ऐसा इसलिए हुआ कि मां-बाप यह सहन नहीं कर सकते थे कि घर मे उनके बच्चे दिन-भर आपस मे लड़ते-झगड़ते रहे, और हर वक्त ऊधम मचाते रहे।

इस प्रकार इस आयु मे जब बालक की स्वच्छंदता पर सहसा अंकुश रखने का प्रयत्न किया जाता है, और उसे बड़ों की आज्ञा मानने के लिए मजबूर करने के उद्देश्य से कठोर उपाय काम में लाये जाते हैं तो उससे स्वाभाविक इच्छाओं का अधिक भयंकरता से निरोध (रिप्रेशन) होता है। परन्तु इसके विपरीत, यदि प्रारम्भ से ही बालक की मानसिक वृत्तियों को निरन्तर कोमल

रीति से उचित दिशा मे प्रेरित करते चले जायं, तो यह कठिनाई उपस्थित न होगी।

सामाजिक शिक्षा

छोटी आयु मे बालक अपने ही आप मे मस्त रहता है। उसे दूसरों से कुछ सरोकार नही होता। परन्तु बड़े होकर उसे जिस समाज का अङ्ग बनकर जीवन बिताना है, उस समाज के साथ समता और अनुकूलता कैसे स्थापित की जाय ? ऐसी अनुकूलता स्थापित करना कहां तक सुगम होगा यह इस बात पर निर्भर है कि बालक के मां-बाप स्वयं किस हद तक समाज के साथ समुचित सम्बन्ध स्थापित कर पाए हैं; अथवा वह अभी भी दिन-प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली भावुकता की लहरों मे बह जाते हैं, अथवा अपनी निरन्तर बदलने वाली मनोदशाओं और अन्त.-प्रेरणाओं से झटपट प्रभावित हो जाते हैं।

यदि सावधानी से बालकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करना हो, तो सबसे पहले हमारे पास कोई जांचा हुआ कार्य-क्रम (प्लान) होना चाहिए। हमें मालूम होना चाहिए कि बालक को किस बात की कहां तक अनुमति देनी है, और कहां आकर उसकी स्वतन्त्रता पर सीमा बांध देनी है। यह बच्चे के साथ घोर अन्याय है कि जब कभी तो हम खुश बैठे हों, हम बच्चे को हर बात करने की आज्ञा दे दे, और जब किसी और वक्त थके-मांदे और चिंताओ मे डूबे अथवा दुखी बैठे हों हम बालक को उसी प्रकार की चेष्टाओ के लिए उसे दबकाने और डांटने-डपटने लग जायं और व्यर्थ मे उसे सजा तक दे डालें। इसका परिणाम यह होता है कि बालक कभी भले-बुरे की पहचान नहीं कर पाता। वह यह जान ही नहीं सकता कि उसे कौनसा काम करना चाहिए और कौनसा नहीं। वह आपके चेहरे पर टक-टकी लगाकर ही देखता रहेगा, और आपकी आवाज पर व।

जमा देगा—ताकि वह आपकी क्षण-क्षण बदलने वाली मनोदशा का निरन्तर अंदाजा लगाता रह सके, और उसके अनुसार यह निर्णय कर सके कि वह कहां तक आगे बढ़ सकता है। इस दशा मे वह स्वभावत: बेकरार और डरा-डरा-सा रहता है, और उसकी स्वाभाविक उन्नति के लिए, जिस आल्हादपूर्ण विश्वास और बेफिक्री के वातावरण की आवश्यकता है, वह उसे उपलब्ध ही नहीं होता।

बालक यदि स्वाभाविक खुशी में हो तो वह खुद ही धीरे-धीरे अपनी इच्छाओं का परित्याग करके शिक्षक की इच्छा के अनुकूल चलने के लिए उद्यत हो जाता है। वह जब शिक्षक को प्यार करने लगता है तो उसकी इच्छा के अनुकूल चलने में खुशी महसूस करता है। इसलिए सबसे ज्यादा आसान और अच्छी राह यही है कि वह बालक के साथ ऐसा वात्सल्य-सम्बंध उत्पन्न कर ले कि बालक खुशी के साथ अपनी इच्छा से शिक्षक के बताये हुए मार्ग पर चलना पसन्द करने लगे। जब प्यार इतना बढ़ जाता है कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की इच्छाओं को अपना कर उसे अपनी ही इच्छा बना लेता है तो यह चित्त-वृत्तियों का निरोध (रिप्रेशन) नहीं कहलाता, बल्कि यह वृत्तियों का एकीकरण (आईडेन्टीफिकेशन) है। अगले अध्याय में इस विषय पर हमें कुछ अधिक कहना है।

परन्तु इसके विपरीत यदि बालक यह सीखता है कि अमुक काम उसे इसलिए नहीं करना, क्योंकि वैसा करने से लोग नाराज होते हैं, तो इस दशा मे वह भय के वशीभूत होकर आज्ञापालन करना सीखता है। ऐसी दशा मे लज्जा अथवा भय के कारण अथवा अपराध की भावना (सैन्स आफ गिल्ट) के वशीभूत होकर वह अपनी स्वाभाविक अन्त प्रेरणाओं का निरोध तो करता है परन्तु उसकी निरुद्ध प्रकृति आज्ञा-भंग के लिए

किसी अवसर की तलाश मे रहती है; वह लुक-छिपकर वैसा काम करने के लिए लालायित रहता है, अथवा जब उसके समीप कोई और कोमल प्रकृति वाला व्यक्ति उपस्थित हो, जो ऐसे मामलों मे जरा नरमी से पेश आता हो तो बालक उसकी परवाह किये बगैर वैसा काम करने लग जाता है।

बाल-चरित्र को नष्ट करना

यहां हमे बालक के चरित्र को नष्ट करने की बहुत ही सीधी राह नजर आती है। जहां मां-बाप मे परस्पर वैमनस्य हो—उनमें से एक किसी बात से बालक को रोकता, डांटता-फटकारता और वैसी बात बार-बार करने पर सजा देता है बालक रोता-चिल्लाता अपनी दु:ख-दर्द की कहानी दूसरे को जा सुनाता है। यहां उसे लाड-प्यार से पुचकारकर गोद मे ले लिया जाता है, दिलासा दिया जाता है और बालक जो कुछ करना चाहता था उसे करने की अनुमति दे दी जाती है।

बालक की प्रकृति पर इसका प्रभाव यह होता है कि वह मां-बाप मे से एक को दयार्द्र और स्नेहशील और दूसरे को कठोर तथा रुक्ष प्रकृति वाला ख्याल करने लगता है। एक को प्यार करने लगता है, और दूसरे को नफरत करता है। और यदि उसे समय-समय पर दोनों को खुश करके अपना काम निकालना आवश्यक जान पड़े तो वह अपने व्यवहार के दो नमूने बना लेता है। एक के सामने एक प्रकार का व्यवहार करता है, और दूसरे की उपस्थिति मे दूसरे प्रकार का व्यवहार करता है।

परन्तु इससे पहले बालक के लिए एक सन्देह की दशा आती है. क्योंकि उसे अनुभव से पता लगता है कि वह मां-बाप दोनों मे से एक पर भी हमेशा के लिए ऐसा विश्वास नहीं कर सकता कि अमुक कार्य के लिए उसे उसकी अनुमति मिल ही जायगी। यदि उसके माता-पिता दोनों तुनक-मिजाज हैं, तो वे

सहसा अकारण ही क्रोध में आ जायंगे, और जिस बात की अनुमति वे स्वयं ही बच्चे को देते आए है, बिना पहले कोई सूचना दिये उसे एकदम मना कर देंगे।

पहले पांच वर्षों मे बालक अपने घर के तौर-तरीकों, चाल-ढाल और व्यवहार के आदर्शों को समझ लेता है। इन तौर-तरीकों और आदर्शों के प्रति उसका अनुकूल अथवा प्रतिकूल आचरण इस बात से प्रभावित होता है कि उसकी अन्त:प्रेरणाएं कहां तक प्रबल हैं, और उसके मां-बाप उनका पालन करवाने मे कहां तक सबल अथवा निर्बल हैं। यदि मां-बाप की तबीयत निरंतर परिवर्तनशील है, और बच्चों के तङ्ग करने पर वे शीघ्र उनके सामने झुक जाते है तो बच्चा उन्हे बार-बार तङ्ग करके अपने लिए रास्ता निकालता है। अब वे तङ्ग आकर शिकायत करने लगते हैं कि बालक बड़ा ही स्वच्छंद और खुदपसंद बनता जा रहा है। उसे सुधारने के लिए वह उसे स्कूल भेजने का निश्चय करते है, जहां उसे अत्यन्त कठोर नियन्त्रण का पालन करना होता है।

स्कूल भेजे जाने पर बालक ऐसा महसूस करता है मानो सबने उसे छोड़ दिया है। मां-बाप ने उसे प्यार करना त्याग दिया है तभी तो उन्होंने उसे अपने से दूर स्कूल मे रखना पसंद किया है; भले ही यह दिन के कुछ घण्टों के लिए ही क्यों न हो।

यदि स्कूल भेजने के साथ ही घर मे एक नये बालक का जन्म हो तो अवस्था ज्यादा बिगड़ जाती है। बालक पर दुहरी चोट पड़ती है। उसे गुस्सा आता है और नवजात शिशु ही उसका सबसे अधिक अप्रीतिभाजन बन जाता है, जिसके कारण ही उसे घर से बाहर निकलना पड़ा है। अब वह मां-बाप के प्रति उदासीनता का भाव धारण कर लेता है, स्कूल से उसे नफरत हो जाती है, और उसके साथ वहा के सब पदार्थों और

व्यक्तियों से भी। प्रत्येक बात से वह एक विद्रोही बन जाता है। और सबके लिए एक मुसीबत-सी पैदा कर देना चाहता है, यहा तक कि थककर स्कूल वाले उसे अपमानपूर्वक स्कूल से वापस घर भेज देते है।

परन्तु यदि स्कूल के अध्यापकों ने बुद्धिमत्ता और कुशलता-पूर्वक बालक के ठेस खाए हुए भावों को भली-भांति समझ लिया, और समझ-बूझकर उससे कैसा सलूक करना है इसका निश्चय कर लिया, तो यकीन रखिए, उसकी तकलीफ शीघ्र ही दूर हो जायगी। वह स्कूल को ही धीरे-धीरे अपना नया घर बना लेगा, अध्यापकों को ही मां-बाप की जगह दिल मे बिठा लेगा, और उनके नये आदर्शों को अपनाकर उन पर ही चलना आरम्भ कर देगा। परन्तु इसके साथ ही उस पर से घर का सब असर भी जाता रहेगा। बालक यह सीख जायगा कि उसके मां-बाप विश्वास के योग्य नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने उस प्यार की जगह जिस पर कभी इस बालक का एकाधिकार हुआ करता था, अब नये शिशु को दे दी है; इसलिए वे अब कभी इस बालक को प्यार न कर सकेंगे।

घर से बाहर पहला कदम

यदि पहले पांच वर्षों मे बालक का पालन-पोषण ऐसे घर मे हुआ हो जहां परस्पर प्यार और विचारसाम्य है, जहां मानसिक उद्वेगों और आवेशों (इमोशन्स) को भली-भांति संयत रखा जाता है, वहां आप देखेगे कि बालक मां-बाप और घर से विदा-यगी का पहला पग अत्यंत शांत और स्वाभाविक रीति से बाहर धरता है, और उसकी मानसिक दशा मे कोई विक्षेप उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यदि घर मे निरन्तर उत्तेजना और आवेग और भावोद्गारो के तूफान उठा करते है, और व्यवहार भली-भांति संयत नहीं है तो हमे इस बात के लिए तैयार रहना

चाहिए कि बालक के ये वर्ष कई प्रकार की मनोवैज्ञानिक विषम परिस्थितियों, परेशानियों और मुसीबत के होंगे।

यदि बालक के मां और बाप, दोनों मे से कोई एक ही उसके पालन-पोषण के लिए जिम्मेदार हो, दूसरा उपस्थित ही न हो, अथवा माता और पिता मे परस्पर कोई प्यार न हो, तो इसका परिणाम यह होगा कि बालक को अपने हिस्से के प्यार से ज्यादा प्यार मिल जायगा, क्योंकि घर मे अनुपस्थित मां अथवा बाप को जो प्यार मिलना चाहिए था वह भी अब बालक के हिस्से में आयगा। ऐसी दशा मे उसे जरूरत से ज्यादा प्यार मिल गया, और वह भी एक ही प्रकार का। शायद वह प्यार भी उसमे मिल गया है जो दम्पति मे दूसरे वयस्क साथी को मिलना चाहिए था, और इसलिए वह उस प्रकार का प्यार नहीं है जिस तरह का प्यार बालक को मिलना चाहिए था। उसकी मां अथवा बाप, दोनों मे से जो कोई भी अब उसका अभिभावक है, वह उसे अपने पति अथवा पत्नी के स्थान पर रख रहा है, और बालक समझ-बूझकर, अथवा बिना जाने-बूझे घर मे 'प्रौढ़' व्यक्ति का-सा आचरण करने लगता है।

जहां ऐसा होता है वहां प्रायः बालक अपने अभिभावक के प्रति बहुत शीघ्र भावावेश की सीमा को लांघ जाता है और असंयत हो जाता है. उसे अपनी नजर से ओझल नहीं होने देना चाहता। यदि उसके किसी कार्य पर अभिभावक नाराज हो, तो वह एक कुहराम सा मचा देगा। और तब तक आपे से बाहर रहेगा जब तक अभिभावक उसे क्षमा करके फिर पहले का-सा प्यार न करने लगे। जब तक ऐसा न होगा, तब तक बालक न तो सोएगा जागता हुआ बिस्तर पर करवटें बदलता रहेगा, रोता रहेगा—जब तक या तो अभिभावक कमरे में आकर उसे प्यार-दुलार न करे. अथवा उसे स्वयं थकावट से नींद न आ घेरे।

घर में बाहर से कोई अभ्यागत आ जाय, अथवा मां-बाप अधिक समय परस्पर अलग रहने के बाद घर मे इकट्ठे हुए हों, यह अवसर भी ऐसे बालक के लिए असहनीय अकेलेपन का होता है। उसकी तब भी वही उपर्युक्त दशा हो जायगी। रोना, चिल्लाना, बार-बार पानी मांगना, अथवा अकेले अँधेरे मे डर लगने का बहाना करना—ये सब उपाय हैं जिनका आश्रय लेकर वह अभिभावक को अभ्यागत से अलग रहने के लिए मजबूर कर देगा, और तब चैन लेगा और तभी अभिभावक को चैन लेने देगा जब वह उसके समीप लौट आयगा।

छोटी लड़कियां इस प्रकार के एक रीति से प्रारम्भिक 'हिस्टीरिया' अथवा उन्माद के दौरों की उसी प्रकार शिकार हो जाती है जिस प्रकार छोटे लड़के। लड़कियों का ऐसा लगाव प्राय: बाप के साथ होता है—परन्तु सुलाने के लिए मां की उपस्थिति प्राय: उसी प्रकार आवश्यक हुआ करती है जिस प्रकार उनकी शिशु अवस्था मे हुआ करती थी। प्रारम्भ मे तो छोटी लड़कियां भी अपने भाइयों की तरह मां को ही ज्यादा प्यार किया करती है, और प्रतिक्षण मां के लाड-प्यार और उसकी उपस्थिति की इच्छुक रहा करती है। यदि उनकी उन्नति स्वाभाविक रीति से हो रही है तो ज्यों-ज्यों वे बड़ी होती जाती हैं, वे अपना ज्यादा प्यार बाप के साथ जोड़ लेती है। परन्तु लड़का तो सारी उमर मां का ही लाडला बेटा बना रहता है।

इस छोटी लड़की का प्यार बाप की ओर क्यों उलट पड़ता है? इसका कारण बतलाना कठिन है। कई बार घर मे दूसरे बालक के जन्म के साथ ऐसा हुआ करता है। लड़की ऐसा महसूस करती है कि मां ने उसे छोड दिया है, जिसके पास उसे प्यार करने के लिए अब न समय है और न उतनी प्यार करने की

इच्छा ही। लड़की और उसका बाप दोनों ही एक प्रकार से लड़की की मां के प्यार से इस समय किसी हद तक वंचित हो गए हैं—मां का अधिक समय और उसका अधिक ध्यान नवजात शिशु की सेवा-शुश्रूषा में जो खिंचा जा रहा है। इस विषय में दोनों एक ही प्रकार के दुःख के समभागी हैं—और एक ही दुःख के भागीदार साथी होने के नाते दोनों परस्पर ज्यादा करीब हो जाते है। दोनों पक्के साथी बन जाते है। लड़की अब पिता की इतनी परवाह करने लगती है कि मां को कई बार उस समय निराशा-सी होती है जिस समय वह जरा खाली होकर इस योग्य हो जाती है कि घर के सब व्यक्तियों मे भली-भांति दिलचस्पी ले सके।

उपर्युक्त परिवर्तन कुछ इसलिए भी आ जाता है क्योंकि शिशु-काल के कुछ वर्षों के पश्चात् बाप अपनी छोटी बच्ची मे ज्यादा दिलचस्पी लेना आरम्भ कर देता है, और मां की अपेक्षा घूमने-फिरने की ज्यादा स्वाधीनता दे सकता है।

दांत निकलने का दुबारा कष्ट

सभी मां-बाप प्राय. इस बात को स्वीकार करते है कि पांच-छः वर्ष की अवस्था का होकर बालक कुछ ज्यादा ही तकलीफ देने लग जाता है। परन्तु कुछ ऐसा भी विश्वास पाया जाता है कि दुबारा दांत निकलने तक यह कष्ट रहता है, परन्तु उसके बाद यह सब ठीक-ठाक हो जाता है।

इस बात मे सचाई कितनी है यह तो कहना बहुत कठिन है। परन्तु इस आयु मे बच्चे की मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल इतनी ज्यादा होती है, कि यह कहना कठिन हो जाता है कि इस सब मे अस्थायी दांतों का स्थान स्थायी दांतो द्वारा लिये जाने की घटना का कितना प्रभाव हो सकता है।

प्राय यही माना जाता है कि दूध के दांत बिगड़ते-बिगड़ते समय पाकर स्वय ही गिरने जाते हैं। पहले इस आयु के बच्चों

को कोई मां-बाप दांतों के डाक्टर के पास न ले जाता था। खोखले और पीड़ा देने वाले दांतों की कोई खास फिक्र करने जरूरत नहीं समझी जाती थी। यदि कभी दांत में दर्द होता तो आशा की जाती थी कि बच्चे उसे बर्दाश्त करें। ज्यादा-से ज्यादा मां-बाप उसके दांत में कोई दर्द-मार दवा रख देते थे, और उसका मुंह-सिर लपेटकर लिटा देते, और चुपचाप दर्द बर्दाश्त करने के लिए कहते थे।

अब हमें मालूम है कि यदि और किसी कारण से नहीं तो कम-से-कम दूसरे दांतों की रक्षा की दृष्टि से ही हमें बच्चे के दांतों की कुछ ज्यादा फिक्र करनी चाहिए। लगातार पीड़ा देने वाला—अन्दर से खाया हुआ खोखला दांत व्यर्थ में बालक को कष्ट देगा, उसकी नींद खराब करेगा, और रात भी उसे बुरे-बुरे स्वप्न आया करेंगे। यह भी सम्भव है कि मानसिक दृष्टि से इस पीड़ा के कारण उसके अन्दर निराशा की भावना जागृत हो—कारण यह कि बालक को जिस मां-बाप पर पूरा-पूरा भरोसा था, वे भी सर्वथा अशक्त हो गए हैं, और इस कष्ट से उसे मुक्ति नहीं दिला सकते।

जब पहला दांत गिरता है तो बालक सहम जाता है। उसका एक अंग खो गया। कई बार बालक हैरान-सा होता है कि क्या सचमुच उसकी जगह और दांत निकल आयगा। कई दफा बच्चे गिरे हुए दांत को बहुत सम्भालकर अपने पास रख छोड़ते हैं। बालक को यह भी महसूस होता है कि उसकी मुखाकृति बिगड़ गई, और बोलने में उसे कष्ट होता है। वह शब्दों का उच्चारण भली-भांति सुगमता से नहीं कर सकता।

उसके हमजोली प्रायः उससे ठट्ठा करते हैं। उसे 'दन्दबोड़ा' आदि नामों से पुकारा जाता है। उसकी सूरत और बोल-चाल दोनों की नकल उतारकर मजाक उड़ाया जाता है। बालक इसे

बहुत ही नापसन्द करता है कि उसका मज़ाक उड़ाया जाय। (यद्यपि कुछ मां-बाप का यह ग़लत विश्वास होता है कि मज़ाक उड़ाकर बालक के बहुत-से अवगुण छुड़ाये जा सकते हैं।) बालक को अजीब-अजीब बातें कही जाती हैं, यथा—'यदि तुम खाली जगह पर जीभ न छुओगे तो तुम्हारे दांत सुनहरी उगेंगे।' जब तजुर्बे से वह बाद में देखता है कि मां-बाप की कही बात ग़लत साबित हुई है तो उन पर से उसका विश्वास उठ जाता है।

इस आयु में आकर बालक की वाणी में भी कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है। बालक कई शब्दों के उच्चारण ग़लत करने लगता है अथवा तुतलाने लगता है। ये दोष सुगमता से उससे नहीं छूटते। हमें अत्यन्त सावधान रहना चाहिए कि इस अवस्था में ऐसे बालक से कैसे सलूक करना है। कहीं ऐसा न हो कि बालक को कोई ऐसी खराब आदत हम डाल दें, अथवा उसके अन्दर कोई असाधारण संकोच उत्पन्न कर दें, जो पीछे से दूर न किया जा सके।

इस अवस्था में बालक कुछ उन बातों को भी दुहराता है जो प्रथम बार दांत निकलते समय वह किया करता था। सम्भव है कि वह चाहता हो कि उसकी मां उसे वैसा ही प्यार करे जैसा कि पहले दांत निकलते समय वह किया करती थी; वह वैसे ही उसकी तबीयत बहलाने के अनेक-अनेक उपाय करे। मां को चाहिए कि बालक को इन बातों से बिलकुल वंचित न रखे; परन्तु उसकी इस अवस्था की पीड़ा और कष्ट पर ज्यादा दौड़-धूप और शोर-शराबा करना, घबराहट और चिन्ता प्रकट करके इसे एक असाधारण घटना का रूप दे देना बालक को बिगाड़ देना है।

: ३ :

बड़ों का अनुकरण

हमने पिछले अध्याय में इस बात का जिक्र किया है कि बालक कुछ दशा में अपनी वैयक्तिक इच्छाओं और मनमानी करने की वृत्ति को त्याग कर अपने आस-पास वालों की इच्छाओं को अपना लेता है। उसके हित की दृष्टि से यही उचित है कि वह ऐसा भयवश न करें, बल्कि अनुरागवश करे। इसका अर्थ यह है कि ऐसी दशा में एकीकरण (आईडेन्टिफिकेशन) का मनोवैज्ञानिक यंत्र कार्य करने लग गया है, जिसमें बालक भली-भांति दूसरे लोगों का अनुकरण करने लग जाता है।

हम सब यह तो भली-भांति जानते ही हैं कि बालक दूसरों का अनुकरण करने के लिए किस प्रकार उद्यत रहा करते हैं। वे बड़ों का भी अनुकरण करते हैं, और समवयस्क बालकों का भी अनुकरण करते हैं। मां, बाप, चचा, ताऊ और अन्य रिश्तेदारों का विविधि प्रकार का लिबास पहनकर वे उनकी नकल किया करते हैं, और प्राय. मां-बाप और अध्यापक का नाट्य करते हैं। एक बार उन्हें स्कूल की जिन्दगी आरम्भ कर लेने दीजिए, फिर मां-बाप और अध्यापकों की विविध विशेषताओं और उनके स्वभाव और व्यवहार की अद्भुत बातों की वे ठीक-ठीक नकल उतारकर दिखायेंगे।

अनुकरण करने की बालक में जो प्रवृत्ति है, उसके कारण हम बहुत बार यह समझने लगते हैं मानो बालक में मां-बाप के

बहुत ही नापसन्द करता है कि उसका मजाक उड़ाया जाय। (यद्यपि कुछ मां-बाप का यह ग़लत विश्वास होता है कि मजाक उड़ाकर बालक के बहुत-से अवगुण छुड़ाये जा सकते है।) बालक को अजीब-अजीब बाते कही जाती हैं, यथा—'यदि तुम खाली जगह पर जीभ न छुओगे तो तुम्हारे दांत सुनहरी उगेगे।' जब तजुर्बे से वह बाद मे देखता है कि मां-बाप की कही बात गलत साबित हुई है तो उन पर से उसका विश्वास उठ जाता है।

इस आयु में आकर बालक की वाणी में भी कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है। बालक कई शब्दों के उच्चारण ग़लत करने लगता है अथवा तुतलाने लगता है। ये दोष सुगमता से उससे नहीं छूटते। हमें अत्यन्त सावधान रहना चाहिए कि इस अवस्था में ऐसे बालक से कैसे सलूक करना है। कहीं ऐसा न हो कि बालक को कोई ऐसी खराब आदत हम डाल दे, अथवा उसके अन्दर कोई असाधारण संकोच उत्पन्न कर दें, जो पीछे से दूर न किया जा सके।

इस अवस्था में बालक कुछ उन बातों को भी दुहराता है जो प्रथम बार दांत निकलते समय वह किया करता था। सम्भव है कि वह चाहता हो कि उसकी मां उसे वैसा ही प्यार करे जैसा कि पहले दांत निकलते समय वह किया करती थी; वह वैसे ही उसकी तबीयत बहलाने के अनेक-अनेक उपाय करे। मां को चाहिए कि बालक को इन बातों से बिलकुल वंचित न रखे; परन्तु उसकी इस अवस्था की पीड़ा और कष्ट पर ज्यादा दौड़-धूप और शोर-शराबा करना, घबराहट और चिन्ता प्रकट करके इसे एक असाधारण घटना का रूप दे देना बालक को बिगाड़ देता है।

: ३ :

बड़ों का अनुकरण

हमने पिछले अध्याय में इस बात का ज़िक्र किया है कि बालक कुछ दशा में अपनी वैयक्तिक इच्छाओं और मनमानी करने की वृत्ति को त्याग कर अपने आस-पास वालों की इच्छाओं को अपना लेता है। उसके हित की दृष्टि से यही उचित है कि वह ऐसा भयवश न करे, बल्कि अनुरागवश करे। इसका अर्थ यह है कि ऐसी दशा में एकीकरण (आइडेन्टिफिकेशन) का मनोवैज्ञानिक यंत्र कार्य करने लग गया है, जिसमें बालक भली-भांति दूसरे लोगों का अनुकरण करने लग जाता है।

हम सब यह तो भली-भांति जानते ही हैं कि बालक दूसरों का अनुकरण करने के लिए किस प्रकार उद्यत रहा करते हैं। वे बड़ों का भी अनुकरण करते हैं, और समवयस्क बालकों का भी अनुकरण करते हैं। मां, बाप, चचा, ताऊ और अन्य रिश्तेदारों का विविधि प्रकार का लिबास पहनकर वे उनकी नकल किया करते हैं, और प्राय: मां-बाप और अध्यापक का नाट्य करते हैं। एक बार इन्हें स्कूल की ज़िन्दगी आरम्भ कर लेने दीजिए, फिर मां-बाप और अध्यापकों की विविध विशेषताओं और उनके स्वभाव और व्यवहार की अद्भुत बातों की वे ठीक-ठीक नकल उतारकर दिखायेंगे।

अनुकरण करने की बालक में जो प्रवृत्ति है, उसके कारण हम बहुत बार यह समझने लगते हैं मानो बालक में मां-बाप के

साथ जितनी समानताएं हैं वे सब-की-सब पैतृक संस्कार द्वारा प्राप्त की हुई है, परन्तु 'एकीकरण' का उपर्युक्त सिद्धांत उन सब प्रवृत्तियों और चेष्टाओं की ठीक-ठीक व्याख्या कर देता है, जिन्हें हम समझते हैं कि ये सब बातें उसने अपने परिवार से स्वाभाविक रीति से अनायास प्राप्त की हैं। हम वंश-परम्परा के संस्कारों को मानने पर उसी दशा में मजबूर होते हैं, जब बालक मां-बाप की ऐसी विशेषताएं भी अपने में प्रकट करता है जिनसे जीवन में वह अभी तक बिलकुल अपरिचित है, जिन्हें उसने पहले कभी नहीं देखा, और न कभी उनके विषय में सुना है। ऐसी दशाओं मे हमें वंशानुक्रम के प्रभाव को मानना पड़ता है।

बालक ज्यों-ज्यों उन्नति करते जाते है, वे बोलने-चालने के तरीकों, मुख-मुद्रा और भाव-भंगी तथा चाल-ढाल मे मां-बाप और शिक्षक का पूरा अनुकरण करते हुए दिखाई देते हैं। वे उनकी आदतों और उनके दृष्टिकोण को भी अपना लेते हैं।

अच्छे दृष्टान्त की शक्ति

इसी कारण मां-बाप का परस्पर एक दूसरे के प्रति व्यवहार और उनका बालक के प्रति व्यवहार बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाता है। यदि मां-बाप एक दूसरे के प्रति उदार और कोमल है, घर के दूसरे लोगों और अभ्यागतों के साथ आदर-सम्मान का व्यवहार करते हैं, स्वभाव से सत्यभाषी, नम्र तथा सुसभ्य है, सदा हंसमुख और प्रसन्नवदन रहते है तो वे देख लेंगे कि यह सब गुण अनायास आप-से-आप उनकी सन्तान में प्रादुर्भूत होते जायंगे। परन्तु डांट-फटकार द्वारा ये गुण कभी बालकों में उत्पन्न नहीं किये जा सकते।

इसके विपरीत जो मां-बाप अथवा शिक्षक सदा दूसरों की कुरुचिपूर्ण आलोचना में मग्न रहते हैं, सदा लोगों के छिद्रा-

न्वेषण में आनन्द अनुभव करते है, जो छोटी-छोटी तुच्छ बातों पर खीझ उठते है और बच्चों को व्यर्थ खिझाते रहते है उन्हें शीघ्र ही मालूम हो जायगा कि ये दुर्गुण बालकों में उसी प्रकार सम्पूर्णतया प्रतिबिम्बित मिलेगे जिस प्रकार आइने मे चेहरा।

वे बच्चों मे इन दुर्गुणों को पायंगे, इससे कष्ट भी अनुभव करेगे; परन्तु बालकों मे वे आये कहां से, कैसे आ गए, इसका उन्हे ज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि लोग प्राय: अपनी भूलों और अपने दुर्गुणों से बिलकुल आखे मूंदे रहते है, इसलिए बच्चों मे जब ऐसी बातें देखते है तो बार-बार दुखी और चिन्तित होते है।

परन्तु बच्चों की दृष्टि बड़ी तीव्र होती है। जब उन पर किसी ऐसी बात के लिए डांट-फटकार पड़ती है जिसे वे स्वयं मां-बाप को करते प्राय: देखा करते है, तो वे अनुभव करते है कि उनके साथ घोर अन्याय किया जा रहा है। भले ही हम डींग हांके कि बच्चों के सामने हम सदा अपनी अच्छी मिसाल पेश करते है, और मन मे भले ही समझते रहे कि बच्चे हमारी उन्हीं बातों का और उसी रीति से अनुकरण करेंगे जैसा कि हम चाहते हैं, परन्तु हम जब असावधान होते है—तो कुछ ऐसी बातें कर डालते है, अथवा जल्दी मे ऐसी बाते कह जाते है जिनके विषय मे हम तो समझते है कि बच्चों ने उन्हे नहीं निहारा, अथवा नहीं सुना, परन्तु हम भूल जाते हैं कि उस समय भी हम बच्चो के अनुकरण के लिए अपनी मिसाल पेश कर रहे हैं। हमे हैरान न हो जाना चाहिए, जब बच्चे हमारी इन बातों को भी नकल करने लग जाते हैं।

बालक मां बाप दोनों मे से, अथवा घर मे मे जिस किसी को भी ज्यादा प्यार करता है, अथवा घर मे जिस किसी की ज्यादा चलती है उसी का हमेशा ज्यादा अनुकरण करता है.

जिससे घर में उसे भी उसी प्रकार की प्रधानता मिल जाय। कई बार छोटे बच्चों में बड़ों के-से व्यवहार और चेष्टाएं देख-देखकर हम हंसा करते है, परन्तु विचार करने के बाद पता लगता है कि ये केवल किसी ऐसे प्रौढ़ व्यक्ति का अनुकरण-मात्र है जिस व्यक्ति को बालक अधिक प्यार करता है। शायद यही अनुकरण बालक के भावी जीवन मे उसकी चेष्टाओं, व्यवहार और स्वभाव का कीमती अङ्ग बनने वाला है। जब हम ऐसा भली-भांति समझ जायंगे तो अपने व्यवहार और चेष्टाओं में अत्यधिक सावधान और संयत रहने लगेगे। जब हम बच्चे के ऐसे व्यवहार पर हंसते है तो संभव है कि हमारी हसी का उस पर यह प्रभाव हो कि वह उस व्यवहार पर लज्जित होकर अधिक बचपन का अभिनय करने लगे, और बड़ों के सामने आवश्यकता से अधिक लड़कपन दिखलाए। इस प्रकार वह अपनी स्वाभाविक उन्नति के मार्ग के विरुद्ध पीछे की ओर लौट पड़ता है—इसे बचपन की ओर प्रतिगमन (रिग्रेशन) कहते है। यह लड़कपन बहुत देर तक बना रहता है, और अभिभावको के लिए एक चिन्ता का कारण बन जाता है।

नये शिशु का आगमन

हम पहले कह आये हैं कि बालक दूसरों का अनुकरण करते हैं—अपने से बड़ों का और छोटों का भी। घर में जो प्रधान हो, अथवा जिसकी ज्यादा चलती हो वे प्राय. उसीका अनुकरण किया करते है।

एक पांच साल का बालक हमें अनायास चौंका देता है, जब हम देखते है कि वह अब फिर कई ऐसी बातें करने लग गया है, और उसे कुछ ऐसी आदतें पड़ती जा रही है, जिन्हे वह कई वर्ष पहले त्याग चुका था। वह फिर से सोते वक्त बिस्तर पर

पेशाब कर देता है, अस्पष्ट अथवा बच्चों की-सी तोतली जबान मे बाते करने लगा है, अधिक काल्पनिक बाते करता है, जब तक उसके पास कोई न हो वह सो नहीं सकता, और इसी प्रकार से वह मां-बाप को तंग करने लगा है। इस नई समस्या का क्या हल है ?

यदि हम घर मे पूछताछ करेंगे तो हमे पता लगेगा कि इन दिनों घर मे एक परिवर्तन आया है—घर मे एक नये शिशु का जन्म हुआ है। बड़े बालक को इसके लिए पहले से ही तैयार किया गया था, और वह अपने नवजात छोटे भाई अथवा बहन का स्वागत करने के लिए उत्सुक भी था, और जब वह आया तो उसे खुशी भी बहुत हुई। परन्तु फिर भी कुछ समय पीछे उपर्युक्त लक्षण उसमे प्रकट हो गए। अब यदि हम यह कहे कि नया शिशु ही इन लक्षणों के प्रकट होने का कारण है तो मां सिर हिलाकर कहेगी—'वह इस बात को कभी नहीं मान सकती। बालक छोटे शिशु को बड़ा प्यार करता है, और वह कभी उसके प्रति ईर्षालु नहीं हो सकता।'

ठीक है, बालक ईर्षालु भले ही न हो, परन्तु वह निराश हो सकता है, क्योंकि इस नई घटना का प्रभाव तो उस पर पड़ा ही है। वह इसलिए निराश है, क्योंकि उसने समझा था कि नया शिशु खेल में उसका साथी बनेगा, और शायद यह बात उसके मां-बाप ही उससे कहा करते थे ताकि वह नये शिशु का स्वागत करने के लिए तैयार हो जाय।

परन्तु इस विषय में मां-बाप उस पर ज़रा भी विश्वास नहीं करते, क्योंकि उन्हे भय है कि अज्ञानवश वह शिशु को कोई हानि न पहुंचा दे। वह केवल शिशु को देख सकता है, और यह देख सकता है कि उसकी मां अब नये शिशु को ही अपना सारा प्यार दे रही है, उसीके पालन-पोषण में उसकी सब शक्ति खर्च हो रही है, और उसकी चिन्ताओं का वही अब एक-मात्र केन्द्र है।

शिशु मां की गोद में इतने आराम के साथ रहता है; मां जब उसे दूध पिलाती है तो कितनी खुश नजर आती है, हालांकि वह मां की इतनी चिन्ता और प्रयास का कारण बना हुआ है। शिशु ऊपर पेशाब भी कर देता है। उसे जब लिटाया जाता है तो वह रोता है। यदि तत्काल उसकी मांग पूरी नहीं की गई तो वह गुस्सा करता है—गुस्से से उसका मुंह लाल हो जाता है, और वह ज़ोर से मुट्ठियां बन्द करके हाथ पकड़ता है। अब घर में शिशु ही सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति है, जिसकी इच्छाएं सबसे पहले पूरी की जाती है। जब तक वह बिस्तर पर आराम से पड़कर सो न जाय, सारा घर इन्तजार मे रहता है।

बिना जाने-बूझे ही हमारा बालक इस शिशु का अनुकरण करने लग जाता है। कारण यह कि यदि वह वही कुछ करने लग जाय जो शिशु करता है, अथवा जो कुछ वह स्वयं कुछ वर्ष पहले किया करता था तो वह भी घर मे उतना ही माना जायगा। और मां की परवाह और लाड-प्यार का भी उतना ही हिस्सा उसे फिर मिल जायगा। बस, इस प्रकार बालक फिर शैशव की ओर लौट पड़ता है। वह अपने खोए हुए महत्व को प्राप्त करना चाहता है। वैसे तो वह स्वयं नहीं जानता कि वह ऐसा सब क्यों कर रहा है, इसलिए उसे यह बतलाने का कोई फ़ायदा

नहीं कि वह शिशु के अनुकरण में यह सब कर रहा है। यदि हम उसे ऐसा बतलाएं भी तो वह इस पर यकीन न करेगा, और न इस बात को समझ ही पायगा।

इसलिए अब किया क्या जाय? घर में हम भली-भांति शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं; परन्तु यह कार्य बालक को बुरा-भला कहने, डांटने-डपटने और सजा देने से कभी सिद्ध नहीं हो सकता, न उसे बहुत ज्यादा लाडला बनाने और लालच देकर काम कराने से सिद्ध होगा, न शिशु की तरफ संकेत करके ऐसा कहने से होगा—'देखो, यह शिशु तुमसे कितना छोटा है, और फिर भी कितना कम तङ्ग करता है।' हमें तो कठिनाई की तह तक जाना चाहिए। जो वस्तु इस बालक से छीनकर शिशु को दे दी गई है उसे उसके बदले में कुछ मिलना चाहिए था। उसके हाथ, अब जबकि शिशु के साथ एकीकरण करके बालक उसीका अनुकरण कर रहा है, तो कहीं और एकीकरण का अवसर देना चाहिए, जो उसकी अवस्थानुसार उसके लिए अनुकरणीय हो सके।

बड़े बच्चे की क्षतिपूर्ति

बालक की मां को कुछ समय बालक के साथ अकेले रहने के लिए निकालना चाहिए। इस समय में मां या तो बालक के साथ खेले, अथवा उसे कुछ पढ़कर सुनाए। कुछ कहानियां सुनाए, और कोई ऐसा शौक उसमें पैदा कर दे जिसमें बालक की ज्यादा दिलचस्पी हो जाय। इसे मां और बालक दोनों कुछ समय मिलकर करें। मां उसे समझा दे कि यह काम बड़े बच्चों के ही योग्य है। घर में उसे कुछ प्रधानता भी दे दी जाय। यह भी उपयोगी है कि उसे शिशु के सम्बन्ध में कुछ कार्य करने दिया जाय जिससे उसको देख-भाल में वह मां की सहायता करे।

परन्तु यह उसकी अवस्था और सामर्थ्य पर निर्भर है।

बालक को यह भी सुगमता से समझाया जा सकता है कि शिशु से बड़ा होने के कारण वह कई ऐसे काम कर सकता है जिन्हें शिशु अभी नहीं कर सकता। वह शिशु से ज्यादा होशियार और समझदार है।

परन्तु असली समस्या की ठीक-ठीक सीधी व्याख्या उसके सन्मुख करना उचित नहीं। दृष्टान्त के तौर पर उससे ऐसा कहना अत्यन्त अनुचित है कि 'वह शिशु से बड़ा है और शिशु की भांति उसका अभिनय करना अत्यन्त अनुचित और लज्जास्पद है। उसका शिशु की तरह बिस्तर पर पेशाब करना, रोना, चिल्लाना और गुस्से में आपे से बाहर हो जाना बहुत ही उपहासास्पद है।' इस भांति कहने का परिणाम यह होगा कि जो बात हम पैदा करना चाहते है वह सर्वथा नष्ट हो जायगी। हमारा उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि हम बालक में उत्तरोत्तर उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करे जो कि बड़े होने के कारण उसमें उत्पन्न होती ही जानी चाहिए। यह भाव ज्यों ही उसमे पैदा हो जायगा, वह सुधर जायगा।

वह जब कोई काम करे तो हम उसकी तारीफ़ करें और उसकी सहायता करें—यह ऐसे तरीके से कि वह यह समझ ले कि बड़े होने पर बच्चों की इतनी परवाह करनी जरूरी नहीं होती जितनी शिशुओं की। 'बड़ा बालक बड़ा होशियार है और वह बाप की तरह स्वयं ही सब काम ठीक से कर सकता है।' परन्तु ये बाते समझाने मे भी हमे बहुत होशियारी से काम लेना चाहिए। इसमे व्यर्थ अत्युक्ति से भी काम न लेना चाहिए। कहीं ऐसा भी न हो कि बड़े बच्चे मे तो हम बड़प्पन का भाव भरते जायं, और उसके मुकाबले मे निरन्तर बढ़ता हुआ शिशु अपने-आपको बहुत छोटा ख्याल करता जाय। बड़ा बच्चा

बड़प्पन के घमंड में शिशु को बिलकुल निकृष्ट और तुच्छ ही समझने लग जाय—खासकर जब शिशु एक लड़की हो।

प्राय. यह देखा जाता है कि एक लड़का जब पांच-छः वर्षों का होकर स्कूल जाने लगता है, तो वह कुछ समय के लिए छोटी बहिन को बहुत तुच्छ समझने लगता है और उसे हिकारत की नजर से देखता है। उसके साथ ज्यादा देर तक खेलना भी पसन्द नहीं करता।

हमजोलियों के उदाहरण

एक और अत्यन्त रोचक प्रकार का एकीकरण है जो उस समय प्रकट होता है जब बच्चे स्कूल जाने लायक हो जाते हैं। चाहे घर से कुछ घंटे ही उन्हें बाहर रहना पड़े, यह एकीकरण और अनुकरण आरम्भ हो जाता है। बालक अपने समवयस्क बालकों की नकल करने लगते हैं। अपने से जरा बड़े बच्चों का अनुकरण करते हैं। इस प्रकार नये आदर्श और नये पैमाने उनके सामने उपस्थित रहने लगते हैं।

यदि बालकों की उन्नति स्वाभाविक दिशा में हो रही हो तो अब वे अपने समलिंग बालकों अथवा बालिकाओं के संग खेलना चाहेंगे। भले ही इससे पहले घर में लड़के-लड़किया साथ-साथ खेलते रहे हों, परन्तु अब लड़के शिकायत करने लगेंगे कि 'लड़कियां बेवकूफ, मूर्ख और नादान हैं।' और इसके जवाब में लड़कियां शिकायत करेंगी कि "लड़के बड़े 'उजड्ड' और 'बेवकूफ' है।" यह बात विवादास्पद है कि इन परस्पर विरोध के पीछे अपने से अतिरिक्त लिंग वाले व्यक्ति के प्रति स्पर्धा का भाव कहां तक काम करता है। अब लड़के अपने अध्यापकों को बहुत अद्भुत और अनूठा व्यक्ति ख्याल करने

लगते हैं, और लड़कियां अपनी अध्यापिकाओं की ओर झुक पड़ती है।

कुछ समय के लिए घर तथा मां-बाप तो भूल से ही जाते हैं। अब व्यवहार की कसौटी है 'जो कुछ हम स्कूल में करते हैं।' बालक हमें प्रायः अन्य बालक-बालिकाओं के साथ हुई घटनाओं के हाल आ सुनाते हैं। इनमें ज्यादा खेलों में उनके और उनके साथियों के कारनामों की बातें होती हैं। इन खेलों में ही तो बालक अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करते हैं। ऐसा कम ही देखा गया है कि वे गणित-शास्त्र अथवा इतिहास आदि विषयों में किसीके विशेष ज्ञान अथवा योग्यता-प्रदर्शन की प्रशंसा करें।

अब बच्चे नए ही किस्म के कपड़ों की मांग करने लगते है और अपने मां-बाप को यह यकीन दिलाने की कोशिश करते हैं कि दूसरे बच्चे सरदी में भी सिर पर टोपी नहीं रखते और ओवरकोट नहीं ओढ़ते। हमारी लड़कियां अब अपने बाल विशेष रीति से बनवाना और नए-नए प्रकार से उनमें घूंघर निकलवाना पसन्द करती है। बालक-बालिकएं नए फैशन और नई रुचि के अनुसार बनाव-सिंगार के नए-नए अनूठे ढंग सीखते है। नए प्रकार के रंगों की गहरी हलकी छाया वाले वस्त्रों के नमूने कुछ बड़ी लड़कियों (अथवा किसी युवा और रूपवती अध्यापिका) की नकल मे पहनने की रुचि लड़कियों में बड़ी प्रबल होती जाती है। प्रायः ये बड़ी लड़कियां (अथवा अध्यापिका) वह होती हैं जिनकी स्कूल मे आम तौर पर सब लड़कियां तारीफ़ करती है।

इससे यह परिणाम निकला कि हमारे अध्यापक अथवा अध्यापिकाएं ऐसे होने चाहिएं जिनका अनुकरण, हमारी अभि-ला हो कि हमारे बच्चे करें। जो कोई बच्चों की कल्पना को

आकर्षित कर ले, बच्चे उसीको अपने लिए नमूना चुन लेते हैं। बच्चे प्रायः उन व्यक्तियों की ओर आकर्षित होते हैं जिन्हें उन्होंने पहले कभी देखा नहीं होता, अथवा जो उनसे भिन्न प्रकार के होते हैं जिन्हें पहले देखा होता है। ये व्यक्ति शायद वे न हों जिन्हें हम बच्चों के लिए नमूने के तौर पर पसन्द करते, यदि चुनाव बिलकुल हमारे हाथ में ही होता।

स्कूल में बच्चे जिन्हें अपना 'नायक' चुनते है, अथवा लड़कियां जिन्हे 'नायिका' चुन लेती है उनका चुनाव भी उपर्युक्त मनोवृत्ति के अनुसार ही होता है। बालक निरालेपन को पसंद करते है, और उसकी ओर आकर्षित होते हैं। श्रेणी में शरारती बच्चे, नन्हे विद्रोही, जो स्कूल के भीतर और बाहर कोई-न-कोई साहसपूर्ण कृत्य किया करते हैं, जो हमेशा कोई-न-कोई ऊधम और उत्पात मचाते रहते है, कभी मुसीबत मे फंसते और कभी उससे निकलते है, प्रायः ऐसे लड़के अपने स्कूल के साथियों मे अधिक पसंद किये जाते हैं। यह शायद इसलिए कि ये बच्चे हिम्मती और साहसी होते है, जिनका बाकी बच्चे अनुकरण तो करना चाहते है, परन्तु उतना साहस नहीं कर सकते।

इसलिए बाकी बच्चे इन साहसी बालकों की भरपूर प्रशंसा करके ही संतोष कर लेते है, और उनकी विजयों और सफलताओं मे स्वप्नों और दिवास्वप्नों के जरिये भाग लेते हुए उनके साथ मानसिक एकीकरण कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में हम अगले किसी अध्याय मे विशेष चर्चा करेंगे।

इस आयु के बच्चे अपनी श्रेणी के सहपाठियों और अपने हमजोलियों को खुश रखने का जितना प्रयत्न करते है और इसे अपना फर्ज समझते है उतना अपने मां-बाप अथवा शिक्षकों को प्रसन्न रखना आवश्यक नहीं समझते यद्यपि यह प्रवृत्ति उनके कई प्रकार के कष्टों का कारण बन जाती है।

लड़कियां लड़का बनने को उत्सुक

पांच से दस साल के बच्चों में एक और भी प्रवृत्ति पाई जाती है। छोटी लड़कियां अपने भाई, किसी दूसरे लड़के अथवा बाप की नकल करना पसंद करती हैं। वे लड़कों के खेल और किताबें भी पसंद करती हैं, और जब मज़ाक में उन्हें कोई लड़का कहकर पुकारे तो खुशी अनुभव करती है। छुट्टियों के दिनों के लिए लड़की की मां जब उसे लड़कों की तरह की पतलून और पायजामा सिला दे तो वह बहुत ही खुश होती है, और वही पहनने के लिए जिद करती है। वह लड़कों के ही अखबार पढ़ना चाहती है, और फिल्मों में भी अपने सम-वय लड़कों के कारनामों में बहुत रुचि प्रकट करती है।

बालकों में भी कभी-कभी ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जब वह अपनी बहन या दूसरी लड़कियों का अनुकरण करना चाहते है। परन्तु स्कूल जाते ही यह इच्छा दूर हो जाती है। इसके बाद स्पष्टतया लड़कियों के प्रति निरादर और घृणा का भाव आ जाता है।

जो बालक दूसरे लिंग के बालकों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति प्रकट करते है वे प्रायः वे होते हैं जिनके जन्म के समय उनके मां-बाप निराश हुए थे। इस निराशा को भुलाने के लिए बहुत दिनों तक उनके मां-बाप उन्हे ऐसे नामों से पुकारते रहे जो लड़के-लड़कियों दोनों पर लागू हो जाते है; उन्हे ऐसे वस्त्र पहनाते रहे जिनमे उनके लड़का अथवा लड़की होने की पह-चान करना कठिन हो जाता था।

यह बहुत बड़ी भूल है, और भविष्य मे कई प्रकार की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयां उत्पन्न कर देती है। इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ से ही सावधानी से उपाय करना चाहिए।

बच्चों को हमें ऐसी दिशा में प्रेरित करना चाहिए कि उनका एकीकरण उनके अपने लिंग वाले व्यक्तियों के साथ ही रहे। परन्तु जब वे दूसरे लिंग के व्यक्तियों का-सा आचरण करें तो हमें उनका उपहास भी न करना चाहिए। हमें उस अवसर की प्रतीक्षा में रहना चाहिए जब हम उनके सम्मुख उन्हीं के लिंग वाले व्यक्तियों के अधिक आकर्षक उदाहरण पेश कर सकें और उनका सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ जोड़ सकें।

एकीकरण और अनुकरण को उचित दिशा में ले जाने के लिए कहानियों, पुस्तकों और जीवन-वृत्तान्तों की भी सहायता ली जा सकती है। परन्तु यहां भी अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता होती है। बालक सम्भवतः कहानियों में वर्णित किसी व्यक्ति के साथ जीवन-भर का एकीकरण सम्बन्ध स्थापित कर लेगा—चाहे वह मानसिक सम्बन्ध उसके लिए भविष्य में लाभप्रद हो अथवा अत्यन्त हानिकारक।

: ४ :

यह दानव—ईर्ष्या

बच्चे के स्वभाव में अभी-अभी जो कुछ नये परिवर्तन देखने में आये हैं उनका जिक्र करते समय प्रायः मां-बाप कह दिया करते हैं, "हमें पक्का विश्वास है कि यह सब ईर्ष्या के कारण नहीं है, क्योंकि बालक छोटी बहन को तो हद से अधिक प्यार करता है।"

परन्तु यह कोई ठीक कसौटी नहीं है। हम किसी व्यक्ति के अनन्य भक्त और उसके प्रति अनुरक्त होते हुए भी उसके गुणों पर ईर्ष्या कर सकते हैं। बालक अपनी स्पर्धा को प्रकट करने के लिए कई तरीके इस्तेमाल करता है। बालक की मानसिक दशा में कई प्रकार की उथल-पुथल तो घर में नए शिशु के जन्म के साथ ही दृष्टिगोचर होने लगती है। घर में एक नया व्यक्ति मां-बाप का प्रेम-भाजन बनकर आया है। अब तक घर में कई वर्षों से इस बालक की मर्जी चलती थी। घर में इसकी प्रधानता थी। बालक पांच साल का हो अथवा सात वर्ष का भी हो, वह घर में अपनी प्रधानता छोड़ना नहीं चाहता। यह उसे बहुत बड़ा त्याग प्रतीत होता है।

नए शिशु के जन्म की घटना के प्रति मां-बाप के क्या भाव हैं यह भी हमें भूलना न चाहिए। यदि पहले और दूसरे बच्चे के जन्म में कई वर्षों का अन्तर है, तो सम्भव है कि उन्हें यह अन्तर अत्यंत असह्य प्रतीत होता रहा हो। इसलिए जब आखिर

में दूसरे बालकों ने जन्म लिया है तो वे विशेष आह्लाद के साथ उसका स्वागत करते है। वे फूले नही समाते। यह सब बड़े बालक की दृष्टि से छिपा नहीं रह सकता।

यदि पहली संतान लड़की है, और मां-बाप को यह ख्याल हो चला था कि उनके लड़का कोई होगा ही नहीं, तो आप कल्पना कर सकते हैं कि लड़के के उत्पन्न होने की असाधारण खुशी को लड़की किस कष्ट के साथ देखेगी। मां-बाप लड़की की अपेक्षा लड़के की क्यो ज्यादा इच्छा करते है? वह यह भी भांप लेती है कि लड़के मे कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो उसके अन्दर नहीं है। वह समझने लगती है कि इन्हीं विशेषताओ के कारण मां-बाप लड़के को ज्यादा चाहा करते हैं। इसलिए न केवल वह अपने भाई के प्रति ईर्ष्यालु हो जाती है, बल्कि उसके भाई मे जो स्वाभाविक भिन्नताएं और विशेषताएं हैं उनके लिए भी वह स्पर्धा करने लगती है।

जब मां-बाप कष्ट बढ़ा लेते हैं

मां-बाप अपनी मूर्खतावश अपने कष्ट बहुत ही बढ़ा लेते हैं, जब लडकी की उद्विग्नता से खीझकर वे इस प्रकार की बातें उसे कह सुनाते है—'यह तो शिशु से ईर्ष्या करती है नये बालक का जन्म इसे भला प्रतीत नहीं हुआ; घर मे इसका दर्जा पीछे हो गया है, वह इसे असह्य हो रहा है' इत्यादि। जब घर में कोई अभ्यागत आता है तो मां-बाप लडकी की ओर इशारा करके प्राय उसे भी यही बतलाने लगते है—'यह कितनी ईर्ष्या से भरी हुई

बिलकुल प्रकट ही न होने दे; परन्तु छिपी हुई ईर्ष्या अपने छिपने की जगह से भयंकर उत्पात करती है।

एक परिणाम यह हो सकता है कि इस प्रकार अपनी बुराई सुनकर बालिका शिशु से नफरत करने लग जाय—शायद मां के साथ भी उसे नफरत हो जाय, क्योंकि उन्हीं के कारण अभ्यागतों के सामने उसकी बुराई की गई है, और उसका मज़ाक उड़ाया गया है। यदि पहले बालिका शिशु के प्रति स्पर्धालु नहीं थी, केवल दुःखी और निराश थी, तो अब वह मज़ाक के कारण खीझकर स्पर्धालु बन जायगी।

बालिका के दिल में बार-बार इस प्रकार के विचार उठेंगे कि उसके मां-बाप उससे सन्तुष्ट नहीं थे। शिशु के जन्म से भी पहले उसे उन्होंने प्यार करना छोड़ दिया था। वह शायद यह भी सोचे कि लड़के के लिए उनके दिल में लालसा ही इसीलिए उत्पन्न हुई क्योंकि वह लड़की से सन्तुष्ट नहीं थे। ऐसी मनोवृत्ति बन जाने के बाद वह अवसर की तलाश में रहेगी। सम्भव है उसकी बाल-डाह उसे किसी वक्त शिशु को थोड़ा-बहुत नुकसान पहुंचाने के लिए भी विवश कर दे। दृष्टान्त के तौर पर वह उसके उन खिलौनों को तोड़-फोड़ डाले या गुम कर दे जो अभ्यागत शिशु को प्यार से दे गए थे। बिना जाने-बूझे कि वह ऐसा क्यों करती है, वह जब शिशु के पालने के पास से गुज़रेगी, तो उसे हिलाकर अथवा ठोकर लगाकर जायगी, और ऐसी तरह, जिससे शिशु की नींद अनायास उचट जाय।

ईर्ष्या-रोग से प्रभावित बालक के कौन-कौनसे लक्षण हैं? कुछ ऐसे लक्षण हैं जो शिशु के जन्म के तत्काल बाद उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ ऐसे हैं जो तब तक प्रकट नहीं होते जब तक कि दोनों ज़रा बड़े न हो जायं। खासकर, यदि उस
५ भी मां-बाप छोटे बालक को ही ज्यादा पूछें-ताछें, अथवा

छोटे बच्चे को बड़े बच्चे के बराबर का दर्जा दे दें, तो बड़ा बच्चा स्वभावतः यह सोचने पर विवश होता है कि बड़ा होने के कारण उसे जो दर्जा मिलना चाहिए था वह दूसरे बच्चे को दिया जा रहा है, और उसे उसके अधिकार से वंचित किया जा रहा है।

छुटपन में छोटी-से-छोटी बात का भी ज्यादा महत्व होता है। शिशु के सो जाने के कुछ देर बाद सुलाना, कभी-कभी वयस्क व्यक्तियों की सभाओं और क्लबों मे, जलसों और उत्सवों मे ले जाना, शिशु से भिन्न प्रकार के ज़रा अच्छे खिलौने जो बड़े लड़कों के योग्य हों, लेकर देना—ये सब बड़े बच्चे को विश्वास कराने के साधन हैं कि वह घर मे अब कुछ बड़ा है, और बड़प्पन का दर्जा उसे दिया जा रहा है। छोटे बालकों की अपेक्षा विशेषता पाकर बड़ा बच्चा बहुत संतुष्ट होता है।

यदि इस प्रकार की कोई विशेषता भी न की जाय तो बड़ा बच्चा इसे अपने साथ एक अन्याय समझता है। उसे एक ही तो सान्त्वना थी कि वह बड़े होने के कुछ विशेष अधिकारों का उपभोग करेगा। यदि छोटे और बड़े दोनों से एक ही प्रकार का व्यवहार किया जाय तो वह अधिकार उनसे छीन लिया गया। इसके विपरीत छोटे बच्चों को भी यह अप्रिय मालूम होता है। एक प्रकार का कार्य करने अथवा एक ही प्रकार की वस्तुओं का उपयोग करते हुए बड़े की स्वभावतः कुछ प्रधानता तो बन ही जाती है, इससे छोटा बालक बड़े से ईर्ष्या करने लगता है। इनके सम्बन्ध मे आगे विस्तार से लिखेंगे।

नए शिशु के जन्म के साथ बच्चों को पेट-सम्बन्धी कुछ शिकायतें होने लग जाती है। कुछ समय के लिए उनकी भूख मारी जाती है, हालांकि पहले वे हर समय भूख की शिकायत किया करते थे। यह भी सम्भव है कि वे कोई चोट लगवा बैठें, कहीं से गिर पड़ें, ताकि कुछ समय वे बिस्तर पर पड़े रहें, और

इसी दशा मे उनकी सेवा-शुश्रूषा उसी भांति घर मे हो जैसे कि शिशु की हो रही है।

यो भी बालक उस समय पहले का-सा शान्त और सन्तोषी स्वभाव छोड़कर अशान्त और चिड़चिड़ा हो जाता है, रूठा और रोता रहता है। जमीन पर लोट-पोट होकर किसी कोने में जा लेटता है, जहां से न उसकी मां उसे देख सके, और न शिशु, जो कि दोनों उस समय आपस मे प्रेमपूर्वक मजे में बैठे हुए हैं।

नन्हीं 'मां'

ईर्ष्या क्या वस्तु है? दो अथवा ज्यादा व्यक्तियों के बीच मे तीसरे व्यक्ति के आ जाने से पहले व्यक्तियों के प्यार मे बखेड़ा हो जाना ईर्ष्या का मूल है। प्रतिस्पर्धी के व्यवहार मे हमे ऐसे चिह्न दृष्टिगोचर होते है कि हमे यह मालूम होता है कि वह उस प्यार को हमसे छीनकर ले जाना चाहता है जिसे अब तक हम अपना ख्याल करते रहे है। यदि हमारा प्रतिस्पर्धी ऐसा व्यक्ति हो जिसे हम दिल से बहुत प्यार करते है तो हमारी मनोव्यथा बहुत गहरी हो जाती है। यही दशा उस बड़े बालक की होती है, जिसे एक ओर तो शिशु से हार्दिक प्यार है, और दूसरी ओर उसे साफ़ दीख पड़ता है कि शिशु ने मां के प्यार को उससे छीन लिया है—परन्तु इसके बदले मे उसे कुछ भी नहीं दिया।

परन्तु क्या वस्तुतः उसे बदले मे कुछ भी नहीं मिला? कई बार तो बड़ी लड़की सीधे ही बदला लेने पर उतारू हो जाती है, और मां को शिशु के प्यार से वंचित करने का प्रयत्न करने लगती है। अनजाने ही, कुछ इसी प्रकार के उद्देश्य से वह शिशु का सब कार्य स्वयं ही करने लगती है—मानो वह शिशु की [न]न्हीं-सी 'मां' हो।

इस प्यार तथा शिशु की सेवा-शुश्रूषा और अत्यधिक परवाह को कोई संदेह की दृष्टि से नहीं देख सकता, और न कोई यही दोष लगा सकता है कि यह सब कुछ नन्हीं-सी बालिका के हृदय की 'घोर ईर्ष्या' का परिणाम है। इस ईर्ष्या का स्वरूप केवल यह है कि शिशु ने उससे उसकी मां को छीन लिया है। मां से इस बात पर उसे जलन है कि मां के पास तो खेलने और दिल बहलाने के लिए जीता-जागता शिशु है, परन्तु लड़की को खेलने के लिए एक बेजान गुड़िया पकड़ा दी गई है। यदि शिशु लड़का है, तो वह इस बात से और भी जलती है कि शिशु में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो प्राकृतिक तौर पर बालिका में नहीं हैं। उसमें ये विशेषताएं क्यों नहीं हैं? इसके प्राकृतिक कारणों को न समझने के कारण वह इसका दोष भी मन-ही-मन मां के सिर मढ़ती है। मां उसे कम प्यार करती थी, इसलिए उसने ही उसे जन्म देते समय इन विशेषताओं से रहित रहने दिया।

ईर्ष्या के यह सब लक्षण जो प्रारम्भ में घर के छोटे बच्चों के प्रति प्रकट होते हैं, आगे चलकर स्कूल में हमजोलियों और मित्रों के प्रति प्रकट होने लगते हैं। ये बच्चे प्रायः अपने से छोटे बच्चों के प्रति बहुत ही कठोरता से पेश आते हैं। परन्तु इसके विपरीत ऐसा भी होता है, जैसा कि पहले छोटी लड़की के सम्बंध में लिखा जा चुका है—वे छोटे बालकों को अपनी ओर आकर्षित करके अपने आस-पास एकत्र कर लेते हैं, और उनके प्यार को छीनकर वे शिक्षकों तथा अन्य अभिभावकों को उनके प्यार से वंचित करने का प्रयत्न करते हैं, और उन्हें अपने साथ रख-कर बिगाड़ देते हैं।

जो बच्चे उपर्युक्त प्रकार से मां से शिशु के प्यार को छीन-ना लेते हैं, उनकी भावनाओं का क्या हाल होता है? उनके प्रति उनकी मानसिक प्रतिक्रिया क्या होती है? ये प्रश्न प्रस्तुत होते;

है। वे इसे इस बात का प्रमाण समझ लेती है कि बच्चों में ईर्ष्या-भाव बिलकुल नहीं है। इससे उनका बहुत-सा श्रम भी बच जाता है, और जिस समय वह घर में फंसी होती है तो शिशु को बालिका के सुपुर्द करके वे प्रायः निश्चिन्तता अनुभव करने लगती हैं।

परन्तु पीछे से जब शिशु बड़ा हो जाता है, तब जाकर मां को मालूम होता है कि छोटा शिशु बड़े बच्चे के कितना अधिक असर में है, और उसे मां से भी अधिक मानता है। (ऐसा लड़कियों के सम्बंध में अधिक हो जाता है।) इससे मां को एक हल्की आन्तरिक पीड़ा-सी होती है।

हमने पीछे सरसरी तौर पर इशारा किया था कि छोटे बच्चे भी बड़ों से ईर्ष्या कर सकते है। वे प्रायः ऐसा चाहा करते है कि मां-बाप छोटे-बड़े सबसे एक समान व्यवहार करे। बच्चों को प्रायः यह सवाल परेशान किये रहता है कि एक बच्चा दूसरे बच्चे से बड़ा क्यों होता है। वे समझते है कि किसी-न-किसी प्रकार मां-बाप की मरजी ही इसका कारण है।

बालक सोचता है कि अपनी गुड़ियों की उमर निश्चित करना जिस प्रकार उसकी मरजी पर निर्भर है, उसी तरह बच्चों की उमर उनके मां-बाप निश्चित किया करते हैं। मां ही यह फैसला करती है कि कौनसा बालक बड़ा होगा और कौन छोटा। गुड़िया को जैसे कपड़े पहनाये जायं और उसकी जैसी शकल-सूरत बना दी जाय उसीके अनुसार उसकी उमर और लिङ्ग निश्चित हो जाते है।

कभी-कभी छोटी लड़की गुड़ियों की उमर उसी क्रम से निश्चित करती हैं, जिस क्रम से उसे गुड़िया मिली होती है। यही विधि परिवार मे बच्चों के सम्बन्ध मे होती है। इससे वह सोचना शुरू करती हैं—"माताजी और पिताजी को कौन आकर

शिशु दे जाता है ?" परन्तु इस विषय पर हम आगे चलकर किसी अध्याय मे विचार करेंगे, जहां हम बालकों के प्रश्नों पर चर्चा करेंगे। यहां अभी हमें उन्हीं जटिलताओं का विवेचन करना है जिन्हे ईर्ष्या जन्म देती है।

स्कूल में ईर्ष्या

छोटी लड़कियां और छोटे लड़के आम तौर पर किस प्रकार परिवार मे अपने से छोटे अथवा बड़े व्यक्तियों के प्रति अपनी ईर्ष्या-वृत्ति का प्रदर्शन किया करते है, इसका वर्णन हमने ऊपर किया है। हम यह भी कह आए हैं कि जो ईर्ष्या पहले घर के क्षेत्र मे प्रकट होती है, वही पीछे से स्कूल में सहपाठियों और स्कूल के दूसरे व्यक्तियों के प्रति भी प्रकट हो जाती है।

जो बच्चे घर मे इस बात से मन-ही-मन जला करते थे कि उनके माता-पिता उनकी अपेक्षा उनके दूसरे भाई-बहनो को क्यों ज्यादा प्यार करते है, वे अब अपनी इस ईर्ष्या-वृत्ति को स्कूल के क्षेत्र मे भी ले जाते हैं। अब उनकी जलन का कारण उनका यह विश्वास है कि उनके अध्यापक उनकी अपेक्षा दूसरे बालकों को पसन्द करते है। कई बार ईर्ष्या का कारण इतना ही होता है कि उनकी श्रेणी का कोई लड़का या लड़की बच्चे के उस भाई या बहन से शकल-सूरत मे बहुत अधिक मिलता-जुलता है जिससे घर मे बच्चे को द्वेष था। वही द्वेष अब श्रेणी के उस लड़के या लड़की से हो जाता है। इधर मां-बाप का स्थान अध्यापक ने ले लिया है।

यहां सरसरी तौर पर उस द्वेष का भी जिक्र कर दें, जो मां-बाप अध्यापकों से करने लग जाते है। किसी अध्यापक को उनके बच्चे के साथ विशेष प्यार है—बालक जब घर आता है तो व अध्यापक की तारीफ के पुल बांध देता है, उसे प्यार से ...

करता है, तो मां-बाप मन-ही-मन दुखी होते हैं। और यदि बच्चा मां-बाप के सामने उनकी किसी प्रकार की आलोचना करने की मूर्खता कर बैठे, और अध्यापक के साथ उनकी तुलना करते हुए अध्यापक को उनसे बढ़-चढ़कर बतलाने का प्रयत्न करे तो यह उनके लिए असहनीय हो जाता है।

बहुत बार मां-बाप के दिल मे शिक्षकों के प्रति ईर्ष्या का भाव इतना हल्का होता है कि वे उसे भली-भांति अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु उनके मन पर उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता रहता है, और वे अकारण ही बच्चों को उन शिक्षकों के पास से उठा लेने के लिए उतावले हो जाते हैं। अनजाने उनका मन कई प्रकार के बहाने ढूंढ़ता है—स्कूल के सामने वाली सड़क बड़ी खतरनाक है, बच्चे की स्कूल मे कोई उन्नति नहीं हो रही, इत्यादि। बच्चे को आखिर दूसरे स्कूल मे भेज दिया जाता है।

स्कूल में बालक घर से भिन्न प्रकार के नये आदर्श सीख-कर आता है, और इस कारण घर और स्कूल में परस्पर स्पर्धा आरम्भ हो जाती है। बालक स्कूल मे नई-नई बातें सीखता है, और जब घर मे आता है तो उसका दिमाग़ उन्हीं बातों से भरा होता है। वह अपने नये उपार्जित ज्ञान को मां-बाप पर जताने के लिए उत्सुक रहता है। शायद उस ज्ञान से मां-बाप भी स्वयं अनभिज्ञ होते है। इससे उनके मन मे एक प्रकार की खीझ-सी उठती है।

सम्भव है, अध्यापक बालक पर यह ज़ाहिर करने का प्रयत्न करता रहता हो कि वह उसके माता-पिता से अधिक योग्य है और क्योंकि वह उनकी अपेक्षा अधिक विद्वान् है, इसलिए उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा उनसे अधिक है। (अध्यापक की यह वृत्ति कुछ उसी प्रकार की है जैसी हम पहले छोटी लड़की वृत्ति के सम्बन्ध में वर्णन कर आये है, जो शिशु के प्यार

को मां से हटाकर अपने साथ जोड़ने का प्रयत्न करती है और इसमें सफल भी हो जाती है।) बालक अपने भावी जीवन-पथ का चुनाव भी उस शिक्षक के प्रभाव के अधीन होकर करता है। शिक्षक के साथ उसका एकीकरण इस चुनाव में सहायक होता है।

आइये, अब ईर्ष्या के कुछ अन्य पहलुओं पर भी दृष्टिपात करें और देखें कि प्रारम्भ में ही—जिस समय ईर्ष्या अंकुरित होती है, उसका बुद्धिमत्तापूर्वक भली-भांति उपचार न करने से कैसी-कैसी मुश्किलें पैदा हो जाती हैं।

हम पहले भी कह आए हैं कि परिवार में छोटे बच्चे भी बड़ों से द्वेष करने लगते हैं। कारण यह है कि वे मन-ही-मन इस बात से जलते हैं कि घर में बड़ों को क्यों अधिक स्वतन्त्रता, प्रधानता और अधिक अधिकार मिले हुए हैं। बड़ों में सामर्थ्य भी छोटों से अधिक है। एक छोटी-सी लड़की अपनी ही मां के प्रति ईर्ष्यालु होकर शिशु पर सम्पूर्ण अधिकार जमा लेने का प्रयत्न करती है। यदि हम मां-बाप के प्रति बच्चों के व्यवहार पर दृष्टिपात करें तो हमें छोटे बच्चों के दिलों में उठते हुए ईर्ष्या के भावों, और डाह की पीड़ा की गहराई का ज्ञान होगा। शिशु को जब मां नहला रही हो, अथवा दूध पिला रही हो, और बाप मां के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर ले, तो शिशु के मन में बाप के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है और उसे बाप पर गुस्सा आता है। परन्तु ऊपर हम जिस ईर्ष्या का वर्णन करते आए हैं, वह इससे भिन्न प्रकार की, अधिक गहरी और सर्वथा विशेष-विशेष व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली है।

बालक तथा मां-बाप की परस्पर ईर्ष्या

इयां, जिनका कारण और उपाय अभिभावकों की समझ में नहीं आता, इसी ईर्ष्या से उत्पन्न होती हैं। अभिभावक परेशान हो जाते हैं कि करें क्या ? प्रायः बालक अपनी मां पर अधिकार जमाने के लिए अपने बाप से स्पर्धा करने लगता है। परन्तु यह स्थिति उलट भी सकती है। बालक की यह इच्छा हो सकती है कि बाप उसे उसी प्रकार प्यार करे जैसे मां करती है। लड़की बाप से चिढ़ जाती है, क्योंकि वह मां का सारा समय और प्यार अपने ही अधिकार में कर लेना चाहता है।

लड़के-लड़कियां जब मां-बाप को आपस में प्यार करते देखते हैं, और यह देखते हैं कि वे बच्चों से पृथक् एकान्त मे, एक दूसरे का सहवास चाहते है, तो वे इसे बुरा मानते हैं। यदि मां-बाप एकान्त कमरे में इकट्ठे बैठे हों और बच्चे बाहर से आकर देखें कि किवाड़ भीतर से बन्द है, तो उनका सहसा जोर-जोर से रोना-चिल्लाना इस बात की सूचना देता है कि यह बात उन्हें कितनी बुरी और असह्य अनुभव हुई है कि मां-बाप के पास हर समय बेखटके आ-जा सकने का रास्ता बंद कर दिया गया है। इससे मां-बाप की ओर से उन्हें एक प्रकार से यह जतलाया गया है कि तुम्हारी उपस्थिति इस समय अवांछित है।

अभ्यागतों की उपस्थिति भी बहुत बार इसीलिए बच्चों को असह्य हो जाती है। वे मां-बाप का ध्यान अपनी ही ओर आकर्पित कर लेते हैं, और बालक की ओर किसीका ध्यान नहीं रहता। इसीलिए बच्चे अभ्यागतों की उपस्थिति मे बार-बार मां-बाप के पास आकर मिनमिनाते रहते हैं।

कई बार बच्चा रात में सोये-सोये चीख या चिल्ला उठता है, रात को सहसा रो पड़ता है। इस शिकायत का आधार भी बालक के मन में छिपा हुआ वह रोप है, जो प्रायः उस समय अवश्य उत्पन्न होता है जब बालक के सो जाने के बाद मां-बाप आपस

में घुल-मिलकर बातें करते रहें, अथवा अभ्यागतों के साथ काफी रात गए तक गप्पें लड़ाते रहे। रात को उठ-उठकर पानी मांगने अथवा यों ही शिकायत करने और खीझ उठने का प्रायः कारण न जानकर मां-बाप यह समझा करते हैं कि बालक अंधेरे से डर गया है; परन्तु वस्तुतः अधिक हालतों में इसका कारण मां-बाप का उपर्युक्त प्रकार से देर तक बच्चे से अलग रहना ही है।

इसीलिए इस अवसर पर रात को धीमी रोशनी वाले लैम्प मदद नहीं दे सकते। मां-बाप परेशान हो जाते हैं, पर यह नहीं समझ पाते कि इसका मूल वस्तुतः ईर्ष्या में है। यह ज्यादातर पांच साल से ऊपर के बच्चों को आकर सताती है। स्कूल में भेजे जाने पर भी बालक ऐसा व्यवहार करते रहते हैं। स्कूल से अतिरिक्त समय में वे निरन्तर मां-बाप का ध्यान अपनी ओर खींचे रखना चाहते हैं।

मां-बाप के साथ स्पर्धा का एक कारण उनकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता और उनका अधिक ज्ञान है। बालकों को उनका ज्ञान और सामर्थ्य असीम मालूम पड़ते हैं और उनके पास पदार्थों का अक्षय भण्डार भरा पड़ा दिखाई देता है।

इस प्रकार घर और स्कूल में ईर्ष्या और स्पर्धा के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का आप क्या उपाय करेंगे? आपको शायद पहले ही ये बातें तंग कर रही हैं, और आप इनका उपाय जानने के लिए उत्सुक हैं।

करें कि हम स्वयं भी ईर्ष्यालु मनोवृत्ति के व्यक्ति तो नहीं हैं, और कहीं अपने उदाहरण द्वारा हम बच्चों में भी इस वृत्ति को जन्म तो नहीं दे रहे।

ईर्ष्यालु बच्चा भली-भांति आपके काबू में आ जायगा, यदि आप उस वस्तु के अभाव की किसी प्रकार क्षति-पूर्ति कर दें, जिसके अभाव को वह महसूस कर रहा है। उस पर कुछ ज्यादा प्यार जतलावें, जो उसके ज़खमों को भरने में बहुत अधिक सहायक हो सकता है।

ये सब प्रयत्न बच्चों के पालन-पोषण और उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक हैं, क्योंकि ईर्ष्या-वृत्ति यदि इसी प्रकार बढ़ती जाय, तो वह मनुष्य में इतना वैमनस्य और आन्तरिक कष्ट और पीड़ा उत्पन्न कर देती है कि जीवन दूभर हो जाता है।

: ५ :

भय कल्पना और खेल

ऊपर हमने बच्चे के भयभीत हो जाने के कुछ कारणों का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए रात को नींद उचट जाने पर यदि बच्चा मां को अपने समीप नहीं पाता तो वह अपने-आपको अकेला पाकर घबरा उठता है। इसी प्रकार भूख लगने पर खाना मिलने में विलम्ब हो जाय तब भी उसके मन में एक छिपी हुई घबराहट उत्पन्न हो जाती है। यही घबराहट बड़े होने पर जीवनचर्या सम्बन्धी घबराहट का रूप धारण कर लेती है। आजकल अधिकांश लोग अपने जीवन-निर्वाह के सम्बन्ध में अपने-आपको प्रायः अरक्षित पाते हैं, और उसके सम्बन्ध में चिन्तित और भयभीत रहते है। बालक में भी उक्त दशा में इस प्रकार की अरक्षा का हलका-सा भय उत्पन्न हो जाता है।

परन्तु एक बार घर से बाहर की दुनिया से परिचित हो जाने के पश्चात उनके मुख्य-मुख्य भय कौनसे हैं? जिस किसी परिस्थिति में कोई भय का कारण कभी पहले उत्पन्न हो चुका हो, दुबारा वैसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर उस कारण की अनुपस्थिति में भी अकारण उसी प्रकार की घबराहट उत्पन्न हो जायगी और पुरानी भय की दशा लौट आयगी।

इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता कि जिस बात का भय है वह सब कुछ होने वाला भी है अथवा नहीं। शिशु-अवस्था में मां-बाप की अनुपस्थिति का जो भय उसे सताया करता था, अब

भी विशेष अवसरों पर उसे आकर सताया करता है। दृष्टान्त के तौर पर, किसी मेले में मां-बाप की नज़रों से ज़रा देर के लिए ओझल होकर बालक बुरी तरह घबरा उठता है। इसी प्रकार गर्मियों में 'पिकनिक' के लिए जाया जाय, अथवा किसी नये शहर में निवास-गृह से एक दो गलियां हटकर उसे जाना पड़ जाय, और वह थोड़ी देर के लिए रास्ता भूल जाय तो उस समय उसमें इतना धैर्य भी नहीं रह जाता कि ज़रा साहस करके अपने निवास-स्थान तथा अपने अभिभावकों को ढूंढने का प्रयत्न भी करे। वह किसीसे राह तक नहीं पूछ सकता और न किसीको चहल-पहल वाली सड़क से सुरक्षित पार करा देने के लिए कह सकता है। उस वक्त घबराहट में बालक यह समझना शुरू कर देता है कि अब उसके मां-बाप उसे फिर नहीं मिल सकेंगे। वह यह भी सोचता है कि वे उसे वहीं अकेला छोड़कर घर चले जायंगे। वह उस समय उसी प्रकार अपने-आपको खोया हुआ महसूस करता है, जैसा शिशु-अवस्था में अपने-आपको अकेले बिस्तर पर लेटे हुए उसने महसूस किया था, और चौंककर उठ गया था। अब फिर वह उसी प्रकार रोता और चिल्लाता है, इस आशा से कि उसके मां-बाप पहले की तरह आ जायं।

मां-बाप की भयानक धमकियां

ऐसा क्यों हो जाता है? कई बार तो केवल इसलिए होता है कि मां-बाप ने बालक से कभी कोई बात मनवाने के लिए, अथवा उसे सीधा करने के लिए कई प्रकार की धमकियां दे डाली थीं। "देखो, चलते हुए पिछड़ो मत, नहीं तो गुम हो जाओगे;" अथवा, "तुम्हें जब हम बुलावें तभी हमारे समीप आओ;" या "अगर तुम भले लड़कों की तरह आचरण न करोगे,

तो हम तुम्हें पुलिस के सुपुर्द कर देंगे—और वह तुम्हें ताले के भीतर बन्द रखेंगे", इत्यादि।

आखिरी उदाहरण में जिस प्रकार का भय बालक के हृदय में उत्पन्न किया गया है वह बहुत ही खतरनाक है। सम्भव है कि आपके डराने से बालक शरारत से तो रुक जाय, परन्तु पुलिस का भय सारी आयु उसके दिल से न उतर सकेगा। वह उनसे व्यर्थ डरा करेगा। यह भाव धीरे-धीरे नफरत में और बाद में प्रतिहिंसा में बदल जायगा। वह समझा करेगा कि पुलिस वाले उसके स्वाभाविक शत्रु हैं, इसलिए वह अपनी शक्ति-भर उनके सब कानूनों को तोड़ता चला जायगा। कानून तोड़कर वह एक प्रकार से उनके सामर्थ्य को आजमाना चाहता है जिनके नाम-मात्र से उसे डराने के प्रयत्न किये जाते रहे हैं।

जो मां-बाप अथवा अभिभावक इस प्रकार की धमकियां देकर बच्चों को डराते हैं, और इसके साथ ही उनके दिल में अपराधीपन का भाव और सजा का डर उत्पन्न कर देते हैं, वे बालकों की मनोदशा को बिलकुल बिगाड़ देते हैं। सजा अथवा बदला चाहे प्रकृति से सम्भावित हो अथवा मनुष्य से, मानसिक स्वास्थ्य पर उस सम्भावना का बहुत बुरा असर रहता है। कई बच्चे, जो बड़े होकर हमारे लिए कई प्रकार से क्लेश और चिन्ता का कारण बन जाते हैं, और जरा होश सम्भालने

ज़रा सामर्थ्यवान पाकर सज़ाओं की अवज्ञा करने के लिए उसी प्रकार के अपराध करने मे संतोप अनुभव करते हैं।

एक कौतूहल भी उनके मन मे उत्पन्न हो जाता है कि 'आओ, ज़रा देखे तो सही, कि निषिद्ध दिशा मे कितना आगे बढ़ जाने के बाद भगवान् अथवा मनुष्य से सजा मिलती है, और भला क्या सज़ा मिलती है।' अधिकारियों और बड़े बूढ़ों की नज़रों मे खटकते रहने, और भगवान् तथा इन्सान का कोप-भाजन बनने मे ये एक प्रकार का मज़ा-सा महसूस करते है। और इसी अवसर पर लुटेरों और डाकुओं की रोमांचकारी फिल्मे उनकी कल्पना को उसी दिशा मे अधिक उत्तेजित कर देती है। वे उन फिल्मो के नायकों और प्रधान पात्रों के साथ अपना मानसिक एकीकरण स्थापित करके उनका अनुकरण करना आरम्भ कर देते हैं और बिलकुल उन्हीं की तरह बन जाना चाहते है।

कानून और व्यवस्था का पुजारी बनना और समाज मे भलामानस, शिष्ट व भद्र पुरुष बनकर रहना, जैसा कि बचपन से ही सदा उन्हे सिखाया जाता रहा है, उन्हे अत्यन्त अरोचक प्रतीत होता है; यह उन्हें अत्यन्त सीधापन मालूम देता है। इसलिए वे खूब शरारते करने लगते है, ताकि अपने मित्रों से उन्हे प्रशंसा प्रोत्साहन, साधुवाद और सम्मान मिले और बचपन के कठोर नियंत्रण की जंजीरों से उन्हे जल्दी आजादी मिल जाय।

निरर्थक भय-प्रदर्शन की इसके विपरीत दूसरी प्रतिक्रिया यह भी हो सकती है कि बालक भीरु-प्रकृति बन जाय। यह बालक रात के ऐसे दुःस्वप्नों के बाद घण्टों जागते रहते है जिनका मूल केवल उनकी अपराधीपन की भावना ही है। दिन के समय किसी नियम भंग के अपराध की याद स्वप्न मे बालक को सताती है और भयावनी शकलों वाले पुलिस के सिपाही

अथवा यमदूत बालक का बुरी तरह पीछा करके उसे जेलखाने की कोठरी में बन्द कर देते है। बालक का छोटा-सा अपराध इतने डरावने रूप में उसके सम्मुख आ खड़ा होता है।

अपरिचितों का भय

जो बच्चे ज्यादा घर की चारदीवारी में ही रहते हैं और बाहर नहीं निकलते, उन्हे अपरिचितों से भी एक विशेष प्रकार की झिझक होती है; एक भय अथवा संकोच-सा बना रहता है। जिन बच्चों को हमेशा ही मां के आंचल से चिपटे रहने की आदत पड़ जाती है वे बाहर के लोगों से बहुत ही कम संपर्क बना पाते है। ऐसे बच्चो के लिए स्कूल जाना इतना मुसीबत का काम होता हैं कि हम उसका अन्दाजा नहीं लगा सकते। उन्हें मालूम है कि स्कूल मे तो सब अपरिचित-ही-अपरिचित आदमी मिलेंगे।

इन बच्चों मे, स्कूल मे अपरिचित बच्चों के साथ खेलना, या स्कूल में इकट्ठे रहकर काम करना भी घबराहट और संदेह पैदा करता है। स्कूल में आकर इसका इतना गहरा असर बालक के दिल पर होता है कि वह प्रायः रात-भर बिस्तर पर लेटे-लेटे घबराता रहता है, "कल क्या होगा?" बच्चे भी प्रायः अपने सह-पाठियों के साथ बड़े कठोर और बेरहम बन जाते हैं। खास तौर पर उन्हे पता लग जाना चाहिए कि उनका कोई साथी बहुत ही भीरु और कायर है, अथवा बहुत सीधी तबीयत का है, बस वह

में वहुत-कुछ जान सकते हैं। ये खेल उसकी कल्पना और दिवा-स्वप्नों से सम्बन्ध रखते हैं। इनसे हमें यह भी जानने मे सहायता मिलती है कि वह अपने आसपास उपस्थित व्यक्तियों और वस्तुओं के सम्बंध मे क्या कुछ सोचा करता है। साथ ही यह भी मालूम होता है कि वह कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए क्या कुछ करता है। उन मनोरथों को सफल वनाने के लिए भी क्या कुछ करता है जिन्हे वह प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में पूरा नहीं कर पाता।

अकेले आप-से-आप खेलने वाले वच्चों का प्रायः आपको एक काल्पनिक साथी मिलेगा। यह काल्पनिक साथी यदि शरारती और उपद्रवी हो तो वह खेलने वाले वच्चे को ऐसी वाते करने को कहता है और वह खुद भी करता है। यदि वच्चे मे जरा भी साहस की मात्रा हो, तो वह खेल-खेल में वैसा ही कर डालता है। जब घर में कोई वस्तु गुम हो जाय, खराव हो जाय अथवा टूट-फूट जाय, और पूछा जाय, "किसने ऐसा किया है? असुक वालक कहां है?" तो वालक फौरन उस काल्पनिक साथी का नाम ले देता है।

दोनों साथी मिलकर जो कुछ करते है, उसकी कई अद्भुत कहानियां भी सुनाते हैं, जिससे कभी-कभी तो उन्हें उसकी सजा भी मिल जाती है।

कल्पना-जगत् के साहस-पूर्ण कार्य

इस प्रकार की झूठी और काल्पनिक कहानियों के झूठ को वहुत अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। यह सत्य है कि इन्हें सुन-सुनकर मां-वाप और शिक्षकों के मन मे वहुत प्रकार की चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु हमें इतना जान लेना चाहिए हमे यह अन्दाज़ा लगाने में वहुत अधिक

सहायता मिलती है कि हमारे बच्चे जिन्दगी में क्या चाहते हैं, और कौन चीज उन्हें नहीं मिल रही। बालक के भावी कल्याण के लिए आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही उसका मानसिक संतुलन ठीक बिठा दिया जाय, और उसके काल्पनिक मनोरथों के स्थान पर उसकी इच्छा-पूर्ति के वास्तविक साधन उपस्थित किये जायं। ऐसा हो जाने से वह अपनी मानसिक तुष्टि के लिए कल्पना की मनघड़न्त वस्तुओं पर निर्भर न रहेगा, और उन कल्पनाओं का उसके मन पर अधिकार बहुत कम हो जायगा। अपने कारनामों की कल्पित कहानियां सुनाने पर बच्चे की भर्त्सना और प्रताड़ना करते रहने की अपेक्षा उपर्युक्त उपाय अधिक उपयोगी उचित और सरल हैं।

वस्तुतः प्रत्येक बालक अपनी मनोरथ-सृष्टि का नेता तथा नायक हुआ करता है, और अद्भुत प्रकार से खतरनाक और साहसपूर्ण कार्य करके कल्पना-जगत में ही प्रशंसा, धन और यश प्राप्त करने का प्रयास किया करता है। इस प्रकार वह वास्तविक जगत् की रोमांचकारी, शून्य, रूखी और नीरस जिन्दगी की कमियों को पूरा किया करता है। यदि घर अथवा स्कूल में सब कुछ ठीक-ठाक न हो तो मनोरथ-सृष्टि की कल्पनाएं बहुत अधिक होंगी, क्योंकि दिन-भर के काम और खेल में उसे जो अपर्याप्त आनन्द मिला है उसकी क्षति-पूर्ति वह कल्पना से करना चाहता है।

शाली हैं, सामर्थ्यवान है, और उन्हे बहुत अधिक प्यार करते है। कई बार कल्पना इससे उलटी भी होती है जिसमें बालक किसी खानाबदोश औरत का पुत्र है, और उसके वर्तमान अभिभावकों ने तरस खाकर उससे लेकर उसे पाल रखा है। इस बात का ख्याल करके वह एकान्त मे कई बार पड़ा-पड़ा रोया करता है।

इस प्रकार के कथानक हम कहानियों मे प्रायः पढ़ा और सुना करते है। सम्भव है बालक के चित्त पर किसी ऐसी कहानी का प्रभाव हो, परन्तु बालक स्वयं मन से भी ऐसी कल्पना कर सकते है।

बालक की ऐसी कल्पनाएं आरम्भ से कितनी ही विषादपूर्ण हों, आखिर में सुखान्त ही होती है। असली मां-बाप फिर मिल जाते है, परन्तु इसके लिए उसे बड़ा भटकना पड़ता है, और काफी दु:ख झेलने पड़ते है। परन्तु यह मिलन इतना आनन्दपूर्ण और सुखदायक होता है कि पिछले सब कष्टों की क्षति-पूर्ति हो जाती है। कई बार वह कल्पना मे अपने लिए नए मां-बाप अथवा अभिभावक ढूंढ लेता है, जो उसके अन्दर छिपी हुई असाधारण विशेषताओं और उसके अस्फुटित अलौकिक गुणों को पहचानकर उसका भली-भांति पोषण करते है; और अन्त में आज का दु खी और उपेक्षित बालक, संसार का एक अत्यन्त प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और सम्मानित व्यक्ति बन जाता है। तब उसके वर्तमान माता-पिता उसे पहचान पाते है, और अपनी पिछली भूलों पर उन्हे पश्चात्ताप होता है।

कल्पना-सृष्टि का यह स्रष्टा, छोटा-सा बालक, बड़ा होकर प्रायः अच्छा लेखक और कलाकार भी बन सकता है, और अपने छिपे और दबे भावों की अभिव्यक्ति सुसंस्कृत रीति से एक बड़े क्षेत्र मे करने लगता है। इसलिए जिन्हे हम तुच्छ शेखचिल्लीवत्रा ख्याल करके उपेक्षा-भाव दिखलाते है, उनके साथ हमे

अधिक सावधान होकर व्यवहार करना चाहिए, और उनके किस्सों और कल्पनाओं का यूं ही मज़ाक न उड़ा देना चाहिए। इन मनोरथ-सृष्टियों और अद्भुत कल्पनाओं के सम्बन्ध में उनसे बहुत प्रश्न भी न करने चाहिएं, खास तौर पर जब हमे ऐसा प्रतीत हो कि वे अपनी इच्छाओं और मनोरथों को छिपाकर रखने के कारण अपने-आपको अपराधी-सा ख्याल करके कुछ घबरा और डर-से जायगे।

बालक ने अपनी विविध आकांक्षाओं और मनोरथों को जिस हद तक अपराध माना हुआ होता है, उसी हद तक वे मनोरथ उसके खेलों और दिवा-स्वप्नों मे अपनी तुष्टि और पूर्ति के लिए प्रकट होते रहते है। बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, यह प्रक्रिया यान्त्रिक रीति मे बढ़ती जाती है। पांच-छः वर्ष का बालक अपने खेल खुले-आम बहुत मस्त होकर खेलता है, और अपने को खास-खास व्यक्तियों के रूप मे प्रकट करता है। उस समय वह अपने खेल मे दूसरे बच्चों, यहां तक कि वयस्क व्यक्तियो को भी भाग लेने की अनुमति देने को तैयार रहता है।

परन्तु ज़रा बड़ा हो जाने के बाद वह वयस्क व्यक्तियों को अपने खेल मे शामिल नहीं करना चाहता, और केवल बच्चों के साथ ही खेलना पसन्द करता है। यदि वयस्क व्यक्ति उसके समीप आ जाय, अथवा वे उसकी बाते सुनते हों तो बालक संकोच और घबराहट-सी महसूस करते हैं, और खेलते हुए झिझकते है। आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन होने के कारण दिवा स्वप्नों का सम्बन्ध उसके अपने व्यक्तित्व तक ही रहस्यपूर्ण रीति से सीमित रहता है।

दिवा-स्वप्न लेने की आदत

बालक के जीवन मे खेलों की तरह ही दिवा-स्वप्नों का भी स्थान है। परन्तु खेलों मे बालक दूसरे बालकों को भी हिस्सेदार

बना लेता है, परन्तु दिवा-स्वप्नों को वह प्रायः अपने अन्तरंग मित्रों के साथ भी नहीं खोलता और जब बालक बिलकुल एकान्त में हो तभी वे उसके मन पर अधिकार कर लेते हैं। जो बालक प्रायः अकेले रहते है, अथवा शारीरिक दृष्टि से इतने ताक़तवर नहीं होते कि सामूहिक खेलों में भली-भांति भाग ले सकें (भले ही ये खेल स्कूल के जीवन का कितना ही आवश्यक अंग हों, और स्कूल के नियन्त्रण की दृष्टि से उनमें भाग लेना प्रत्येक बालक के लिए आवश्यक हो) वे बालक अपनी निर्बलता और असमर्थता से उत्पन्न मानसिक पीड़ा और असन्तोष से, दिवा-स्वप्नों के जरिये मुक्ति हासिल करते हैं। दिवा-स्वप्नों के लिए सबसे अच्छा अवसर तो उस अमूल्य एकान्त में मिलता है जो बिस्तर में, या लेटने और नींद आ जाने के मध्य में होता है।

जैसा हम पहले ही वर्णन कर आये है, दिवा-स्वप्नों में बड़ी लम्बी-लम्बी कहानियां घड़ी जाती हैं। बालक कल्पना मे वह सब कार्य करता है जो यदि व्यवहार में सम्भव होते तो उसके लिए बड़े आनन्ददायक होते। कई बार दुखी बालक अपने-आप पर ही तरस खाने लग जाता है, और ऐसी कहानियां गढ़ता है, जिनमे अपने मां-बाप तथा शिक्षकों को कोसता है। उसकी कल्पना-कहानी में उसके अभिभावकों को अपनी बेरहमी और तंगदिली का बदला आगे चलकर मिलता है। इस अवस्था में कई बार आत्म-हत्या तक के विचार बालक के मन मे उठते है, और यह ज्यादा इस ख्याल से कि इस दुःखपूर्ण घटना से उसके अभिभावकों को जो गहरी चोट लगेगी, वह उनके लिए एक उचित सजा होगी। इस प्रकार उन्हे सज़ा देकर उसके दुखी हृदय को बड़ी सान्त्वना मिलती है।

दिवा-स्वप्नों मे जब उसके बिलकुल आस-पास रहने वाले व्यक्ति प्रकट होते हैं, तो वह उन विशेष रूपों में प्रकट होते हैं

जैसी उनके सम्बन्ध मे बालक के मन मे धारणा बनी होती है। इन लोगों मे बालक की दृष्टि मे कोई अच्छा है कोई बुरा, किसी से उसे प्रेम है और किसी से सख्त घृणा। इसीके अनुसार कोई अत्याचारी शासक, अथवा सामर्थ्य और प्रभावशाली राजा अथवा रानी, जादूगरनी, डाइन, परी, डाकू इत्यादि विविध रूपों मे प्रकट होते हैं। पुरानी पुराण-गाथाओं और किवदन्तियों में जो अद्भुत प्रकार के वर्णन हम सुना करते हैं, वे सब वस्तुतः पारिवारिक सम्बन्धों और उनसे छुटकारा पाने की साहसपूर्ण कल्पनाओं के ही अनेक प्रकार के विकृत रूप है।

एक बहुत ही रुचिकर कल्पना बच्चे करते है, जिसमें वे ऐसी मनोरथ-सृष्टि की कल्पना करते है जहां वे स्वयं तो वयस्क व्यक्तियों का स्थान ले लेते हैं, और मां बाप और शिक्षक आदि सबको अपने नियन्त्रण मे रखते है।

स्कूल जाने के बहुत शीघ्र बाद बच्चा ऐसे खेल खेलता है, जिसमे स्वयं खेल-खेल मे शिक्षक बन जाता है, और गुड़ियों, पालतू प्राणियों, छोटे दोस्तों अथवा किसी आये हुए वयस्क व्यक्ति को अपना शागिर्द बनाकर मास्टरों की तरह उन पर हुक्म चलाता है। यह छोटा-सा 'शिक्षक' ऐसा अभिनय करने मे बहुत खुशी अनुभव करता है कि वह अपने 'शिष्यों' की छोटी-सी श्रेणी से अधिक ज्ञानवान है, और अपनी आज्ञा शिष्यों से पालन कराने मे अत्यन्त कठोरता से काम लेता है।

यदि हम बालक को इन दिवा-स्वप्नों और मनोरथ-सृष्टियों मे यों ही मग्न रहने दें और बालक को इनके जरिये आत्मा-

धमकाकर स्वप्नों के मार्ग से उनकी आत्माभिव्यक्ति को सर्वथ कुचल डालें तो क्या परिणाम होगा ? हमने जैसे ऊपर कहा है दिवा-स्वप्न और मनोरथ-सृष्टि की अवास्तविकतापूर्ण कल्पनाए भी वस्तुतः एक प्रकार की वास्तविकता लिये हुए है, अर्थात् रे इस वात के संकेत है कि वालक अपने वास्तविक जीवन में अनेक प्रकार की वस्तुओं से वचित ही रहा है। परन्तु यदि हम संकेत ग्रहण न करके उन्हें तुच्छ समझकर दबाने का यत्न करे तो क्या होता है ?

बच्चे के निजी मामलों में विना किसी प्रकार का दखल दिये, उसकी कल्पनाओं की प्रवृत्तियों का बहुत सावधानी से निरीक्षण करना हमारे लिए एक अत्यन्त ही उपयोगी पथप्रदर्शक है। इससे हम यह जान सकते है कि वालक की आवश्यकताएं क्या हैं, उसकी कठिनाइयां क्या हैं, और उसे इस सम्बन्ध में सहा· यता देने का उचित मार्ग कौनसा है। इसके लिए उन कल्पनाओं की रचना और उनके सम्भावित परिणामों को भली-भांति जांच लेना आवश्यक होता है; तभी हम वालक की शिक्षा-दीक्षा और उसके मानसिक विकास के लिए उचित प्रणाली का ठीक-ठीक निश्चय कर सकते हैं। ऐसा करके हम उसकी कुछ प्रवृत्तियों को उभारेंगे, उसे कुछ दिशाओं मे प्रोत्साहन देंगे, और कुछ दूसरी प्रवृत्तियों को नये सिरे से उचित और सुरक्षित मार्गों मे प्रेरित करेंगे—जिस नई दिशा में उसकी समुचित रीति से वृद्धि और विकास होता रहे।

ऊपर हमने कहा है कि कुछ वालक अपनी कल्पनाओं का उपयोग अपने भावी-जीवन के सम्बन्ध में भी करते है, और हम देखते है कि इन दिवा-स्वप्नों और वाल-कल्पनाओं में चित्रित साहसपूर्ण कार्यों, और नये-नये अन्वेषण और खोज-सम्बन्धी महत्वाकांक्षाओं को अपने जीवन मे

है। वे बड़े होकर सफल लेखक, कलाकार, डॉक्टर, सफल व्यापारी अथवा कुशल शिक्षक बन जाते है। परन्तु यदि अपने कल्पना-जगत् मे बालक सदा समाज-हित विरोधी कार्य करते हुए एक समाजद्रोही और अपराधी के रूप में उपस्थित होता रहा है, तो अधिक सम्भव है कि वह अपने भावी-जीवन मे भी, उसी प्रकार के अपराधियों—चोरों, डाकुओ और नर-हत्यारों के दु:साहसपूर्ण कारनामो का, जिनका वर्णन हम प्रायः समाचार-पत्रों मे पढ़ा करते हैं, अनुकरण करेगा, और जीवन में उसी प्रकार का बन जायगा।

परन्तु इस प्रकार अपराधियों के दु:साहसपूर्ण कृत्यों मे रोचकता दिखाने की प्रवृत्ति ऐसी दिशा मे भी प्रेरित की जा सकती है कि वह बालक बड़ा होकर, अपराधियों की कहानियों और उनके सम्बन्ध मे रोमांचकारी घटनाओं को अत्यन्त रोचक ढग से लिखने वाला एक सफल लेखक बन जाय, अथवा कम-से-कम ऐसी कहानियो की पुस्तके पढ़ने और ऐसी तस्वीरें देखने का उसे खास शौक पड जाय।

जब 'स्वप्न' सच्चे सिद्ध होते हैं

और सहानुभूतिपूर्ण चिन्ता का पात्र बन सके; इसके साथ ही अच्छा हो जाने के बाद स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए काफी समय घर पर अथवा किसी स्वास्थ्य-गृह में रखा जाय, जिससे वेलुत्फ और कठोर परिश्रम से उसे छुटकारा मिला रहे। कल्पना का यह कोई बहुत अच्छा और सुखपूर्ण अन्त नहीं कहा जा सकता।

यह भी सम्भव है कि बालक बिलकुल शेखचिल्ली बन जाय। जब उसे अनुभव हो कि कल्पनाओं और दिवा-स्वप्नों से वह पर्याप्त संतोष और सान्त्वना उपलब्ध करता है, और उसके मन का काफी बोझ हलका हो जाता है तो फिर वह इसी पर निर्भर रहना आरम्भ कर देता है। फिर वह जीवन में अपने मनोरथों और महत्वाकांक्षाओं को सार्थक बनाने के लिए कोई प्रयास और प्रयत्न नहीं करता। वह स्कूल के काम में पिछड़ने लगता है। श्रेणी में उसे मूर्ख, सुस्त और पढ़ाई में कमजोर लड़कों में गिना जाने लगता है। उसके सम्बन्ध में उसके अभिभावक शिक्षक और सहपाठी सभी यह धारणा अपने मन में बिठा लेते हैं कि उसकी बुद्धि और मानसिक शक्तियां इस काबिल ही नहीं कि वह अपने सम-वयस्क बालकों के साथ श्रेणी में चल सके।

यदि बालक को कल्पना-जगत् में बैठकर सान्त्वना प्राप्त करने का अभ्यास पड़ गया है तो इससे बालक को किसी प्रकार की चिन्ता अथवा विषाद तो नहीं होता। उलटे, सम्भव है उसे कुछ समय बाद यह वहम होने लगे कि वह बड़े-बड़े विद्वानों और प्रसिद्ध पुरुषों के महत्वपूर्ण कार्यों से बढ़-चढ़कर गौरवपूर्ण कार्य करके दिखा सकता है। इसके साथ ही वह मन-ही-मन शिकायत कर सकता है कि अभी ऐसा कर दिखाने के लिए उसे न समय दिया जा रहा है और न अवसर ही,

परन्तु एक-न-एक दिन वह कुछ करके दिखायगा। बचपन से वह केवल स्वप्न लेने वाला बालक बना रहता है—सम्भवत. उन सब के प्रति ईर्ष्यालु, जिनके सम्बन्ध मे वह समझता है कि उन्हें अनायास ही सफलता-लाभ करने के साधन उपलब्ध हो जाते हैं। वह समझता है कि दूसरो को सफलता इसीलिए मिल जाती है क्योंकि वे बड़ों के कृपा-पात्र हैं, और उन्हे अधिक अच्छे अवसर मिल जाते हैं।

यदि आप अपने बालकों को भली-भांति उचित दिशा में प्रेरित करना और उनका समुचित मार्ग-प्रदर्शन करना चाहते हैं तो ऊपर के वर्णन से आपको अवश्य इस सम्बन्ध मे कुछ संकेत मिल गए होंगे। आपने यह जान लिया होगा कि बालक की मानसिक सृष्टि को भली-भांति जानना, उनके भय, मनोरथों, खेलों और दिवा-स्वप्नों का उनके मानसिक जीवन मे क्या स्थान है इसे भली-भांति समझना, और बालक की उन्नति की दिशा का पता रखना कितना आवश्यक है। आपने समझ लिया होगा कि उसकी अचेत अभिलाषाएं (अनकॉन्शस विशिस) किस प्रकार वृद्धि पाती है. तथा वास्तविक जगत में जिन वस्तुओं के लिए उनका मन तरसा करता है उनकी क्षति-पूर्ति के लिए वह अन्दर-ही-अन्दर कैसे उपायों का निरन्तर आश्रय लिया करता है।

है। वात्सल्य, सहानुभूति और प्यार, खुशी, साहस और उत्साह इत्यादि की हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत अधिक आवश्यकता है। और यदि इनके भली-भांति उपलब्ध न होने के कारण बालक की मनस्तुष्टि पूरी तरह न हो, तो वह उस कमी को दिवा-स्वप्नों और कल्पनाओं के द्वारा पूरा करने का प्रयत्न करता है, यद्यपि इनसे उसकी वास्तविक संतुष्टि नहीं हो सकती।

बालकों की अभिलाषाओं, मनोरथों और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए हमें उन्हें ऐसे अवसर देने चाहिएं जो सामाजिक नियमों की सीमा के भीतर हों और समाज के शिष्टाचार के अनुकूल हों; जिनसे बच्चे प्रसन्न भी रहें और समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में भली-भांति वृद्धि पा सकें। इससे उन्हें वास्तविक जीवन में कोई न्यूनता अथवा क्षति अनुभव ही न होगी और उसकी पूर्ति के लिए उन्हें निरन्तर कल्पना-सृष्टि की शरण न लेनी पड़ेगी।

: ६ :

बालक के मन की कार्य-शैली

बालक की विविध प्रकार की मानसिक दशाओं, कल्पनाओं और आत्माभिव्यक्ति के अनेक मार्गों का हमने पिछले अध्याय मे वर्णन किया है। बालक के मन की कार्य-शैली और उसकी व्यापार-सम्बन्धी चर्चा को जारी रखते हुए अब हम कुछ अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं का वर्णन करना चाहते है। बालक किस प्रकार सोचता और विचारता है? इसी सम्बन्ध मे उसके प्रश्नों पर भी विचार करना अत्यावश्यक है। पांच और दस वर्ष की आयु के मध्य मे बालक के मन मे विविध प्रकार के प्रश्न उठते है और वह अपने आसपास के लोगों से उनके ठीक-ठीक उत्तर जानने के लिए बहुत उत्सुक रहता है। ये प्रश्न उसकी मानसिक प्रगति को सूचित करते है।

अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते है जो यह विश्वास ही नहीं कर सकते कि इतनी छोटी अवस्था के बालकों मे भी विचार-शक्ति उत्पन्न हो सकती है। वे समझते हैं कि बालक जब तक वयस्क व्यक्तियों से समझी जाने वाली भाषा मे अपने भाव प्रकट करने योग्य नहीं हो जाता, उसमे विचार करने की शक्ति ही नहीं होती। यह धारणा गलत है। शिशु-दशा मे भी विचार-धारा तो चला ही करती है, हां वे विचार मानसिक चित्रों, भावोद्वेगों और मानसिक आवेशों के रूप मे ही होते है। इन विचारों को शिशु अपने रोने, और प्रश्न-सूचक निगाहों के जरिए तथा फिर बाद मे शिशु-वाणी मे अस्फुट रूप से बातें करके प्रकट करता है। कई बार

शिशु-वाणी को छुड़ाना कठिन होजाता है हालांकि उसे धीरे-धीरे वयस्क लोगों और बड़े बच्चों की वाणी को अपनाना ही होता है।

जब शिशु पहले-पहल बोलता है

शिशु की प्रथम वाणी प्रायः मां-बाप के लिए अत्यन्त आनन्द-वर्धक होती है। वह जो मौलिक (रुडिमेंटरी) ध्वनियां निकालता है, उनके हम अनुमान द्वारा कुछ अर्थ निकालने का प्रयत्न करते है—शायद उनके अर्थ वह होते नहीं। बच्चा इस बात से खुश होता है कि कुछ नये प्रकार की ध्वनियां निकालने की सामर्थ्य पा सका है। इन ध्वनियों को निकालने के लिए मुख की मांस-पेशियों को जो नए प्रकार के अभ्यास करने पड़ते है, उनको दुहरा-दुहराकर भी वह खुश होता है। प्रतिदिन कोई नई ध्वनि निकालने का तरीका सीखता है और उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह अन्य व्यक्तियों, पशु-पक्षी तथा भौतिक वस्तुओं द्वारा निकाली हुई ध्वनियों की नकल करके किसी हद तक बिलकुल उन्हीं की तरह आवाजें निकाल सकता है। पीछे से उसे उन ध्वनियों के साथ जोड़े हुए अर्थ भी मालूम होते जाते हैं। उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि इस साधन से वह अपनी इच्छाओं और अभिलाषाओं, अपनी रुचि-अरुचि और अनेक प्रकार के भावों को प्रकट कर सकता है; प्रश्न पूछ सकता है, और उनके उत्तर प्राप्त कर सकता है।

यह सब कुछ प्रकट करता है कि शिशु की मानसिक प्रगति नरन्तर जारी है। यदि हम बालक के प्रश्नों का भली-भांति विवेचन करें तो हमें मालूम हो जाता है वह क्या चाहता और क्या सोचता है, और कहां तक ध्वनि-संकेतों के साथ संयुक्त अर्थों को समझता है। जीवन के प्रथम-वर्षों में प्रश्न बहुत

ही सीधे-सादे होते हैं, और किसी एक अभिलाषा को प्रकट करते है। परन्तु पांच या छः वर्ष के अनन्तर दूसरे प्रकार के कई प्रश्न, और अनेक प्रकार की समस्याएं उसके मन पर अधिकार कर लेती है। अब वह अपने प्रश्नों द्वारा अपने आस-पास की वस्तुओं के सम्बन्ध मे अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, जितना कि वह अपने वैयक्तिक अनुभव द्वारा इतनी जल्दी प्राप्त नहीं कर सकता।

वह पूछता है और कोई उसे आवश्यक उत्तर भी दे देता है। धीरे-धीरे वालकों के प्रश्नों से घर के लोग तंग आने लगते है। वालक क्या जानना चाहता है, इसे वह वहुत साफ़ और नपे-तुले शब्दों मे भली-भांति प्रकट नहीं कर सकता। इसलिए सयाने लोग उसके प्रश्न करने पर 'वेवकूफ़' कहकर उसकी भर्त्सना कर देते हैं। कभी उसके प्रश्नों का उपहास करके हंसकर टाल देते है, कभी खीझ उठते है। यदि कहीं उसका प्रश्न अपने अथवा दूसरो के देह, और देह के विविध अङ्गो और उनकी क्रियाओ के सम्बन्ध मे हो तो उसे 'दुष्ट' और 'गंवार' कहकर उसकी विडम्बना की जाती है।

इसका परिणाम यह होता है कि वालक का प्रश्न करने का स्वभाव कुचला जाता है। इस भय से कि उसे उसके प्रश्नो का उत्तर नहीं मिलेगा, वह प्रश्न पूछने मे संकोच करने लगता है; प्रश्न पूछते हुए डरता और झिझकता है। अब वह क्या करता है? जिस प्रकार जगलो मे निवास करने वाला सभ्यता की प्राथमिक अवस्था वाला मानव प्रकृति की कल्पना-शक्ति का आश्रय लेकर उसकी अद्भुत प्रकार से व्याख्या किया करता था, उसी प्रकार वालक कल्पना द्वारा स्वय ही अपने प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने की चेष्टा किया करता है।

अथवा जो कुछ वह जानना चाहता है, उसे जानने के लिए

शिशु-वाणी को छुड़ाना कठिन होजाता है हालांकि उसे धीरे-धीरे वयस्क लोगों और बड़े बच्चों की वाणी को अपनाना ही होता है।

जब शिशु पहले-पहल बोलता है

शिशु की प्रथम वाणी प्रायः मां-बाप के लिए अत्यन्त आनन्द-वर्धक होती है। वह जो मौलिक (रुडिमेंटरी) ध्वनियां निकालता है, उनके हम अनुमान द्वारा कुछ अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं—शायद उनके अर्थ वह होते नहीं। बच्चा इस बात से खुश होता है कि कुछ नये प्रकार की ध्वनियां निकालने की सामर्थ्य पा सका है। इन ध्वनियों को निकालने के लिए मुख की मांस-पेशियों को जो नए प्रकार के अभ्यास करने पड़ते है, उनको दुहरा-दुहराकर भी वह खुश होता है। प्रतिदिन कोई नई ध्वनि निकालने का तरीका सीखता है और उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह अन्य व्यक्तियों, पशु-पक्षी तथा भौतिक वस्तुओं द्वारा निकाली हुई ध्वनियों की नकल करके किसी हद तक बिलकुल उन्हीं की तरह आवाजें निकाल सकता है। पीछे से उसे उन ध्वनियों के साथ जोड़े हुए अर्थ भी मालूम होते जाते हैं। उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि इस साधन से वह अपनी इच्छाओं और अभिलाषाओं; अपनी रुचि-अरुचि और अनेक प्रकार के भावों को प्रकट कर सकता है; प्रश्न पूछ सकता है, और उनके उत्तर प्राप्त कर सकता है।

यह सब कुछ प्रकट करता है कि शिशु की मानसिक प्रगति नरन्तर जारी है। यदि हम बालक के प्रश्नों का भली-भांति विवेचन करें तो हमें मालूम हो जाता है वह क्या चाहता और क्या सोचता है, और कहां तक ध्वनि-संकेतों के साथ संयुक्त अर्थों को समझता है। जीवन के प्रथम-वर्षों में प्रश्न बहुत

ही सीधे-सादे होते हैं, और किसी एक अभिलाषा को प्रकट करते है। परन्तु पांच या छः वर्ष के अनन्तर दूसरे प्रकार के कई प्रश्न, और अनेक प्रकार की समस्याएं उसके मन पर अधिकार कर लेती है। अब वह अपने प्रश्नों द्वारा अपने आस-पास की वस्तुओ के सम्बन्ध मे अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, जितना कि वह अपने वैयक्तिक अनुभव द्वारा इतनी जल्दी प्राप्त नहीं कर सकता।

वह पूछता है और कोई उसे आवश्यक उत्तर भी दे देता है। धीरे-धीरे बालकों के प्रश्नों से घर के लोग तंग आने लगते है। बालक क्या जानना चाहता है, इसे वह बहुत साफ़ और नपे-तुले शब्दों मे भली-भांति प्रकट नहीं कर सकता। इसलिए सयाने लोग उसके प्रश्न करने पर 'बेवकूफ' कहकर उसकी भर्त्सना कर देते हैं। कभी उसके प्रश्नों का उपहास करके हंसकर टाल देते है, कभी खीझ उठते है। यदि कहीं उसका प्रश्न अपने अथवा दूसरों के देह, और देह के विविध अङ्गों और उनकी क्रियाओं के सम्बन्ध मे हो तो उसे 'दुष्ट' और 'गंवार' कहकर उसकी विडम्बना की जाती है।

इसका परिणाम यह होता है कि बालक का प्रश्न करने का स्वभाव कुचला जाता है। इस भय से कि उसे उसके प्रश्नो का उत्तर नहीं मिलेगा, वह प्रश्न पूछने मे संकोच करने लगता है; प्रश्न पूछते हुए डरता और झिझकता है। अब वह क्या करता है? जिस प्रकार जंगलों में निवास करने वाला सभ्यता की प्राथमिक अवस्था वाला मानव प्रकृति की कल्पना-शक्ति का आश्रय लेकर उसकी अद्भुत प्रकार से व्याख्या किया करता था, उसी प्रकार बालक कल्पना द्वारा स्वयं ही अपने प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने की चेष्टा किया करता है।

अथवा जो कुछ वह जानना चाहता है, उसे जानने के लिए

चुपके-चुपके घर के अन्दर और बाहर और इधर-उधर सब कहीं झांकता फिरता है—कभी अलमारियों को खोलता है, कभी मेज की दराजों के अन्दर टटोलता है,और प्रायः मां-बाप की वस्तुओं को उनकी अनुपस्थिति मे उलट-पुलट कर जांचने के अवसर की ताक में रहता है। इससे घर मे स्वभावतः बड़ा क्लेश पैदा होता है। मां-बाप यह तो समझते नहीं कि बालक के प्रश्नों का उत्तर देकर वह इस मुसीबत का इलाज कर सकते हैं; बस, बालक को उसकी इन दुःसाहसपूर्ण अनधिकार चेष्टाओं के लिए डांटते-डपटते और सजा तक दे डालते है। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी जिज्ञासा और भी कुचली जाती है।

जिज्ञासा-वृत्ति और स्कूल

यदि बालक की जिज्ञासा को बहुत अधिक कुचला जाता रहा हो तो उसके मन पर इसका यह प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है कि स्कूल जाने पर वहां के अध्यापक उसे अपनी मरजी से जो कुछ सिखाना चाहते है, वह नहीं सीखना चाहता। जो कुछ जानने की इच्छा स्वाभाविक रीति से उसके मन में उठी थी, वह उसे बतलाया नहीं गया, और जो कुछ उसे बतलाया जा रहा है, उसके लिए सम्भवतः उसके मन मे रत्ती-भर भी स्वाभाविक जिज्ञासा मौजूद नहीं। परिणाम यह होता है कि जब उसे शिक्षक पढ़ाते हैं तो उसका मन अपनी और ही उधेड़-बुन किया करता है, कहीं और घूमता रहता है। अब स्कूल की पढ़ाई मे वह पीछे रहने लगता है, मन्द-बुद्धि और मूर्ख कहलाने लगता है। इस अवस्था में अब वह कोई प्रश्न पूछने लायक ही नहीं रहता; और कभी साहस करके पूछ भी बैठता है तो यह स्पष्ट नहीं कर सकता कि वह पूछना क्या चाहता है। अध्यापक और सहपाठी उसे नितान्त मूर्ख और निर्बुद्धि समझते हैं, परन्तु

वस्तुतः उसका मन निरन्तर तीव्र गति से कार्य कर रहा होता है।

लगभग छः वर्ष की अवस्था मे बालक के मन मे एक महत्व-पूर्ण प्रश्न उठा करता है जो उसकी मानसिक शक्तियों के स्वाभाविक विकास और वृद्धि का सूचक है। प्रायः बालक इस प्रश्न को बहुत स्पष्ट नहीं कर सकता, और जब पूछ बैठता है तो मां-बाप उत्तर देने मे बहुत दिक्कत अनुभव करते है। यह प्रश्न है, "मै क्या हूँ ?" छोटे बच्चे "मै" और "मुझे" शब्द बहुत कम इस्तेमाल करते है। वे प्रायः अपने लिए भी इसी तरह सोचा करते है—"यह राम है" "यह राम को दो।" यह समझने में उन्हें जरा देर लगती है कि 'मैं' और 'मुझे' शब्द को हर कोई अपने-आपको सूचित करने के लिए इस्तेमाल करता है।

"मैं क्या हूँ ?" यह प्रश्न बालक के मन मे कई बार इतने वेग से और अचानक उठता है कि वह इसे सोचकर परेशान हो जाता है। प्रायः बालकों को वह समय और स्थान बहुत समय तक याद रहता है जब और जहां उनके मन में यह प्रश्न उठा था।

कई बालक 'मैं' और 'अपने-आप' में भेद समझते हैं। वे समझते हैं मानो उनका दुहरा व्यक्तित्व है, और वे अपने-आप से बातें किया करते है।

इसके बाद फौरन ही एक नया प्रश्न भी उत्पन्न होता है—"मैं कहां से आया हूं ?" परन्तु यह प्रश्न प्रायः इस प्रश्न के बाद में आता है—"शिशु कहां से आ जाते हैं ?" बालक के मन मे यह प्रश्न बहुत ही आरम्भ मे उत्पन्न हो जाता है, परन्तु उपर्युक्त दोनों प्रश्नों को वह एक साथ जोड़ नहीं सकते।

यदि मां-बाप ने दानिशमन्दी और धैर्य के साथ उनके इन प्रश्नों का भली-भांति उत्तर दे दिया है तो बच्चों को यह समझने में कोई भी कठिनाई न होगी कि वे शिशु-दशा से बढ़ते-बढ़ते

इतने बड़े हो गए हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे घर में नन्हा शिशु धीरे-धीरे बड़ा होता जा रहा है। परन्तु यदि बालक के प्रश्नों का उत्तर न देकर उसे वैसे ही मिथ्या बातों से टाल दिया गया तो अपने सम्बन्ध मे उसका यह प्रश्न बहुत देर तक बार-बार उठेगा, और उसे हैरान करता रहेगा।

बाद मे और भी प्रश्न उठते है, जो मां-बाप को ज्यादा हैरान-परेशान करते है। "मरने के बाद सब लोग कहां चले जाते है ?" "जीवन क्या है ?" "मौत क्या है ?" ये प्रश्न किसी नाती-सम्बन्धी अथवा दोस्त की मृत्यु को देखकर अथवा ऐसा समाचार सुनकर पैदा होते है। मरे हुए पशुओं और पक्षियों को देखकर भी ऐसे प्रश्न उत्पन्न हो जाते है। ये घटनाएं बालक के लिए एक बिलकुल नये प्रकार का अनुभव उपस्थित करती हैं।

किसी छोटे बच्चे की मौत उसे चौंकाकर और भी अधिक इस प्रश्न का हल ढूंढने के लिए उद्विग्न कर देती है। बालक यह तो मान लेते है कि लोग बूढ़े हो जाते है, और फिर मर जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उसके पुराने खिलौने गिरकर टूट जाया करते है, अथवा फेंक दिये जाते हैं। परन्तु बचपन की मौत उसके लिए नई चीज़ है। और यदि एक बालक मर गया तो वह भी मर सकते हैं। वे मरकर कहां जायगे ?

कठिन प्रश्नों का उत्तर

बच्चों के प्रश्नों के उत्तर कैसे देने चाहिएं ? क्या हम सब प्रश्नों के उत्तर दे सकते है ? क्या कुछ ऐसे प्रश्न नहीं होते हैं जिनको भविष्य के लिए छोड़ दिया जाय ? क्योंकि कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध ऐसे विषयों के साथ होता है जो बाल-बुद्धिगम्य नहीं होता। परन्तु हमे समझ लेना चाहिए कि यदि बालक के मन-बुद्धि का विकास इतना हो गया है कि वह

इस प्रकार के प्रश्न निर्माण करके उन्हे पूछ सकता है तो उसे ऐसा सामान्य उत्तर देना कुछ कठिन न होना चाहिए, जो उस की बाल-बुद्धि की पहुंच से बाहर न हो।

वयस्क लोगो मे बालकों के प्रश्नों का उत्तर देने मे जो अनिच्छा पाई जाती है, उसके पीछे एक ग़लत ख्याल होता है कि खास-खास प्रकार की बाते बालकों को तब तक न बतानी चाहिएं जब तक कि वे कुछ और बड़े न हो जायं।

"ज्ञान शक्ति है," "उम्र के साथ अकल आती है," इन कहावतों से हम भली-भांति परिचित हैं। हम 'अदन के बाग़ में ज्ञान-वृक्ष के फल खाने' के कथानक को भी जानते है कि किस प्रकार 'आदम' को उसकी सजा मिली थी।

ये सब बातें हमे यह समझने के लिए प्रेरित किया करती है कि ज्ञान एक खतरनाक वस्तु है, और यदि बालको को उन सब बातों का ज्ञान हो जायगा. जिनका ज्ञान हमे है तो वे भी हमारी बराबरी करने लगेगे जिसे हम सहन नहीं कर सकते। हम अपने अधिक ज्ञान के कारण प्राप्त हुई महत्वशीलता और प्रभुत्व को गंवाना नहीं चाहते।

मां-बाप को ज्ञान-वृद्ध होने के कारण जो महत्व प्राप्त होता है, उससे बालक भली-भांति अभिज्ञ होते हैं, और बालक इसके लिए स्पर्धा भी करते हैं। वे प्राय: उस दिन की प्रतीक्षा मे रहते है जब मां-बाप और शिक्षकों के समान उन्हे भी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक विषय का ज्ञान होगा, जिससे वे भी अपने से छोटे, स्वल्पज्ञान वाले, बालकों की उपस्थिति मे अपना बड़प्पन जता सकेंगे।

यह ज्ञानार्जन की अभिलाषा उन बालकों में बहुत तीव्र हो जाती है जिनके माता-पिता समझदार हैं, और घर पर उनके प्रश्नों के समुचित उत्तर देते रहते हैं। जिनके मां-बाप बालकों

को हर बात में अनभिज्ञ बनाये रखते हैं, उनमें यह बात उत्पन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार के बालक यदि निरन्तर प्रयत्न द्वारा कुछ ज्ञान उपलब्ध कर भी लेते हैं तो उसे यत्नपूर्वक अपने पास सम्भाल कर रखते है, अथवा दूसरे छोटे बच्चों को सिखाने-पढ़ाने के अवसरों की तलाश मे रहते है जहां वह अपने स्वल्प और अपूर्ण ज्ञान का थोड़ा-बहुत प्रदर्शन कर सकें। इस प्रकार के बच्चों से दूसरे बालकों के मां-बाप को स्वभावतः परेशानी हो सकती है, क्योंकि सम्भव है कि उनके कुछ अपने विचार हों और वे कभी नहीं चाहें कि उनके बच्चे इन बच्चों से अधकचरा-सा ज्ञान उपलब्ध करके मार्ग-भ्रष्ट हो जायं।

एक बात और जिससे मां-बाप बालकों के प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर देने में संकोच करते है यह होती है कि बालकों के प्रश्नों का सही-सही उत्तर ऐसा न हो जो आस-पड़ोस वालों की धारणाओं और रुचियों के विपरीत हो, और इससे कहीं वे उनमें अप्रिय न बन जायं। ऐसे व्यक्तियों के लिए निम्नलिखित योजना उचित रहेगी। ज्यों ही प्रश्न उत्पन्न हो उसका सीधा-सरल उत्तर देने मे जरा भी संकोच न करे। यदि आप तत्काल उत्तर न देकर संकोच में फस जायगे, तो बालक के मन पर इसका यह प्रभाव पड़ेगा कि वह प्रश्न कोई असाधारण और उत्तेजनापूर्ण है। परन्तु यदि आप उस पर सामान्य स्वाभाविक रीति से बातचीत करेंगे तो बालक भी उस विषय को उसी भाव से ग्रहण करेगा।

शिशुओं के जन्म के सम्बन्ध में जितना शीघ्र बालकों को मालूम हो जाय, वह उस ज्ञान को उतना ही उत्तेजनारहित स्वाभाविक रीति से ग्रहण कर लेते है, क्योंकि उस आयु तक उनमें कुछ असाधारण अचम्भे की बात अथवा उत्तेजना अनुभव करने की सम्भावना नहीं होती जो बड़े होने पर हो जाती है।

यही बात बाल-बालिकाओं के लिंग-भेद सम्बन्धी ज्ञान के विषय मे है। यही बच्चों और बड़ों के भेद के विषय मे भी। ऐसा करने से बालक इस विषयक ज्ञान को परस्पर गुप्त और रहस्य-पूर्ण रीति से एक-दूसरे मे वितरण करने के लिए उत्सुक न रहेगे, और इन विषयक ज्ञान को कोई अद्भुत और गोपनीय वस्तु न समझेगे।

तथापि इतना हम बच्चों को समझा सकते है, और यह बात हमे बुद्धिमत्तापूर्वक बड़ी सावधानी से समझानी आनी चाहिए, कि यह लिंग-भेद आदि विषय समाज मे आम चर्चा करने के विषय नहीं समझे जाते, और समाज के शिष्टाचार के अनुसार इनको अपने तक ही सीमित रखना होता है।

उत्तर न देने से खतरा

जैसा ऊपर कहा गया है, यदि बालक को यह अनुभव हो जाय कि उससे कुछ छिपाया जा रहा है तो उसे झांकते फिरने और चुपके-चुपके बाते मालूम करने की आदत पड़ जाती है। मां-बाप और अपने से बड़ों से लुक-छिपकर कार्य करने और चोरी आदि की आदत का आरम्भ बहुत दफा यहीं से हो जाता है। मां-बाप जब बालक से कुछ छिपाते हैं तो बालक जिस जिज्ञासा की पूर्ति से वंचित हो जाता है उसके बदले क्षति-पूर्ति चाहता है। यह विचित्र तो प्रतीत होगा, परन्तु "क्लेप्टोमेनिया" नामी बीमारी का जन्म बहुत बार इसी से होता है। इस बीमारी मे मरीज रात को उठता है, और अपनी या दूसरों की जो चीजें उसकी निगाह मे आती है उन्हे छिपा देता है।

उत्तर न देने के और भी कई तरह के भयंकर परिणाम हो सकते हैं। यदि हम बच्चों को अपने और दूसरे बच्चों के देह और उनके अंगों के सम्बन्ध मे जानने की अनुमति नहीं देते,

तो बच्चे उस जिज्ञासा को गुप्त रीति से एक दूसरे के शरीर की देख-भाल करके पूरा करने का यत्न करते हैं। उदाहरण के तौर पर वे ऐसे खेल खेलेंगे जिसमे एक लड़का डॉक्टर बन जाता है, और बाकी बालकों को मरीज बनाकर वह उनके अंगों का निरीक्षण करता है। सयाने लोग बालक की इन प्रवृत्तियों को देखकर चिन्ता मे डूब जाते हैं। वे इन लक्षणों को बालक के चरित्रहीन होने का निःसंदिग्ध लक्षण समझकर बहुत घबरा जाते है।

दुर्भाग्य से मां-बाप यह नहीं समझ पाते कि उनके नन्हे बालक अथवा बालिका के मन मे ऐसे विषय की वाकफियत हासिल करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई है जिस विषय का ज्ञान वे मां-बाप अथवा शिक्षक के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति से सुरक्षित रूप से प्राप्त नहीं कर सकते। यह वाकफियत हासिल करने की इच्छा सर्वथा स्वाभाविक और उचित है। जब तक हम ही इस जिज्ञासा को अपनी मूर्खता और अज्ञानवश शरारत से भरी, शिष्टाचारहीन और अवांछित नहीं बना देते, बालक उसे उसी प्रकार निर्दोष ख्याल करता है जिस प्रकार किसी अन्य विषय की जिज्ञासा को दोष रहित समझता है। उसे अपनी जिज्ञासा के विषयों मे किसी भी प्रकार का भेद दिखाई नहीं देता।

कई विषयों की चर्चा अथवा उनके विचार तक को हम बालकों के लिए अपराधपूर्ण बना देते हैं। परन्तु ऐसा करके हम बालक की नजरों मे उस विषय के महत्व को बहुत बढ़ा देते हैं, और उस विषयक उसकी ज्ञान-पिपासा को बहुत तीव्र कर देते है। परिणाम यह होता है कि इस विषय के साथ एक प्रकार का प्रतिरोध (इनहिबीशन) का भाव जुड़ जाता है, और उसके मन मे इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली सब बातों से एक प्रकार

का अनुचित भय-सा उत्पन्न हो जाता है। उसका मन बरबस उस विषय की ओर बार-बार खिंचता है, और वह उससे दूर-ही-दूर भागने का प्रयत्न करता है।

विचार स्वातंत्र्य

आज हमें अपने विचार-स्वातन्त्र्य पर गर्व है। परन्तु क्या हम बालकों को इसका पूरा उपभोग करने का अवसर देते हैं? बालकों के प्रश्नो के सम्बन्ध मे औसत दरजे के मां-बाप की कैसी वृत्ति रहती है इसका हमने ऊपर वर्णन किया है। उससे यह तो स्पष्ट ही है कि हम बालको को विचारों की वैसी स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करते जिस पर स्वयं हमे इतना गर्व है।

फिर भी बालकों से अनेक प्रकार के यथेच्छ प्रश्न करने मे हम अपने-आपको बिलकुल हकदार मानते है, और हमारी यही धारणा है कि जो कुछ हम पूछे, उसका तत्काल ठीक-ठीक उत्तर देना बालक का कर्तव्य है। यदि वह हमारे किसी प्रश्न का उत्तर न देना चाहे, अथवा उत्तर देने मे संकोच और झिझक-सी महसूस करे तो उसे उत्तर देने के लिए हर तरह से मजबूर करते हुए हम कभी इस बात का ध्यान नहीं रखते कि ऐसा करने से हम उसके प्रति उचित सम्मान प्रदर्शन नहीं कर रहे होते, अथवा सामाजिक शिष्टाचार के उन नियमों का उल्लंघन कर रहे होते है, जिनके पालन की हम सदा उससे आशा किया करते हैं।

हम अपना यह अधिकार मानते है कि बालक के मन के अत्यन्त गोपनीय रहस्यों का भेद भी हम लें। उसकी कल्पनाओं और हृदय के गुप्त भेदों को भली-भांति जाने, भले ही वह उन्हे गुप्त रखने के लिए कितनी जिद करे। अपने हृदय की बातों को छिपाकर रखना हम उसके लिए एक अपराध समझते है, और ऐसा समझते हैं कि वह क्यों हमसे ऐसी बाते छिपा

रहा है जिन्हें जानने का हमें पूरा-पूरा अधिकार है। क्या, जब हम उसे उसके प्रश्नों का भली-भांति उत्तर नहीं दे रहे होते, उससे अनेक बातें छिपा रहे होते है, तो हम भी वैसा अपराध नहीं कर रहे होते? हम कभी इस बात को इस ढंग से नहीं सोचते।

हम अपने पैने रहस्योद्भेदक प्रश्नों द्वारा बालक के दिल को टटोलने का कई प्रकार से यत्न करते है, और बालक अनेक तरकीबों से उत्तर देने से बचना चाहता है। परिणाम यह होता है कि उत्तर देने मे टालमटोल करने के कारण वह अपराधी होने का सन्देह-भाजन बन जाता है। हम समझते हैं कि उसके टालमटोल करने की वजह यही है।

कभी-कभी हम उसे ऐसी मुश्किल में डाल देते हैं कि वह बस इतना कहकर छुटकारा पाने की चेष्टा करता है कि "मुझे याद नहीं रहा।" प्रारम्भ मे सम्भवतः उसे सचमुच यह बात भूली हुई हो, और वह बहाना न लगाता हो। परन्तु एक-दो बार इस तरकीब से सफलतापूर्वक छुटकारा पा लेने के बाद वह इसे अपने छूटने के लिए हमेशा का बहाना बना लेता है। कभी-कभी तो सचमुच ही स्मृति कमजोर हो जाती है, और उसके बचाव के लिए विस्मृति का पर्दा उसकी सहायता करने के लिए आ गिरता है।

बालक जब विचार-मग्न हो

सयाने लोग बच्चों को बिना कुछ किये चुपचाप अकेला बैठा देखकर प्रायः घबरा उठते हैं। वे यह नहीं समझ सकते कि बालक भी कभी एकान्त मे बैठकर कुछ सोचते रहने की चाह रख सकता है। और इसलिए सयाने लोग यह प्रयत्न करते हैं कि बालक को ऐसे एकान्त से उठाकर खेलने भेज दे अथवा उसे चलकर पढ़ने के लिए कहें। मतलब यह है कि वह कुछ-न-कुछ

करता रहे, और अकेला बैठता सोचता ही न रहे।

बालक को विचार-मग्न देखकर वे डर-से जाते है। क्या वे यह समझते है कि विचार करने का अधिकार केवल वयस्क व्यक्तियो को ही है? अथवा उन्हें सन्देह हो रहा है कि बालक उन्हींके सम्बन्ध में कुछ सोचता होगा और उन्हें कई बातों मे हलका ख्याल कर रहा होगा। सयाने लोग यह पसन्द नहीं करते कि बालक उनकी बहुत अधिक आलोचना करता रहा करे; अथवा जो कुछ वे उसे करने को कहे उसका मुकाबला उसके साथ करे जो कुछ वे स्वयं पहले कर रहे होते हैं। बड़े बजुर्ग अत्यन्त भयभीत हो जाते है यदि उन्हें मालूम हो कि बालक अपने भविष्य के सम्बन्ध में कुछ सोचा करता है। उन्हे भय रहता है कि कहीं वह अपनी उन अभिलाषाओं और महत्वा-कांक्षाओं को कार्यान्वित करने की योजनाएं तो नहीं बना रहा जिनकी उन्होंने उसे कभी स्वीकृति नहीं दी। वे डरते हैं कि बालक यदि इसी प्रकार के दिवा-स्वप्नों में बहुत उलझा रहेगा तो न जाने वे उसे कहां ले जायं।

वे उसके इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सकते—"मै कौन हूं?" जिस बालक को उन्होंने जन्म दिया है, जिसे उन्होंने भली-भांति शिक्षा-दीक्षा दी है, वह भावी जीवन मे क्या कुछ बन जाने वाला है? कैसी-कैसी आशाएं और उमंगें उसके मन मे छिपी हुई हैं? और कैसे-कैसे विचार दिन-रात उसके दिमाग में चक्कर लगाते रहते हैं?

वह एक नया ही प्राणी है। कई बार उसके अभिभावक उससे एक प्रकार का संकोच-सा करते है। यह खेदजनक है। क्योंकि इसके कारण बालक और उसके अभिभावकों का परस्पर सम्पर्क और विचार-विनिमय और प्रेम-परिचय भली-भांति नहीं हो पाता, हालांकि यह होना उन सबकी मानसिक

और परस्पर एक-दूसरे में दिलचस्पी को बढ़ाता है। यह वर्त-
मान और भविष्य में उनके जीवन को सुखी और भाग्यशाली
बना देता है।

हमारा कर्तव्य है कि हम बालक के जीवन में वात्सल्यपूर्ण
दिलचस्पी लेकर उसके भावों और विचारों के साथ सम्पर्क
बनाए रखे। परन्तु इस विषय मे सावधान रहे कि उसकी भाव-
नाओं और कल्पनाओं की यात्रा मे किसी प्रकार की कोई रुकावट
हमारी ओर से उपस्थित न हो। हम यदि निरन्तर उसके सम्पर्क
में रहेंगे तो हमारे लिए उसे दूर भटक जाने से बचाना अधिक
आसान होगा और जब कभी वह भटक भी जायगा तो हम
उसे वहां से लौटाने में सफल हो जायंगे, जिस कल्पना-सृष्टि से
लौटना प्रायः असम्भव हो जाता है। बड़े हो जाने पर भी कई
लोग प्रायः इसी कल्पना-जगत् मे ही लड़कपन की कल्पनाओं का
रस लिया करते है, और वहां से जवानी के कभी न खत्म होने
वाले प्रश्नों का उत्तर प्राप्त किया करते है।

राजकमल मनोविज्ञान माला

की पुस्तकें

१. बचपन के पहले पांच साल
२. हीन-भाव
३. बचपन (पांच से दस साल)
४. हमारे जीवन का अर्थ (भाग एक)
५. प्रेम और विवाह
६. हमारे जीवन का अर्थ (भाग दो)
७. व्यक्तित्व
८. स्मरण-शक्ति
९ मित्र बनाने की कला
१०. हमारे जीवन का अर्थ (भाग तीन)
११. अध्ययन कैसे करें
१२. हमारे जीवन का अर्थ (भाग चार)
१३. चिन्ता
१४. हमारे जीवन का अर्थ (भाग पांच)

२

हीन-भाव

उसका विश्लेषण और उपचार

डब्ल्यू. जे. मैकआईड

यदि आप अपने सामाजिक जीवन में किसी प्रकार की आन्तरिक
दुविधा अनुभव करते हैं तो आपके लिए यह
पुस्तक पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है।

हीन-भाव

[उसका विश्लेषण और उपचार]

लेखक

डब्ल्यू. जे. मैकब्राईड

अनुवादक

श्री. जी. पी. सिंह

दिल्ली

राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड

क्रम

प्रस्तावना

हीन-भाव (इनफीरियारिटी कॉम्प्लेक्स) आजकल का एक प्रचलित शब्द बन गया है। अक्सर लोग ठीक-ठीक अर्थ समझे बग़ैर भी इस शब्द का प्रयोग करते रहते हैं। लेकिन आम तौर पर इनका मतलब एक ठोस प्रवृत्ति की जगह पर मनुष्य के उस निषेधात्मक दृष्टिकोण से होता है जो उसके जीवन की गति को धन-पक्ष के बजाय ऋण-पक्ष में मोड़ देता है। इस विचार से प्रचलित मनोविज्ञान का यह प्रयोग ठीक ही है, क्योंकि वस्तुतः हीन-भाव का अर्थ भी यही होता है। इसके अन्तर्गत व्यक्तित्व के वे सभी लक्षण आ जाते हैं, जिन्हें देखने से पता चले कि व्यक्ति को अपने पर पूरा भरोसा नहीं है, या वह किसी अपूर्णता, असमर्थता या निरुत्साह की भावना से संतप्त है।

वियना के डॉक्टर फ्रायड ने, जिन्होंने यह शब्द प्रचलित किया है, इसका प्रयोग उन निषेधात्मक भावों की व्याख्या करने में किया है जो मनुष्य की जननेन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले किसी दोष या कमज़ोरी के बोध से उत्पन्न होते हैं। फ्रायड के अनुसार जीवन का आधार स्त्री-पुरुष की काम-वृत्ति (सैक्स) ही है और जब इस काम-प्रेरणा (लिबिडो) की पूर्ति के मार्ग में बाधा पड़ जाती है तो व्यक्ति को एक प्रकार की

अनुभव होने लगता है। इस अनुभव से सम्बन्ध रखने वाली पीड़ित भावना दबकर अबोध चेतना (अनकॉशस माइण्ड) में समा जाती है। हीन-भाव या असफलता की भावना इसी का फल है।

परन्तु इसके विपरीत, डॉक्टर ऑडलर ने, जो कुछ समय तक फ़्रायड के शिष्य थे, इस बात को सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के जन्म और पालन-पोषण की परिस्थितियों से भी हीन-भाव की ज़बरदस्त सम्भावना होती है। यानी इन भावों के उत्पन्न हो जाने के ऐसे अनेक तरीके हैं जिनका काम-वृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए यदि किसी बालक की आँखों में तिरछापन आ जाय और उसके स्कूल के साथी निर्दयता पूर्वक उसे इस पर चिढ़ाते रहें, तो इस अपमान से उत्पन्न हीन-भाव उसकी प्रौढ़ावस्था तक बना रह सकता है। सयाना होने पर इस बालक की प्रवृत्ति लोगों से दूर रहने की बन जायगी, क्योंकि उनसे उसे हमेशा आलोचना और निन्दा ही मिलती रही है। एकान्तप्रिय वैरागी, और वह व्यक्ति जो अपने साथियों से अलग रहता है—दोनों ही—किसी चोट पहुँचाने वाले अनुभव से उत्पन्न हीन-भाव के बोझ से दबे हुए हैं, और यही कारण है कि वे दुनिया से उदासीन हैं। इस तरह हम देखते हैं कि व्यक्ति-मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक अनुभव, जो किसी व्यक्ति का आत्म-सम्मान छीन लेता है, इस भाव के विकास का कारण है और मनुष्य को समाज का एक विकृत-मानस प्राणी बना देता है।

हीनता का मूल भय है। अतएव यदि व्यक्ति ने किसी दूषित

या दबाने वाले अनुभव के फल स्वरूप भय का दृष्टिकोण विकसित कर लिया है तो जीवन के प्रति उसकी सारी प्रवृत्ति ही निषेधात्मक बन जायगी। कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसा व्यक्ति बजाय इस बात के कि वह विश्वास के साथ पूर्ण आत्म-निर्भरता और परिपक्वता की तरफ आगे बढ़े, बचपन की सुरक्षा और आराम की तरफ लौटना आरम्भ कर देगा। बचपन के दिनों में न तो उसे कोई निर्णय करना था और न कोई जिम्मेदारी उठानी थी। और अब चूँकि उसका मन भयभीत है, वह पुनः उसी बचपन की अवस्था में लौटकर आ जाना चाहता है। अनेक लोगों में सयाना हो जाने पर भी जो हम बच्चों की-सी आदतें देखते हैं या आज के दृष्टिकोण में जो हम सामान्य अपरिपक्वता देखते हैं उसकी व्याख्या यही है।

इस प्रकार के भय से पीड़ित व्यक्ति बचपन के शान्तिमय जीवन में ही न लौट जाना चाहेगा, वरन किसी प्रकार की भी कठोर परिस्थिति का सामना करने में हिचकता रहेगा। उसके जीवन का कोई स्थिर या निश्चित उद्देश्य न होगा; उसे अपनी शक्तियों पर से विश्वास हट जायगा, जीवन से एकदम निराश होकर वह शराबखोरी, पराश्रय और जुए का आश्रय लेना हुआ दिखाई पड़ेगा।

दूसरी तरफ, यदि वह व्यक्ति हठ-प्रवेशक या जबरदस्ती करने वाला (अग्रेसिव) हुआ तो झूठी डींग मारना, हर बात पर जरूरत से ज्यादा जोर देना, अत्युक्ति करना तथा 'गोलीवाद'

के जितने भी इस तरह के लक्षण होते हैं, उन सबका सहारा लेकर अपने हीन-भाव को छिपाने का प्रयत्न करेगा। यह सभी आचरण अपूर्णता की किसी गहरी भावना के ऊपरी लक्षण हैं।

आगे आने वाले परिच्छेदों में हमने हीन-भाव (इनफीरियारिटी कॉम्प्लेक्स) और हीनता की भावना (इनफीरियारिटी फ़ीलिंग) में स्पष्टता के खयाल से थोड़ा अन्तर करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करना बहुत उचित नहीं, फिर भी विषय को जहाँ तक हो सके आसान बनाने के विचार से ही हमने यह प्रयत्न किया है। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि कुछ लोगों पर इस निषेधात्मक प्रवृत्ति का असर बहुत मामूली होता है, जब कि अनुभव की तीव्रता और स्थायित्व के कारण औरों के विचारों तथा कार्यों पर भी इसका प्रभुत्व दिखाई पड़ता है।

इस बात को हमें मान लेना पड़ेगा कि अपूर्णता और हीनता की भावना कुछ-न-कुछ अंश में सर्व-व्यापी है। कोई इससे बचा नहीं है। हर आदमी किसी-न-किसी समय इसका अनुभव करता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि अपूर्णता और हीनता के इन भावों से उन्नति करने की प्रेरणा भी प्राप्त होती है और यह जीवन के प्रत्येक विभाग के लिए सही है। अगर हम किसी-न-किसी के मुकाबिले अपने को हीन न महसूस करें तो शायद हमारा विकास ही रुक जाय और उन्नति करके और आगे बढ़ने की प्रेरणा ही समाप्त हो जाय।

असली दिक्कत तब पैदा होती है जब हम इन भावों को अपने ऊपर इतना हावी हो जाने देते हैं कि साहस और महत्त्वाकांक्षा की भावनाएं इनके नीचे दब जाती हैं। और जैसा कि हम जानते हैं ऐसे लोगों की संख्या काफी बड़ी है जो किसी दूषित अनुभव या ग़लत शिक्षा के कारण इन विकृत भावों के शिकार हो जाते हैं और अनेक प्रयत्न करके भी इनसे निकल नहीं पाते। ऐसे लोगों की संख्या हमारे अनुमान से कहीं बहुत अधिक है। और यही कारण है कि वह दिन बहुत दूर नहीं, जब एक ऐसे पेशे के लोग निकलेंगे, जिन्हें मस्तिष्क के विकारों और बीमारियों को समझने में उतना ही कौशल प्राप्त होगा जितना कि वर्त्तमान डॉक्टरी पेशे वालों को शरीर और उसके विकारों का है। इस प्रकार की कुशल सहायता की सख्त जरूरत है, इसे हम यह देख-कर समझ सकते हैं कि आज हमारे चारों तरफ ऐसे लोगों की भीड़ लगी रहती है जो मस्तिष्क से लँगड़े और जीवन से बेतरह निराश होते हैं।

/

१

हीन-भाव का आधार

लोग अधिकाधिक इस बात को मानने लगे हैं कि व्यक्ति के भावी जीवन और चरित्र को निर्धारित करने में उसके/बचपन के मानसिक अनुभवों का काफी हाथ होता है। यह कहना असत्य न होगा कि बाद के जीवन में उसका मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य अथवा अस्वास्थ्य बहुत-कुछ इन्हीं अनुभवों पर निर्भर रहता है।

बचपन के प्रथम वर्षों में ही बालक के जीवन की रूप-रेखा तैयार हो जाती है। पालना छोड़ने के पहले ही वह बन या बिगड़ चुका होता है। इस निर्विवाद सत्य के पीछे प्रकृति का वह नियम है जिसके अनुसार वृक्ष का कोमल पौधा जिधर को मोड़ दिया जाय, उसी दिशा में बढ़ने लगता है। विकास का यह नियम मानव-मस्तिष्क पर भी इतना ही लागू होता है। बचपन के आरम्भिक दिनों में ही बालक के भावात्मक (एमोशनल) जीवन की रचना हो चुकती है। उसे दो प्रकार की परिस्थितियों का सामना करने की सम्भावना रहती है। यदि समझदार माता-पिता के हाथों उसे उचित मात्रा में स्नेह मिल सका तो वह अपने को सुरक्षित अनुभव करेगा, परन्तु यदि आवश्यकता

लाड़-प्यार करके बालक की सामान्य अवस्था भंग कर दी गई तो वह अपने को अरक्षित समझने लगेगा। परिस्थितियों की इस अनुकूलता या प्रतिकूलता के अनुसार ही वह सीखता है कि उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रोने की जरूरत है या उसके आस-पास कोई ऐसा व्यक्ति मौजूद रहता है जो बिना रोये भी उसकी आवश्यकता को समझ लेता है। बचपन की इन तथा ऐसी ही अन्य अनेक बातों का बालक के कोमल मस्तिष्क पर ऐसा अमिट निशान बन जाता है, जो उसकी किशोर तथा प्रौढ़ा-वस्था तक बना रहता है।

बालक का बचपन किस परिस्थिति विशेष में व्यतीत होता है, उसे किस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, या उसकी शिक्षा में क्या विशेषता होती है, इन्हीं बातों पर प्रौढ़ावस्था में प्रगट होने वाली हीन-भावना का स्वरूप निर्भर रहता है। आइए, अलग-अलग इनका विश्लेषण करें।

बचपन में बालक नितान्त असहाय होता है। जन्म-जात असमर्थता के कारण भोजन, आश्रय, रक्षा तथा साथ के लिए उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस पराधीन स्थिति में उसे अपनी असहायावस्था का बोध होने लगना स्वाभाविक है। वह स्वयं अपने लिए कुछ नहीं कर सकता. उसे अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए दूसरों का आसरा देखना पड़ता है, बार-बार ये भाव उसके मन में आते हैं। इस प्रकार उसके कोमल मस्तिष्क में अपनी अपूर्णता तथा दूसरों पर निर्भरता के भाव

उदय होते हैं।

बच्चे के बढ़ने में काफी समय लग जाता है और इससे उसकी बेबसी की भावना और भी तीव्र हो जाती है। आदमी के बच्चे को बढ़कर स्वतन्त्र बनने मे अन्य जीवों के बच्चों की अपेक्षा अधिक समय लगता है। उदाहरण के लिए कुत्ते या बिल्ली के बच्चों को ही ले लीजिए। कुछ ही महीनों मे सयाने होकर वे आत्म-निर्भर बन जाते हैं तथा अपने भोजन और रक्षा का प्रबन्ध स्वयं करने लगते हैं। परन्तु मनुष्य के बच्चे को स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर बनने में कई वर्ष लग जाते हैं तथा सामान्य प्रवृत्ति इन वर्षों को बढ़ाते जाने की ही तरफ होती है। अर्थात् कितने ही व्यक्ति जब तक पूर्ण पुरुषत्व या स्त्रीत्व नही प्राप्त कर लेते, स्वतन्त्र नहीं बन पाते। दूसरे शब्दों में पराश्रय की भावना, जो वास्तव मे आर्थिक और सामाजिक हीनता की भावना है, उनकी स्वतन्त्र विचार-शक्ति और जीवन की भावात्मक पृष्ठ-भूमि को धुँधली बनाये रहती है।

अनेक प्रगतिशील लेखकों के मतानुसार आधुनिक संसार की आधी बुराइयों का कारण यह है कि आज के स्त्री-पुरुष सच्चे अर्थों में सयाने नहीं बन पाते, स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की योग्यता उनमे नहीं होती तथा बिना किसी के नेतृत्व के वे आगे नहीं बढ़ सकते। और यही कारण है कि दुनिया में डिक्टेटर पैदा हो जाया करते हैं। अर्ध-विकसित और उत्साह-हीन प्रौढ़ता का अर्थ होता है जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति बच्चों-

जैसा दृष्टिकोण तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का अभाव। आए दिन होने वाले तलाक, सिनेमा और थियेटर के अभिनेताओं तथा खिलाड़ियों से सम्बन्ध रखने वाली सनसनी-खेज खबरें, जिन्हें हम दैनिक अखबारों में पढ़ा करते हैं, जीवन के प्रति इसी अपरिपक्व दृष्टिकोण का परिणाम होती हैं। इनसे मनुष्य की नैतिक तथा भावना-सम्बन्धी अस्थिरता का पता लगता है। रोज़-रोज़ बढ़ती हुई डिक्टेटरों की संख्या इस बात का सबूत है कि सामाजिक उत्तरदायित्व का भार उठा सकने में हम असमर्थ हैं तथा प्रजातन्त्रीय शासन से काम लेने की योग्यता हममें नहीं है।

आज हमारे युवकों का शौक युद्ध तथा उसके शस्त्रास्त्रों की तरफ बढ़ता जा रहा है। राष्ट्रीय दृष्टि से यह उनकी बच्चों-जैसी अपरिपक्वता का चिह्न है 'जिस प्रकार खेलने की बन्दूक को हाथ में लेकर बच्चा तरह-तरह की बातें सोचने लगता है, ठीक उसी प्रकार आज का मनुष्य तोपों के आकार-प्रकार, उनकी अद्भुत शक्ति तथा एक निशाने में वे कितने आदमियों को उड़ा सकती हैं आदि स्वप्निल भावनाओं में एक काल्पनिक सन्तोष तथा अभिमान का अनुभव करता है। इन ध्वंसकारी खिलौनों द्वारा प्राप्त शक्ति के अहंकार में इनसे चूर-चूर हो जाने वाले शरीरों के पीछे छिपी हुई मानवीय दुःख-गाथा उसे एकदम भूल जाती है। लेकिन जिस दिन दुनिया सच्चे अर्थों में सयानी हो जायगी तब उसका ध्यान मानव की इस करुण कहानी की तरफ अधिक जायगा बनिस्बत अद्भुत मशीन के।

वाल्य-काल का लम्बा होना हीन-भाव—यानी दूसरों पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति—का कारण है ही; बालक को किस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, इसका भी काफी प्रभाव पड़ता है। ऐसे बच्चे, जिनमे सयाने होने पर हीनता का भाव आ जाने की स्पष्ट सम्भावना होती है, तीन प्रकार के होते हैं। पहली श्रेणी उन बालकों की है जिनमें कोई शारीरिक कमी हो। शारीरिक कमी का मतलब है शरीर में किसी ऐसी अवस्था का दिखाई पड़ना जो सामान्य से भिन्न हो। इसके अनेक रूप हो सकते हैं। किसी सुन्दर कुमारी के चेहरे के तिल (जिससे उत्पन्न बेचैनी से पागलपन तक की नौबत आ जाने की बात मशहूर है) से लेकर टेढ़े या भद्दे अङ्ग तक को शारीरिक कमी समझा जायगा। इन दोनों के बीच का कोई भी ऐब या टेढ़ापन हीन-भाव की उत्पत्ति का कारण बन सकता है।

डॉक्टर वैरन वुल्फ ने ऐसे संभावित कारणों की निम्न लिखित सूची दी है :—बहुत मोटा या पतला होना; पैदायशी निशान; भूरे बाल; शरीर का पीलापन; अधिक रोये का होना; बेढंगी नाक; आँखों के रंग मे अन्तर; बाहर निकले हुए दाँत; चिरी हुई या बैठी हुई ठोडी; पतली या मोटी गर्दन; गिरे हुए कन्धे; बहुत बड़े या एक-दूसरे से छोटे-बड़े स्तन; मोटी कमर; बहुत चौड़े या पतले नितम्ब; लम्बी, टेढ़ी या छोटी टाँगे; टकराते हुए घुटने, बड़े या बहुत छोटे पैर; सिर का गंजा होना; चेहरे पर बहुत बाल या मुँहासे; शरीर पर पीली चित्तियाँ; स्वभाव सम्बन्धी अस्थिरता

(जैसे बहुत जल्दी चेहरे पर लज्जा की अरुणाई या पसीना आ जाना); तथा पुरुषों के जनाने या स्त्रियों के मर्दाने शरीर आदि। सामान्य शरीर से भिन्न ये तथा इसी प्रकार की अन्य विषमताएं हीन-भाव का आधार बन सकती हैं, क्योंकि रोग की दृष्टि से तो नहीं परन्तु सामाजिक दृष्टि से इनका काफी महत्त्व है।

अक्सर शरीर से कमजोर लड़कों को अपने से मजबूत साथियों के हाथों काफी छेड़-छाड़ का शिकार बनना पड़ता है; और इसका कारण केवल इतना होता है कि स्वयं अपनी रक्षा कर सकने में वे असमर्थ होते हैं। चोट खाई हुई भावनाओं को चुपचाप दबाकर आत्म-गौरव को किनारे रख देने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं होता। परन्तु गहरे अपमान की भावना के इस निरोध (रिप्रेशन) से ही उनकी भावी मानसिक तकलीफों का आरम्भ हो सकता है। चोट खाई हुई भावना को बाहर निकालना बहुत जरूरी है। यदि उसे बाहर न निकाला गया तो वह मनुष्य की अबोध चेतना का अंग बनकर उसकी शक्ति को दबा देती है तथा मस्तिष्क को दूषित बना डालती है।

भावना को बाहर निकाल देने का हमारा अभिप्राय यह है कि ऐसे बालक से किसी चतुर व्यक्ति को—चाहे वह उसका शिक्षक हो, माता-पिता हों, या कोई मित्र हो—ऐसी सुन्दर तथा सन्तोष देने वाली बातें करनी चाहिएं कि बालक को अपने अपमान की बात भूल जाय। यही उसका मनोवैज्ञानिक इलाज है। जहाँ तक जबूत लड़के का सम्बन्ध है, उसे इसकी आवश्यकता ही नहीं

पड़ती। वह या तो मौके पर ही लड़कर अपना क्रोध निकाल लेता है या इतना बढ़िया खेल खेल लेता है कि उसी की खुशी में अपमान को एकदम भूल जाता है।

एक कॉलेज-प्रोफेसर के सम्बन्ध में अन्वेषण करने से ज्ञात हुआ कि उसके हीन-भाव का प्रारम्भ बचपन के इस अनुभव के साथ हुआ कि अन्य लड़कों की अपेक्षा वह बहुत लम्बा है। बड़ी भीड़ मे भी अन्य लोगों की अपेक्षा उसे देख लेना आसान था तथा जब कभी स्कूल के कमरे में कोई गड़बड़ होती थी, उसे ही अनुशासन के लिए फटकार मिलती थी। कभी-कभी तो यह ताड़ना ठीक होती थी, परन्तु अक्सर उसके साथ अनायास ही सख्ती हो जाती थी। इसी तरह केवल इसलिए कि वह सबसे लम्बा था, सबमें निराला और असहाय बनकर उसे अपमानित होना पड़ता था। एक और विश्लेषण में कॉलेज के एक छात्र ने अपने हीन-भाव का उद्गम उस घटना से ढूँढ़ निकाला जब पहले-पहल उसे अपने अत्यन्त छोटे होने का बोध हुआ था। खेल-कूद तथा अपने साथियों के प्रति उसके दृष्टिकोण में इससे काफी अन्तर आ गया तथा पेशे के चुनाव पर भी इसका बहुत असर पड़ा।

अतिशय लाड़-प्यार के कारण बिगड़े हुए बालक की जो अवस्था हो जाती है, वह हीन-भाव का दूसरा कारण है। सम्भव है यह कथन कुछ अजीब-सा प्रतीत हो, परन्तु है यह आधुनिक समाज का एक दुःखद सत्य। बीसवीं सदी की माँग है साहस और आत्म-निर्भरता। बिना इन गुणों के नई दुनिया की चुनौती

का सामना नहीं किया जा सकता। लेकिन साहस और आत्म-निर्भरता ही वे गुण हैं जिनकी बिगड़े हुए बालक को कभी शिक्षा दी ही नहीं जाती। बचपन से ही उसे मनमानी करने की आदत होती है। जब तक उसकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति होती रही है, अपने घर में वह बादशाह की तरह रहता आया है तथा कभी किसी प्रकार की बाधा, विरोध, कठिनाई या अकेलेपन का अनुभव नहीं किया है। नतीजा यह होता है कि जब ये कठिनाइयाँ और चुनौतियाँ उसके सामने आती हैं, तो इनका सामना करने की भावना का उसमें सर्वथा अभाव होता है।

दो उदाहरण इस सत्य की व्याख्या के लिए काफी होंगे। पहला है परिवार में दूसरे बच्चे का पैदा होना। एक ऐसे घर में जहाँ अब तक पहले बच्चे का ही लाड़-प्यार होता रहा है, दूसरे बच्चे का आगमन मनोवैज्ञानिक खतरों से भरा होता है। यदि पहले बच्चे को नवागन्तुक शिशु के स्वागत के लिए सतर्कता से तैयार न किया जाय तो इस नई घटना से उसके दिमाग पर धक्का लगता है उसको अब तक विश्वास करना सिखाया गया था कि उस घर का सर्वस्व वही है, परन्तु एकाएक उसका एक ऐसे नए प्रतिद्वन्द्वी से सामना होता है. जो उसकी गद्दी छीन लेने का दावा ही नहीं करता, वरन् उस पर बैठ भी जाता है। धीरे-धीरे उसे अनुभव होने लगता है कि अब उसकी स्थिति अधीनता की है, वह अपनी गद्दी पर से उतार दिया गया है।

पहले बच्चे को पता नहीं कि इस नई परिस्थिति में वह क्या

करे। निराशा की यह भावना धीरे-धीरे उसके हृदय में घर कर जाती है। कभी-कभी लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ऐसा बच्चा सोते में बिस्तर पर पेशाब कर देता है, भयभीत होकर चिल्ला उठता है या हकलाने लगता है। परन्तु ये बातें थोड़े दिनों तक रहती हैं, इनसे उसका काम नहीं चल पाता। अंत में बचपन की उपेक्षा और अपमान से उत्पन्न यही दबी हुई भावना प्रौढ़ावस्था में मानसिक विकारों का कारण बनती है।

दूसरा उदाहरण उस अवस्था का है जब बिगड़ा हुआ बालक सयाना होकर दुनिया का सामना करने निकलता है। यदि बड़ा हो जाने पर भी वह सौभाग्यशाली बना रहा तो संभवतः उसे दैनिक जीविका उपार्जन करने की चुनौती का सामना कभी न करना पड़े; और ऐसी अवस्था में उसे कोई मनोवैज्ञानिक कठिनाई न होगी। परन्तु यदि वह किसी सुरक्षित पेशे या व्यापार में जाता है तो वहाँ अपनी आदत के अनुसार ऐसी रियायतों और दूसरों के मुकाबिले विशेषता की माँग करना आरंभ कर देगा कि लोगों को फौरन उसके बिगड़े हुए होने का पता चल जायगा। ऐसा व्यक्ति आशा करता है कि प्रौढ़ावस्था में भी उसे वैसी ही परिस्थितियाँ मिलें, जिनमें वह बचपन की ही भाँति मनमानी कर सके। परन्तु जब ऐसा नहीं हो पाता तो स्वभावतः वह कहना आरंभ करता है कि हर एक उसे नीचा दिखाना चाहता है।

इसके विपरीत, यदि-कहीं दुर्भाग्यवश किसी बिगड़े हुए लड़के को स्वयं अपना रास्ता बनाना पड़ा, जहाँ उसके अपने साहस और

परिश्रम के अतिरिक्त अन्य किसी सहारे या सुरक्षा की सम्भावना न हुई तो संभवतः उसे निराशा और निरुत्साह के थपेड़ों से परास्त हो जाना पड़ेगा। उसे अनुभव होगा कि वह एक ऐसी दुनिया के लिए तैयार ही नहीं किया गया जिसमें पग-पग पर प्रतियोगिता और उपेक्षा मिलती है। और चूँकि अकेला खड़ा होकर वह अपना रास्ता नहीं बना सकता, अतः निराश होकर बैठ जाता है। उनकी समझ में नहीं आता कि अपनी स्वतन्त्रता के खिलाफ इस चुनौती का किस प्रकार मुकाबिला करे। कई बार वह फिर उठता है और अपनी शक्ति की आजमाइश करता है, परन्तु जब सारे ही प्रयत्न असफल हो जाते हैं तो अन्त में वह उस दुखी और जीवन से निराश वर्ग की शरण लेता है, जो आज के शहरी जीवन का एक सामाजिक अभिशाप बन गया है—समाज के आश्रितों, धोखेबाजों, लुटेरों, वेश्यागामियों, जुआरियों और शराबियों का वर्ग। पतन की ओर ले जाने वाली इन प्रवृत्तियों का उदय बड़ी आसानी से होता है। और इन्हीं प्रवृत्तियों में वे अभागे और पराजित लोग शरण लिया करते हैं, जो अपने पुरुषत्व या नारीत्व की अविकसित नैतिक शक्ति के कारण कठिन और परिश्रम-साध्य कर्त्तव्यों से भागे हुए होते हैं। इस प्रकार आज के नागरिक जीवन की गन्दगी उन अभागे परन्तु अच्छे स्त्री-पुरुषों से बनी होती है, जो किसी गलत या दूषित शिक्षा के कारण जीवन के मोर्चे से हारकर लौटे हुए होते हैं।

अभी हाल में ही लेखक ने एक जोशीले वक्ता को, जो देखने

मे एकदम स्वस्थ प्रतीत होता था, लन्दन की एक भीड़ में कहते सुना कि 'जब वह बालक था तो सभी उसे पसन्द करते थे परन्तु अब जब वह बड़ा हो गया तो कोई भी उसे नहीं चाहता।' यह व्यक्ति अपनी जीविका भी इन्हीं भ्रष्ट तरीको से उपार्जन करता था। यदि उसने इतना ही परिश्रम और साहस कोई रचनात्मक कार्य करने मे किया होता तो उसे जीविका और अच्छे मित्र-दोनों ही मिले होते। परन्तु वह निरुत्साहित हो गया था और जैसा कि उसकी शिकायत से पता चलता है कि वह प्रौढ़ावस्था के अध्यवसाय द्वारा आत्म-निर्भर बनने की अपेक्षा बचपन की उस अवस्था में लौट जाने के लिए लालायित है, जहाँ दूसरे के सहारे उसकी इच्छाओं की पूर्ति हो सके। जिस प्रकार शीशे के ग्रीष्म-भवन में रखा हुआ कोमल पौधा उत्तरी प्रदेशो की ठण्डी हवा नहीं सहन कर सकता, उसी प्रकार बचपन का बिगड़ा हुआ व्यक्ति घोर स्वार्थ और प्रतियोगिता से भरे हुए समाज की चुनौती स्वीकार करने मे सर्वथा असमर्थ रहता है।

हीन-भाव का एक और कारण ऐसे बच्चों के साथ उन लोगों का व्यवहार है, जिन्हें वे घृणा करते हैं या जिनकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। दैनिक जीवन के साधारण निरीक्षण तथा समाचार-पत्रों को पढ़ने से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जायगा कि दुनिया मे ऐसे अनेक बच्चे हैं जिन्हें बोझ समझकर लोग घृणा करते हैं। सच तो यह है कि ऊँची सभ्यता को भी एक ऐसे समाज की आवश्यकता है जो बच्चों के प्रति की जाने वाली इन क्रूरताओं

को रोक सके।

संसार में घृणा का पात्र बनकर रहने में शारीरिक दण्ड का कष्ट उतना नहीं है जितना उससे भी अधिक दुःखदायी मानसिक और नैतिक पतन का कष्ट। इससे हमारा यह मतलब नहीं कि शारीरिक दण्ड बुरा नहीं है; उसकी तो जितनी भी सामाजिक निन्दा की जाय, थोड़ी है। घृणा-पूर्ण व्यवहार से दूषित ऐसे अस्वस्थ वातावरण में पले हुए बच्चों का दृष्टिकोण इतना संकुचित हो जाता है कि वे समाज के शत्रु बन जाते हैं। घृणा एक घोर समाज-विरोधी भाव है; जब कि प्रेम जीवन का बन्धन तथा मानव-साहचर्य की प्रेरणा है। जिस बच्चे को निरन्तर यह महसूस कराया गया है कि वह घृणा का पात्र तथा व्यर्थ का बोझ है उसे क्यों न विश्वास हो जाय कि उसके साथ रहने वाले उसके दुश्मन हैं तथा समाज में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। यही विश्वास समाज में विद्रोहियों, अपराधियों और आश्रितों को पैदा करने का कारण है।

सभी निरोधात्मक (रिप्रेसिव) अनुभवों का परिणाम करीब-करीब एक ही होता है। यदि कोई लड़का बहुत चालाक है तो उसके स्कूल के साथी उससे ईर्ष्या करने लगते हैं और कुछ दिनों तक उनके साहचर्य और सहयोग से वंचित रहने के बाद उसमें हीनता की भावना उत्पन्न होने लगती है। हालाँकि इस लड़के से घृणा नहीं की जाती, फिर भी अपने साथियों द्वारा अकेले छोड़ दिये जाने का अपमान वह महसूस करता है। लज्जा और

झिझक की एक आन्तरिक भावना के कारण किसी से इसकी
चर्चा भी नहीं करता। धीरे-धीरे दबकर अपमान का यह भाव
उसके हृदय में घर कर लेता है। इसी प्रकार कभी-कभी अत्यन्त
कठोर धार्मिक शिक्षा के कारण भी बालक की भावनाओं का
विरोध हो सकता है। सारांश यह कि कोई भी ऐसा अनुभव
जिससे हृदय में उठा हुआ भाव दब जाय चाहे उसका सम्बन्ध
स्कूल से हो, घर से हो या समाज से हो, मनुष्य के व्यक्तित्व को
विकृत और कुंठित बना देता है। कारण यह है कि एक भाव
विशेष को, जिसकी अभिव्यक्ति समाज-सेवा के किसी कार्य में या
मानव के व्यक्तित्व-निर्माण में होनी चाहिए, निकलने का
कोई रचनात्मक रास्ता ही नहीं मिलता। इस युग के एक प्रमुख
मनोविज्ञान-वेत्ता डॉक्टर डब्ल्यू मैकाडॉगल का कहना है कि
"प्रत्येक बच्चे को आत्म-विश्वास प्राप्त करने के लिए उत्साहित
करना चाहिए न कि दबाना। अनेक बच्चे अपनी श्रेष्ठतम सम्भा-
वनाओं तक पहुँचने में असफल रहे हैं, क्योंकि उन्हें उत्साहित
करने वाला कोई न था। कभी-कभी तो एक अकेली बात का
प्रभाव इतना स्थायी पड़ जाता है कि वह आजीवन बना रहता है।
मनुष्य की अनेक चिन्ताओं तथा ज्ञान-तन्तुओं से सम्बन्ध रखने
वाली तकलीफों की जड़ में बचपन में मिली हुई सख्त भर्त्सना
होती है। ये चिन्ताएं जीवन-भर बनी ही नहीं रहतीं वरन् कभी-
कभी अपराध-भावना का भी कारण बन जाती हैं।"

ऊपर वर्णन किये हुए बालक से मिलता-जुलता ही यह

भी होता है, जिसका जन्म और पालन-पोषण ग़रीब और समझदार माता-पिता के घर में होता है। ऐसे बालक का अनुभव एक अलग ही प्रकार का होता है। हो सकता है कि इसका बचपन सामान्य तथा प्रसन्नता-पूर्ण हो, परन्तु सयाना होने पर समाज में अपनी नीची स्थिति का स्मरण करके उसमें भी हीनता का भाव आ जाने की सम्भावना रहती है। यह कोई असाधारण स्थिति नहीं है, बल्कि इसी से हम उन बहुतेरे लोगों की उदासीनता और बेचैनी की व्याख्या कर सकते हैं, जिनका जीवन ऊपर से देखने में काफी अच्छा कहा जा सकता है।

कब और कैसे हीनता का यह भाव प्रगट होता है, यह उन व्यक्तियों के वांछित लक्ष्य पर निर्भर रहता है। जिस व्यक्ति का आदर्श धन-प्राप्ति है, वह अपने से अधिक धनी पुरुष के सामने हीनता का अनुभव करेगा, तथा ऐसे लोगों के बीच,जो उससे कम धनी हैं, अपने को श्रेष्ठ समझेगा। दूसरा व्यक्ति, जो विद्या को महत्त्व देता है, अपने से बड़े विद्वान् के सामने हीनता महसूस करेगा। जिसके लिए समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त करने का ही सबसे बड़ा महत्त्व है, वह अपने से ऊँची हैसियत वाले के सामने हीनता का अनुभव करेगा। इसी प्रकार समाज के अन्य क्षेत्रों में भी होगा। परन्तु इस प्रकार की हीनता का भाव बहुत साधारण होता है, इससे कोई विशेष कष्ट नही होता, बशर्ते कि इसको बढ़ाकर दुःखदायी न बना लिया जाय। सामान्य बुद्धि तथा स्वाभाविक सहानुभूति ही मन की इन बोधगम्य दुर्बलताओं

को दूर करने का सरल उपाय है।

अंतिम श्रेणी उन लोगों की है जिनके हृदयों में किसी गुप्त दोष या असफलता की स्मृति के फलस्वरूप गहरे अपमान तथा आत्म-ग्लानि की भावना समा जाती है। अपमान की यह भावना प्रेम में असफलता, समाज में अवनति, धन-हानि, या किसी गुप्त पाप आदि के कारण उत्पन्न हो सकती है। यदि उस व्यक्ति का अपनी योग्यता या आत्म-सम्मान का मापदण्ड काफी ऊँचा है तो उसके 'अहं' को लगने वाली साधारण ठेस से भी उसकी आन्तरिक भावना को कितनी गहरी चोट लगेगी, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो पतित नहीं हो चुका है, किसी-न-किसी दिशा में श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है, परन्तु जब उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी मानि-हानि या दुर्बलता की बात उसका रास्ता रोक लेती है तो उसे गंभीर क्षोभ होता है। दूसरी तरफ जब ऐसा व्यक्ति, जिसका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में होता है, किसी प्रलोभन के वश में गिर जाता है तो उसमें एक ऐसी अपराध-बुद्धि का विकास होने लगता है जो निरन्तर उसके मस्तिष्क को पाप की भावना से परेशान किये रहती है। धर्म-भ्रष्टता की यह भावना बहुत प्रचलित है तथा आधुनिक संसार की अधिकांश खींचातानी और बेचैनी का कारण है। इसकी सर्वव्याप्तता तथा प्रभाव को देखकर कतिपय मानस-शास्त्री धर्म को वर्त्तमान सभ्यता का 'हौवा' कहने लगे हैं। परन्तु यह निर्णय तो एकदम उलटा ही

जाता है। यदि हम धर्म को बिलकुल हटा दें, तो भी हमें धर्म की मूल भावनाओं—अर्थात् विवेक, सत्य तथा मानव और मानव के बीच एक स्वस्थ सम्बन्ध आदि—से तो काम पड़ता ही रहेगा। अतएव आज की अशान्ति तथा आन्तरिक वैषम्य का हल धर्म का विनाश नहीं, वरन् सच्चे धर्म का अनुसरण है।

२

हीन-भाव के गौण लक्षण

आसानी के लिए हम हीनता के लक्षणों को दो भागों–गौण और प्रधान–में बाँट देते हैं।

इन भेदों को और भी स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि साधारणतः गौण लक्षणों का कारण बालक की शिक्षा का गलत तरीका होता है, जब कि प्रधान लक्षण किसी दूषित या दबाये हुए भाव से उत्पन्न अनुभव विशेष के फल होते हैं।

गौण लक्षण भी नीचे लिखे भागों में विभक्त किये जा सकते हैं:—

(१) बिना किसी विचार-पूर्ण उद्देश्य के अविश्राम मिहनत करना।

(२) सामाजिक भीरुता और लोगों के सामने पड़ने से बचना।

(३) तीव्र-स्पर्शी (सेन्सिटिव) होना तथा स्वयं अपने को गिरा हुआ समझने लगना।

(४) छिछलापन (सुपरफिशैलिटी) जरूरत से ज्यादा आराम-तलबी इसकी विशेषता है।

(५) कभी एकदम चुप्पी साध लेना और कभी बराबर बातें करते रहना।

(६) अनावश्यक आलोचना करते रहने की धुन।

अविश्राम मिहनत इस बात की सूचक है कि मनुष्य निरन्तर यह महसूस किया करता है कि उसे और ज्यादा काम करना चाहिए। यदि उसे यह न प्रतीत होता कि अभी और कुछ करना बाकी है तो वह विकल न हो उठता। सारे ही निरुद्देश्य कार्य, प्रयोग तथा प्रयत्न इसी सत्य का निर्देश करते हैं। अनिद्रा का भी यही कारण है। यदि अनिद्रा-पीड़ित व्यक्ति का दिमाग स्थिर हो, तो वह सो सकता है। परन्तु 'वह सुरक्षित नहीं है' की अबोध चेतना उसे रात-दिन कभी भी चैन नहीं लेने देती।

विकलता की यह भावना एक परोक्ष भय के कारण उत्पन्न होती है। हो सकता है कि किसी को हमेशा अपने व्यापार या पेशे में असफल हो जाने का डर बना रहता है; अपनी तन्दुरुस्ती या मित्र की चिन्ता लगी रहती है या अपनी किसी ग़लती के प्रगट हो जाने का भय उत्पन्न हो जाता है। जो भी कारण हो, ऐसे व्यक्ति का आचरण उस चूहे का-सा होने लगता है जो किसी जाल में फँस गया है और भावी संकट की भावना से आशंकित है। इसके विपरीत, जब हम अपनी परिस्थितियों में सहज निश्चिन्तता का अनुभव करते हैं, तो हमारे दिमाग़ में किसी प्रकार की विकलता या निरुद्देश्य भाव नहीं आता। लेकिन जहाँ ये लक्षण दिखाई दें, समझ लेना चाहिए कि आदमी किसी दोष या संकट की भावना से आशंकित है। संभव है इस आशंका का कारण कोई तत्काल आने वाली विपत्ति न होकर कोई ऐसा बीता हुआ अनुभव हो, जिसे चेतन मस्तिष्क तो भूल गया

है, परन्तु अबोध चेतना में उसकी याद अब भी बाकी है। चूँकि उस बीते हुए अनुभव से उत्पन्न भय को पूरी तरह निकाला नहीं जा सका है, समय पाकर वही आशंका, बेचैनी, अनिद्रा तथा निरुद्देश्य परिश्रम के रूप में प्रगट होती है। हीन-भाव के अन्य लक्षणों पर भी यही बात लागू होती है।

सामाजिक भीरुता तथा उसके अनुचर लज्जा और संकोच हीन-भाव के दूसरे लक्षण हैं। इसका कारण होता है बचपन या किशोरावस्था में मनुष्य का यह अनुभव करना कि लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं या अनावश्यक बोझ समझते हैं।

सामाजिक भीरुता तथा लोगों से दूर रहने की प्रवृत्ति का कारण इसके अलावा और कुछ नहीं हो सकता कि किसी खास मौके पर व्यक्ति को कोई काम करने से झिड़ककर रोक दिया गया है या किसी और तरह से अपमानित कर दिया गया है। ऐसे व्यवहार से आत्म-विश्वास की भावना दब जाती है तथा दूसरों की–विशेषत. अपरिचितों की–उपस्थिति में अपनी हीनता का बोध होने लगता है। कभी-कभी प्रयत्न करने पर भी दूसरों के पास पहुँच पाने मे हिचक महसूस होती है। इसका कारण है किसी मित्र या अपरिचित के साथ हुए कटु अनुभव की दबी हुई भावना। समय पाकर वही भावना हीनता या झिझक के रूप में प्रगट होती है।

शीघ्र-स्पर्शी होना तथा स्वयं अपने को गिरा हुआ समझना भी सामाजिक भीरुता से मिलता-जुलता लक्षण है। सोचने की बात है कि लोग क्यों ऐसा करने लगते हैं ? केवल दो कारण हो

सकते हैं :—या तो मनुष्य किसी घोर अपराध की भावना से पीड़ित है; या किसी ऐसे कटु अनुभव से होकर गुज़रा है, जिसमें घृणा, निन्दा, दोषारोपण, या बहिष्कार का प्राधान्य रहा है। यही इन भावों की पृष्ठभूमि है। और जब आत्म-हीनता की यह भावना अबोध मस्तिष्क का अंग बन जाती है, तो व्यक्ति के प्रत्येक आचरण—यहाँ तक कि स्वयं के प्रति उसके विचारों में भी वह प्रगट होने लगती है।

स्त्री और पुरुष के आचरणों में अलग-अलग ढंग से इसका असर देखने में आता है। पुरुष हमेशा अपनी बातचीत, पहनावे, भोजन तथा दूसरे उसके विषय में क्या कहते हैं आदि बातों की तरफ़ सतर्क हो जाता है। स्त्री का आवश्यकता से अधिक ध्यान 'वह किस प्रकार का मोजा पहने, किस ढंग पर अपने बाल सँवारे या उसके हाथों की रँगाई कैसी हो' आदि बातों में ही लगा रहता है। साथ ही सामान्य स्त्री-जाति की निन्दा और आलोचना करने की प्रवृत्ति भी उसमें आती जाती है। 'हर चीज ग़लत है या ठीक नहीं है' की प्रवृत्ति निरन्तर महसूस होने वाली व्यक्तिगत हीनता की भावना का स्थान ले लेती है।

छिछलापन एक और लक्षण है। यह उस व्यक्ति में देखने को मिलता है जो हमेशा थका हुआ होता है, जिसे किसी भी काम में दिलचस्पी नहीं होती तथा जो हर चीज़ को थका देने वाली समझता है। यदि पुरुष हुआ तो सुस्ती के साथ अपनी कुर्सी में इस प्रकार पड़ा रहता है जैसे दुनिया से उसे कोई मतलब नहीं। यदि स्त्री हुई तो बार-बार एक ही रट लगाये रहती है,

"मेरे प्यारे यह मुझसे नहीं हो सकता !" कवि ने भी अनजाने में यही भाव व्यक्त किये हैं :—

"मैंने किसी वस्तु के लिए प्रयत्न न किया, क्योंकि एक भी मेरे प्रयत्न के योग्य न थी,

प्रकृति को मैंने प्यार किया, और प्रकृति के बाद कला को :

जीवन की उष्णता में मैंने अपने दोनों हाथ सेके; अब वह उष्णता लुप्त होती जा रही है और मैं भी चलने को तैयार हूँ।"

वस्तुतः अतिशय पूर्णता तथा अद्वितीयता की यह भावना हीनता का ही एक प्रतिरूप है।

कभी एकदम चुप्पी तथा कभी अतिशय बातूनीपन हीनता के अन्य लक्षण हैं। किसी समय व्यक्ति में भाववृत्तिकता (मूडीनेस) अन्तर्निरीक्षण (इनट्रासपेक्शन) तथा विकृतता (मॉरविडिटी) के भावों की प्रधानता होती है तथा किसी समय वही हँसी से खिल-खिलाता और उत्साह से भरा हुआ दिखाई देता है। दो विपरीत परिस्थितियों के बीच में इधर-से-उधर झूलते रहना व्यक्ति के भावों में अस्थिरता का लक्षण है; और अस्थिरता हीन-भाव के प्रगट होने का एक और तरीका है। यदि भाव-सम्बन्धी यह स्थिरता मौजूद हो तो मनुष्य को इस प्रकार सामाजिक हर्ष और विषाद के झटके न खाने पड़े। वर्ना ऐसा मालूम होता है कि उसके मानसिक विकास का रास्ता किसी स्थान पर एक ऐसे भावात्मक (एमोशनल) अनुभव के कारण बन्द हो गया है, जो उसे आगे बढ़कर परिपक्व भावना की स्थिरता नहीं प्राप्त करने देता।

अनावश्यक आलोचना की धुन हीन-भाव का स्पष्ट लक्षण है। अनावश्यक आलोचना और छिद्रान्वेषण करने वाला अवश्य ही ऐसा व्यक्ति होता है, जिसकी कल्पनाएं भंग हो चुकी होती हैं। वर्ना जो व्यक्ति अपने को समाज का एक योग्य और उपयोगी अंग समझता हो, वह व्यर्थ की आलोचना में समय नहीं खोता।

ग़लती और सही की जाँच के लिए आलोचना आवश्यक होती है; परन्तु सच्ची आलोचना हमेशा रचनात्मक और यथार्थ होती है न कि व्यक्तिगत। जिस आलोचना का काम केवल विगाड़ना है, वह निषेधात्मक, यानी हीन-भाव का फल होती है।

हमने अब तक उन निषेधात्मक या अभावात्मक (नेगेटिव) प्रवृत्तियों का जिक्र किया जो हीन-भाव का एक रूप प्रदर्शित करती हैं। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि ये सब-की-सब निष्प्रयोजन हैं। किसी उद्देश्य-सिद्धि में काम आने के बदले ये व्यर्थता और बेबसी का ही कारण बनती हैं।

दूसरी तरफ हमें एक और तरह के लक्षण मिलते हैं जिनको हीन-भाव का धन-पक्ष (पॉजिटिव साइड) कहा जा सकता है। आदमी महसूस करता है कि उसमें कमी है और उसे दूर करने के लिए कुछ करता है। यही 'कुछ', जिससे वह अपनी कमी को पूरा करना चाहता है, 'प्रतिपूरण' या मुआविज़ा (कमपेनसेशन) कहलाता है। परन्तु इन परिस्थितियों में यह एक झूठा 'मुआविज़ा' होता है, क्योंकि उसका समाज में कोई उपयोग नहीं। ये मुआविज़े भीतरी अपूर्णता को छिपाने के लिए काम में लाये जाते हैं। इस

प्रकार के लक्षणों को निम्न लिखित भागों में बाँटा जा सकता है:—

(१) वह छोटा व्यक्ति, जिसके हर काम में बनने की प्रवृत्ति होती है।

(२) वह व्यक्ति, जो बड़े आडम्बर के साथ लम्बी-चौड़ी बातें करता है।

(३) वे लोग, जो आवश्यकता से अधिक बनाव-शृंगार करते हैं।

(४) वह स्त्री, जिसे पुरुषों-जैसा आचरण करने की आदत है या इसके विपरीत।

(५) वह व्यक्ति, जो अपने को अद्वितीय समझता है।

(६) झगड़ालू और उत्पाती व्यक्ति।

ठिगने आदमी की शेखी मशहूर है। शरीरिक कमी के कारण ऐसा व्यक्ति हीनता की एक अबोध चेतना से पीड़ित रहता है। बड़ा बनने की झूठी शेखी इसी कमी को पूरा करने का प्रयत्न-मात्र है। यदि ठिगना आदमी चुप-चाप पड़ा रहे, अपने लिए स्थान बनाने का प्रयत्न न करे तो लोग उसे रास्ते से निकाल कर बाहर कर देंगे। लेकिन चूँकि आत्म-रक्षा प्रकृति का नियम है वह अपनी परस्थितियों पर काबू पाने तथा व्यक्तिगत सुरक्षा प्राप्त करने के लिए हठ-प्रवेश या जबरदस्ती की प्रवृत्ति (अग्रेसिव एटीच्यूड) विकसित कर लेता है।

परन्तु इस जबरदस्ती के पीछे जब तक यथार्थ योग्यता न है, यह एक झूठा मुखौटा रह जाता है। यदि यह ठिगना आदमी

जो ज़बरदस्ती के बल पर सुरक्षा प्राप्त करना चाहता है, एक ऐसी परिस्थिति में पड़ जाय, जहाँ उसकी ज़बरदस्ती को योग्यता न समझकर हँसी का कारण बना दिया जाय, तो उसका सारा साहस और उत्साह जाता रहेगा। एक बार जब उसका धोखा पकड़ा गया तथा उसकी झूठी शेखी का भण्डाफोड़ हो गया, तो फिर उसे आत्म-ग्लानि और निराशा के अगाध सागर में गोते लगाने पड़ते हैं। असली मुआविजा केवल ऊपरी और निराधार योग्यता नहीं, वरन् ऐसी योग्यता और सामर्थ्य है, जो मनुष्य को समाज का इतना आवश्यक अंग बना दे कि बिना उसके काम ही न चल सके। यही वास्तविक सुरक्षा तथा सच्चे आत्म-सम्मान का आधार है। जिसको अपनी स्वयं की योग्यता पर सन्देह हो गया हो, उसकी रक्षा केवल दो चीजों से हो सकती है—सच्चे भाई-चारे की भावना तथा ठोस सामर्थ्य; चाहे वह कितनी भी थोड़ी क्यों न हो।

इसी प्रकार जो आदमी लम्बी-चौड़ी बातें करने वाला है, उसे भी एक झूठा ही मुआविजा मिलता है। इसके उदाहरण उन व्यक्तियों में मिलते हैं जो ग़रीब घर में पैदा होते हैं तथा थोड़ी शिक्षा पाये हुए होते हैं; परन्तु फिर भी यह दिखलाना चाहते हैं कि उनकी बौद्धिक योग्यता कम-से-कम औरों से अधिक है। बातें करते वक्त ऐसे लोग बराबर कोई-न-कोई साहित्यिक प्रसंग खींच लायंगे या अपनी बात को किसी विदेशी भाषा के उद्धरण

प्रसंग के भी आपको यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि वे अमुक विदेशी भाषा जानते हैं या दूसरी भाषा का अमुक उपन्यास पढ़ सकते हैं यदि कहीं इन विशेषताओं के साथ-साथ वे 'ऑक्सफोर्ड-उच्चारण की भी नकल कर सकते हैं, तो फिर कहना ही क्या है ! तब तो उन्हें प्रतीत होगा कि वे सामान्य लोगों से कहीं बहुत दूर के जीव हैं

आवश्यकता से अधिक बनाव-शृंगार करने वाले व्यक्ति का भी यही हाल है। अति-शृंगार भी अति वाचालता की तरह अत्युक्ति है, और सभी अत्युक्तियाँ, चाहे वह जिस भी प्रकार की हों, स्पष्ट हीन-भाव की द्योतक हैं। जिस स्त्री में सहज आकर्षण नहीं है, वह अपने चेहरे की सादगी या आकृति के अनाकर्षण को कम करने के लिए आवश्यकता से अधिक सज-धज कर सकती है। यह आचरण ठीक वैसा ही है जैसा उस बिगड़े हुए बालक का, जो चिल्लाकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है।

हमारी सभ्यता के विकृत दृष्टिकोण का एक स्पष्ट लक्षण यह है कि अनेक स्त्रियाँ अपने को तथा सारी स्त्री-जाति को हीन समझती हैं। सामान्य नारी में इस हीन-भाव का कारण वर्त्तमान समाज में पुरुष की श्रेष्ठता और प्रभुत्व है। इस स्थिति की प्रतिक्रिया यह होती है कि कितनी ही स्त्रियाँ इस अपमान के विरुद्ध विद्रोह करके पुरुष से कोई सम्बन्ध रखने या विवाह करने ही से इन्कार कर देती हैं। अधिकांश ऐसी होती हैं जो इस कल्पित अपमान को स्वीकार करके जीवन-निर्वाह कर लेती हैं। आज के जीवन में हम

अनेक ऐसी समस्याएं देखते हैं जिनका सम्बन्ध या तो स्त्री-पुरुष को काम-वृत्ति से है या उनकी सामाजिक परिस्थिति से। इन सबके मूल में दोनों के बीच होने वाले इस संघर्ष से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक स्थिति है।

आज की अनेक औरतें पहनावे, बातचीत तथा रहन-सहन में पुरुषों की नकल करती हुई पाई जाती हैं। इस अस्वाभाविक आचरण के पीछे भी एक प्रकार का हीन-भाव है। इसी प्रकार कितने ही पुरुष, जिनमें कोई मानसिक अपरिपक्वता रह गई है या जिनके शरीर स्त्रियों से कुछ मिलते-जुलते हैं, अपने को पुरुषत्व-हीन समझकर औरतों की नकल करने लगते हैं।

यदि स्त्री और पुरुष का मस्तिष्क पूर्ण रूप से विकसित हो तो उनमें छोटे-बड़े का प्रश्न उठता ही नहीं। सच तो यह है कि स्त्री और पुरुष का स्वाभाविक अन्तर एक दूसरे की पूर्ति के लिए बना हुआ है, न कि विरोध के लिए।

अपने को अद्वितीय समझने की प्रवृत्ति का भी कारण हीन-भाव है। इसकी तुलना उस बिगड़े हुए बालक के दृष्टिकोण से की जा सकती है, जिसका पालन ही इस विश्वास में हुआ है कि वह अद्वितीय है। ऐसा बालक शरीर से सयाना हो जाने पर भी भाव की दृष्टि से अक्सर कच्चा रह जाता है और दुनिया के प्रति वही भावुक दृष्टिकोण रखता है जैसा अपनी माँ के प्रति। यही कारण है कि समाज में ऐसे अनेक स्त्री-पुरुष मिलते हैं जो सर्वोच्च स्थान के अतिरिक्त और कहीं रहन-सहन ही नहीं रख सकते।

हमेशा यही चाहेंगे कि प्रत्येक क्षेत्र में–फैशन में, व्यक्तित्व में, चरित्र में, योग्यता मे–वे सबसे आगे रहें तथा उनका स्थान सामान्य लोगों से अलग और ऊँचाई पर हो। मनोवैज्ञानिक लोग ऐसे व्यक्तियों को 'जेहोआ-वृत्ति' (जेहोआ यहूदियों के देवता थे, जिन्हें अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने का ख़ब्त था) का मरीज़ समझते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वितीयता की शेखी में ऐसे लोग अपनी किसी भी इच्छा का विरोध नहीं सहन कर सकते और जब कभी उनका अपमान हो जाता है या उन्हें यह महसूस होता है कि लोग उनका 'उचित' आदर नहीं कर रहे हैं, तो ऐसे लोग पागल हो जाते हैं, आत्म-हत्या कर लेते हैं या समाज-द्रोही बन जाते हैं। प्रत्येक भाव जो व्यक्ति को व्यक्ति से अलग करता है, हीन-भाव है, क्योंकि स्त्री और पुरुष साहचर्य के लिए बनायें गए हैं, वैमनस्य के लिए नहीं।

आधुनिक संसार के अभिशापों मे यह भी है कि कोई अपने को अद्वितीय समझे या मनुष्य-मनुष्य मे अन्तर की भावना मौजूद हो। वर्त्तमान वर्ग-संघर्ष का कारण यही है तथा अनेक राष्ट्रों के तानाशाही दृष्टिकोण के मूल में भी यही भावना है। एक व्यक्ति जब अपने को अद्वितीय कहता है तो उसका सीधा अर्थ यह होता है कि दूसरा उससे घटकर या हीन है। यही कारण है कि यह दृष्टिकोण हमेशा पारस्परिक घृणा, विरोध और संघर्ष का कारण बन जाता है। दूर तक विचार किया जाय तो इस प्रवृत्ति के मूल मे भी एक प्रकार की हीनता का 'मुआविज़ा'

प्राप्त करने का प्रयत्न दिखाई पड़ेगा, क्योंकि जो व्यक्ति सच्चे अर्थों में शिष्ट होता है वह अपने और समाज के छोटे-से-छोटे व्यक्ति में भी कोई भेद नहीं मानता।

अंत में हम झगड़ालू और जबरदस्ती करने वाले व्यक्ति का जिक्र करके इस श्रेणी की व्याख्या समाप्त कर सकते हैं। कुछ लोगों को खामखाह अपना रौब जमाने और हर बात को जरूरत से ज्यादा जोर देकर कहने की आदत होती है। इन सभी प्रवृत्तियों के पीछे अपने को अरक्षित समझने की एक गहरी चेतना होती है। यदि मालिक अपने मजदूरों को बार-बार डॉटा-फटकारा करता है तो इसका कारण उसके मन में छिपा हुआ यह भय है कि कहीं उन पर अनुशासन रखने तथा उनसे काम लेने की उसकी शक्ति कम न हो जाय। वह अपनी व्यक्तिगत योग्यता की कमी निरन्तर महसूस किया करता है। यही हाल उस पति का है जो अपनी पत्नी की हर वक्त ताड़ना किया करता है या उस पिता का है जो अपने बच्चों को बराबर पीटा करता है। जहाँ भी बेमतलब सख्ती आपसी कलह, बदगुमानी, झूठ कसम और अनावश्यक सीनाजोरी के दुर्गुण दिखाई दें, समझ लेना चाहिए कि मनुष्य में आत्म-विश्वास की कमी है तथा वह अपनी असमर्थता की गहरी भावना से पीड़ित है।

हीन-भाव का आरम्भ कब और कहाँ से हुआ, इसका पता या तो सूक्ष्म आत्म-विश्लेषण से लगाया जा सकता है या किसी कुशल मनोवैज्ञानिक की सहायता से। यदि हम अपने पिछले

अनुभवों पर ठीक-ठीक गौर करे तो काफी सही हद तक अन्दाज़ लगा सकते हैं कि बचपन मे हमारी श्रेणी क्या थी—हम बिगड़े हुए बालक थे; लोग हमें घृणा करते थे; बेकार का बोझ समझते थे; या हम किसी शारीरिक दोष की भावना से दुखी रहा करते थे। अपनी श्रेणी निर्धारित कर लेने के बाद हम अपने प्रस्तुत लक्षणों का विश्लेषण करके उस अनुभव-विशेष का पता लगा सकते हैं, जहाँ से हमारा हीन-भाव आरम्भ हुआ। इतना कर लेने के बाद जब हमें अपनी असलियत का ज्ञान हो जाय तथा जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण किस हद तक विकृत हो चुका है, इस बात का अन्दाज़ हो जाय तभी हम अपनी तकलीफों और वेदनाओं को दूर करने का प्रयत्न आरम्भ कर सकते हैं।

३

हीन-भाव के प्रधान लक्षण

पिछले परिच्छेद में हमने हीन-भाव के गौण लक्षणों पर विचार किया, इस परिच्छेद में प्रधान लक्षणों का विश्लेषण करेंगे।

हीन-भाव विकृत भावों से उत्पन्न वेदना या तीव्र भावों के संघर्ष से बने हुए विचारों का एक ऐसा समूह है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के अन्दर निवास तो करता है, परन्तु उसका अंग नहीं बन पाता, क्योंकि व्यक्ति के मानस को उससे निरन्तर चोट लगा करती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वह व्यक्तित्व से अलग है, फिर भी उससे लगा हुआ है। भावों के संघर्ष से उत्पन्न ये विचार या भाव उन अनेक परिस्थितियों के फल हो सकते हैं, जिनमें व्यक्ति-विशेष को समय-समय पर रहना पड़ा है। इन अनुभव-जन्य भावों को वाहर न निकालकर जब आदमी उन्हें मन में दबाये रहता है तो उनकी स्मृति निरन्तर उसके व्यक्तित्व को विकृत कर देती है। यदि उस व्यक्ति ने किसी मित्र से बातें करके या विना कोई लज्जा या अपमान का भाव मन में लाये अपना अपराध स्वीकार करके उस कटु अनुभव को भुला दिया होता तो उसका मानस स्वस्थ बना रहता। यानी उसके मानस में कोई भी ऐसा भाव न होता जो उसके व्यक्तित्व का

अभेद्य अङ्ग न हो। क्षोभ, क्रोध, लज्जा और अपमान के दबाये हुए भाव किसी का अंग नहीं बन सकते और यही कारण है कि इन भावों से पीड़ित व्यक्ति हमेशा इनको दवाने मे ही परेशान रहता है। दबी हुई भावना बार-बार ऊपर आना चाहती है, परन्तु मनुष्य उसे दबाये रखना चाहता है। इस खींचातानी के ही फल-स्वरूप मनुष्य मे मानसिक संघर्ष या असामान्य व्यक्तित्व के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

ये लक्षण निम्न लिखित प्रकार के होते हैः—

(१) भय—जो साधारण निषेधात्मक वृत्ति से लेकर नाड़ी-दुर्बलता या नाड़ी-भंग तक का रूप धारण कर सकता है।

(२) जीवन से घोर निराशा—जिसे अतिशय मदिरा-पान या समाज का भार बनकर जीवन व्यतीत करने में देखा जा सकता है।

(३) स्वाभाविक प्रेम मे असफलता।

(४) कल्पना की उड़ान।

बार-बार शिथिलता महसूस करना या थक जाना किसी घोर मानसिक वेदना का लक्षण है। इस विषय के विज्ञापनों की बड़ी संख्या देखकर अनुमान किया जा सकता है कि मामूली परिश्रम से या बिना परिश्रम के ही इस प्रकार का अनुभव करने वालों की संख्या भी कम नहीं है। यहाँ हमारा मतलब केवल ऐसे लोगों से है जिनमे कोई अंग-भंग या शारीरिक रोग नहीं है। जहाँ आदमी समझता है कि शरीर से वह एकदम स्वस्थ है, परन्तु फिर भी

थकावट या कमज़ोरी महसूस किया करता है, वहाँ निश्चित समझ लेना चाहिए कि तकलीफ का कारण मानसिक है। अर्थात् मनुष्य एक ऐसे भाव-संघर्ष का शिकार है, जो बिना किसी प्रयोजन के भी उसकी नाड़ियों की शक्ति को क्षीण करता जा रहा है।

इस अवस्था का सबसे अच्छा दृष्टान्त होगा एक ऐसी मोटर-कार की कल्पना, जो ब्रेक लगाकर चलाई जा रही है। ब्रेक के कारण पहियों पर बराबर रोक लगी हुई है, जिससे गाड़ी की चाल-भर ही धीमी नहीं होती बल्कि आवश्यकता से अधिक पैट्रोल भी खर्च होता है और गाड़ी की मशीन पर जितना पड़ना चाहिए उससे अधिक ज़ोर भी पड़ता है। जब मन में भावों का संघर्ष होता रहता है तो मनुष्य की भी ठीक यही दशा होती है। व्यक्तित्व के विकास में यह संघर्ष ब्रेक का काम करता है, नाड़ियों की ताक़त को बेकार खर्च करके शरीर की शक्ति को क्षीण कर डालता है। इस ब्रेक को हटा दीजिए, मोटरकार और व्यक्ति दोनों ही सामान्य रीति से कार्य करने लगेंगे।

जब यह मानसिक संघर्ष और भावों का निरोध काफी समय तक बना रहता है, तो शिथिलता और थकावट के नाड़ी-विकार में परिवर्तित हो जाने की सम्भावना हो जाती है। परन्तु जिसे नाड़ी-विकार कहते हैं, वह वास्तव में एक ऐसा खिंचाव है जिसका कारण मानसिक संघर्ष होता है, न कि नाड़ी की दुर्बलता। यानी यह रोग मानसिक होता है न कि शारीरिक। और इसीलिए

इसका उपचार भी औषधि या वायु-परिवर्त्तन से नहीं हो सकता। यदि इनसे कुछ लाभ हो भी गया तो वह अस्थायी होगा, जब तक मानसिक कारण दूर नहीं हो जाता।

नाड़ी-विकार (न्यूरेसथेनिया) का सबसे भयंकर रूप नाड़ी-भंग (नरवस ब्रेकडाउन) है। इस वेदनापूर्ण अवस्था में भावों का द्वन्द्व इस हद तक बढ़ जाता है कि सारे शरीर और नाड़ी-मण्डल की व्यवस्था ही बिगड़ जाती है, उनकी शक्ति क्षीण होने लगती है। इस अवस्था के पहले और बाद में अनेक प्रकार के भ्रम और डर मालूम होने लगते हैं—जैसे किसी ऊँची जगह या कार से गिर जाने, भीड़ में गायब हो जाने या अकेले छूट जाने का डर; किसी अज्ञात खतरे, कीड़े-मकौड़े या गन्दगी का डर, मृत्यु या पागलपन का डर आदि। कहने का अभिप्राय यह है कि ये तथा अव्यवस्थित कल्पना से उत्पन्न इसी प्रकार के अन्य अनेक भ्रम उसे सताया करते हैं। कुछ ऊपरी लक्षण भी दिखाई पड़ने लगते हैं, जैसे कँपकँपी, भूख न लगना, नींद न आना, अत्यधिक दुर्बलता या दिल बैठना हुआ प्रतीत होना आदि। यदि हम इन लक्षणों की तह में पैठें तो हमें एक ऐसे भय का पता चलेगा, जिसका सम्बन्ध या तो बचपन की किसी घटना से होगा या बहुत हाल की किसी घटना से। कोई एक खास कारण ही इसके मूल में होगा, यह अनुमान लगाना मुश्किल है, क्योंकि यह व्यक्ति विशेष के विश्लेषण पर निर्भर रहता है। ये कारण सैकड़ों प्रकार के हो सकते हैं—जैसे किसी अपमान से उत्पन्न क्षोभ या उसकी

पुनरावृत्ति की सम्भावना, किसी असफलता या मान-हानि का भय या किसी गुप्त पाप के प्रगट हो जाने का भय। 'मनुष्य समाज का भार है, लोग उसकी कद्र नहीं करते'—इस प्रकार के भाव से उत्पन्न ग्लानि भी विकार का कारण वन सकती है। इसी प्रकार की अनेक परिस्थितियों से उत्पन्न भय मनुष्य के मन को इतना संतप्त कर सकता है कि वह अपनी विकृत कल्पना तथा तज्जनित अव्यवस्थित भाव का दास वन जाय।

थोड़े ही दिनों की वात है जब इंगलैण्ड के एक वहुत वड़े जज ने वग़ैर किसी स्पष्ट सामाजिक नैतिक या आर्थिक कारण के स्वयं अपने हाथों अपना जीवन समाप्त कर लिया। जज के एक मित्र ने, जो उसे वहुत निकट से जानता था, वतलाया कि जज ने स्थानीय मामलों से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे कई व्याख्यान अपनी अदालत में दिए थे, जिनकी सख्त आलोचना की गई थी। इसी आलोचना से उत्पन्न क्षोभ उसकी आत्म-हत्या का कारण था। उस मित्र ने लिखा था, "जज ने महसूस किया कि उसकी हालत कितनी दयनीय है वह अपना विचार प्रगट करने को भी स्वतन्त्र नहीं है। उसका ऊँचा पद तथा उसकी परम्परा ही उसकी महान् शक्ति और नैतिक उत्थान के मार्ग का सबसे वड़ा रोड़ा है। यही आंतरिक द्वन्द्व तथा लगातार दो वीमारियों से उत्पन्न निराशा और थकान इस युग की एक वड़ी हस्ती के दुःखद अन्त का कारण वन गये।"

कुछ लोग; चाहे वे जज, डॉक्टर, मिनिस्टर या अभिनेता हों;

अपनी सफलता का एक माप-दण्ड बना लेते हैं और उसे प्राप्त करना ही अपने जीवन का ध्येय समझते हैं। ऐसे लोग जब अपने इस स्वप्न को भंग होता हुआ या प्रभाव को क्षीण होता हुआ देखते हैं तो उनके अन्दर अपमान और पराजय की भावनाओं का ऐसा घोर द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है कि उनकी शारीरिक और नाड़ी-सम्बन्धी शक्तियों को जबर्दस्त धक्का लगता है। कभी-कभी यह खिंचाव या द्वन्द्व इतना भयंकर रूप धारण कर लेता है कि मनुष्य को जीवन से भागकर आत्म-हत्या या पागलपन की ही शरण लेनी पड़ती है।

इसके बाद हम दूसरे प्रधान लक्षण अर्थात् जीवन से घोर निराशा पर आते हैं। वर्त्तमान समाज की एक प्रधान समस्या-इन निराश लोगों को सभी जानते हैं, परन्तु इनकी इतनी बड़ी संख्या का कारण क्या है, इसे बहुत कम लोग समझते हैं। कोई भी स्त्री या पुरुष जान-बूझ कर दूसरे का आश्रित, शराबी, धोखेबाज या समाज का कोढ़ नहीं बनना चाहता। ध्यान से देखा जाय तो इनमें सभी जीवन से भागे हुए निराश लोग मिलेंगे। हालांकि लोग जल्दी स्वीकार नहीं करते, परन्तु इनमे से करीब-करीब सभी ऐसे व्यक्तित्व के उदाहरण हैं, जिन्हें अपने ऊपर से विश्वास उठ गया है। कोई भी व्यक्ति, जिसे अपनी योग्यता पर भरोसा है तथा जिसका आत्म-विश्वास बना हुआ है, इन पराश्रितों की संख्या बढाने न जायगा। अवश्य ही ऐसे लोगों को जीवन के किसी अवसर-विशेष पर घोर निराशा या असफलता

का सामना करना पड़ा है और फिर उस असहाय परिस्थिति से निकलने के लिए इससे आसान और कोई रास्ता उन्हें न सूझा। संक्षेप में इसे जीवन-संग्राम के मोर्चे से भागना कहा जायगा।

हो सकता है कि इस निराशा के मूल में बिगड़े हुए बालक का वह मोह-भंग (डिसइल्यूज़नमेंट) हो, जो उसे यह देखकर होता है कि दुनिया उसकी योग्यता का वह अतिरंजित मूल्य नहीं लगाती, जो उसने अनुमान कर रखा था। घृणा किये जाने वाले बालक के साथ होने वाली सख्ती या क्रूरता भी इसका कारण हो सकती है। कभी-कभी इस निराशा का सम्बन्ध प्रेम या व्यापार में होने वाली असफलता से भी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मूल कारण चाहे जो हो, जितने भी लोगों को हम समाज का भार बना हुआ पाते हैं, अवश्य ही वे किसी-न-किसी मोह-भंग, निराशा या व्यर्थता की गुप्त भावना से पीड़ित है।

स्वाभाविक प्रेम में असफलता हीन-भाव का एक दूसरा लक्षण है। हमारी आज की बनावटी और उलझी हुई सभ्यता में, जिसकी आत्मा रुग्ण हो चुकी है, यह मर्ज दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। अनेक लोग प्रेम और विवाह को एक पुरानी और फैशन के खिलाफ चीज़ समझने लगे हैं। लेकिन ऐसा सोचने वाले यह नहीं जानते कि वे बचपन की किसी ग़लत या दूषित शिक्षा के शिकार हैं न कि एक नई विचार-धारा के प्रवर्त्तक। स्पष्ट है कि यदि इन बिगड़े-दिमाग बहादुरों के तथाकथित प्रगति-

शील विचारों को मान लिया जाय तो शायद एकाध ही पीढ़ी में मानव-जाति समाप्त हो जायगी।

असलियत यह है कि प्रेम या विवाह केवल विषय-सुख का आवेग या सामाजिक शिष्टता-मात्र नहीं है। सृष्टि-संचालन के लिए आवश्यक आत्म-रक्षा या सृजन (सेल्फ-प्रेजरवेशन) की मौलिक वृत्ति से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि जीवों में यौन-सम्बन्ध न हो तो जाति का विनाश हो जायगा। इस प्रकार हम देखेंगे कि विवाह की प्रथा आदिकालीन निषेधों या पिछड़ेपन की निशानी नहीं है, बल्कि लम्बे जातीय अनुभव, विचार और और सामान्य बुद्धि का फल है। प्रेम के इस पवित्र बन्धन में जो लोग सन्तान वाले हो जाते हैं, वे इन्द्रिय-सुखों के शोषण से बच जाते हैं। समाज की रचना एक आधारभूत एकता के चारों तरफ की गई है, उसी पर वह रुका हुआ है और वहीं से आगे भी उसका विकास हो सकता है। इनमें से किसी भी सत्य का सामान्य उल्लंघन, युगों के कठोर अनुभव और प्रयोग से लाई गई प्रगति को ध्वंस करके मानव-जाति को पुनः आदिम अवस्था में पहुँचा देगा। हो सकता है कि इसमें बुराइयाँ आ गई हों, परन्तु संगठित समाज मे प्रचलित (विवाह) प्रथा के अतिरिक्त अन्य किसी भी तरीके से स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होना मनुष्य को व्यक्तिगत पतन, सामाजिक अव्यवस्था, और जातीय विनाश की ओर ले जायगा।

स्वाभाविक प्रेम में असफल होने वालों को हम निम्न लिखित

श्रेणियों में बाँट सकते हैं :—

(१) वे स्त्रियाँ, जो अपनी जाति को ही हीन समझती हैं।

(२) वे स्त्रियाँ, जिन्हें बचपन से ही पुरुषों से डरना या उन्हें घृणा करना सिखाया जाता है।

(३) स्त्रैण प्रकृति के पुरुष।

(४) वे पुरुष, जिन्हें स्त्रियों को तुच्छ समझना सिखाया जाता है।

(५) वे पुरुष, जो बचपन में स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाले किसी दूषित या निरोधात्मक अनुभव से भयभीत हो चुके हैं।

इनमें से प्रत्येक श्रेणी स्वाभाविक प्रेम से भिन्नता का उदाहरण है। परन्तु स्वाभाविक प्रेम में असफलता का अर्थ है कोई-न-कोई गुप्त हीन-भाव। इन श्रेणियों के लोग स्वतन्त्रता और ऊँचे ज्ञान का बाहरी आडम्बर चाहे भी जितना कर लें, भीतर से वे किसी-न-किसी हीनता का अनुभव अवश्य करते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो वे हिम्मत के साथ आगे बढ़कर अपनी आवश्यकता, समाज की माँग तथा आत्म-रक्षा की स्वाभाविक वृत्ति के अनुसार अपने यौवन का उद्देश्य अवश्य पूर्ण करते।

हीन-भाव का अन्तिम लक्षण है कल्पना की उड़ान। कल्पना की उड़ान का अर्थ है जिम्मेदारियों, बाधाओं और वेदनाओं से भरे हुए वास्तविक संसार से निकलकर सफलताओं और विजयों से भरे [illegible]-संसार में विचरण करने लगना। सृष्टि के

आरंभ से ही मानव-जाति ऐसी परिस्थितियों से, जो उसे हिम्मत पस्त कर देती हैं, निकलकर भागने के लिए इस मानस-यंत्र का प्रयोग करती रही है। अपने वन्दी-जीवन तथा अन्य राष्ट्रों की परतन्त्रता के दिनों में यहूदी जाति निरन्तर अपने शत्रुओं पर विजय पाने का स्वप्न देखा करती थी। दक्षिणी अमरीका के कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों में अफ्रीका से ले जाये गए नीग्रो, जिन्हें गुलामों की तरह रखा जाता था, अपनी स्वतन्त्रता और विजय के गीत गाया करते थे। सब प्रकार से पूर्ण और आदर्श समाज की जितनी कल्पनाएं (यूटोपियाज़) की गई हैं, सभी एक प्रकार की उड़ान है—प्रस्तुत से आदर्श तक पहुँच जाने की आत्मा की उड़ान।

मजदूर-कुमारी दिन-भर अपने दफ्तर या कारखाने में बन्द रहने के बाद शाम की थकावट और उदासी से छुटकारा पाने के लिए अपने सर्वप्रिय अभिनेता की उपासना मे मग्न हो जाती है। कल्पना की दुनिया में वह अपने को शकुन्तला के आसन पर बिठा लेती है, जिसके सामने रूप-सम्राट् महाराज दुष्यन्त प्रेम और भक्ति में नत हैं। इस दृष्टिकोण से सिनेमा, थियेटर या अच्छा साहित्य एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। खतरा यही रहता है कि कहीं व्यक्ति इन स्वप्नों और कल्पनाओं का इस कदर वन्दी न वन जाय कि वह असली संसार मे प्रयत्न और साहस की आवश्यकता ही भूल जाय। जब कभी वास्तविकता के क्षेत्र से यह मानसिक उड़ान सीमा के बाहर पहुँच

जाती है, तो व्यक्ति को काल्पनिक महानता और ऐश्वर्य का भ्रम होने लगता है। शक्ति और अधिकार वाले व्यक्तियों को यह भ्रम गम्भीर परिस्थिति में डाल सकता है। जैसा किसी ने भूतपूर्व कैसर विलियम के बारे में कहा है—"निस्सन्देह उसकी टूटी हुई बाँह से उत्पन्न हीन-भाव ही विश्व-विजय करने की उसकी महती आकांक्षा का असली कारण था। प्रौढ़ावस्था में जर्मन-चांसलर बिस्मार्क को, जो उसका रक्षक बना होता, कैसर द्वारा बरखास्त किया जाना इसी प्रबल आकांक्षा का फल था। इसी आकांक्षा ने उससे घोषणा करवाई थी कि 'मेरे बग़ैर संसार में कुछ न किया जायगा'।" और जैसा कि आजकल भी बार-बार कहा जाता है १६१४-१८ के महायुद्ध की पराजय से उत्पन्न हीन-भाव ही है, जो आज जर्मनी को संसार का अद्वितीय, सर्वश्रेष्ठ और अमर राष्ट्र बनने की कल्पना में मग्न किये हुए है।

ये ही हीन-भाव के प्रधान लक्षण हैं। जैसा अब स्पष्ट हो गया होगा कि इस भाव का कारण या तो जीवन के प्रति एक ग़लत दृष्टिकोण है या भावों का विकृत विकास। इस परिस्थिति का सामना कैसे किया जाय, इस पर हम अगले परिच्छेद में विचार करेंगे।

४

हीन-भाव का विश्लेषण और उपचार

हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए किसी भी व्यक्ति में हीन-भाव का पाया जाना कोई असाधारण बात नहीं है। शायद बहुत थोड़े-से लोग ऐसे हैं जो इससे एकदम बचे हों, वर्ना सभी किसी-न-किसी समय इस भाव का अनुभव करते हैं। आपको यह जानकर संतोष होगा कि संसार के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों ने ऐसे शरीरिक दोषों पर विजय पाई है, जिनका यदि उन्होंने साहस के साथ सामना न किया होता तो सम्भवतः वे जीवन-संग्राम से निराश हो गए होते। उदाहरण के लिए जूलियस सीजर को ले लीजिए। वह शरीर से बहुत कमजोर था तथा उसे मिरगी के दौरे आते थे। परन्तु सीजर ने इस शरीरिक असमर्थता को अपनी कमजोरी पर विजय पाने तथा अपने जीवन-लक्ष्य तक पहुँचने में बाधा न बनने दिया। बीदोवेन एक विचित्र प्रकार के बहरेपन से पीड़ित रहा करता था, परन्तु इस कमी को पूरा करने के सतत प्रयत्न ने ही संगीत समझने और उसका आनन्द लेने की उसकी योग्यता को बहुत बढ़ा दिया। यदि वाइकाउण्ट स्नोडेन २७ वर्ष की अवस्था में एक भयंकर साइकिल-दुर्घटना मे न पड़ा होता तो इसमे सन्देह है कि वह इतनी लगन और परिश्रम के साथ अपना सारा जीवन समाज-सुधार में लगा सकता। प्रेसिडेण्ट रूजवेल्ट

बचपन में शरीर से बहुत कमज़ोर थे और इसका उनके व्यक्तित्व और आचरण पर काफी प्रभाव पड़ा। उनका अटूट आत्म-विश्वास और विरोधियों पर विजय पाने की शक्ति बचपन की इस दुर्बलता के विरुद्ध संघर्ष का ही फल है।

हीन-भाव का होना कोई बड़ी चिन्ता की बात नहीं है। असल चीज़ तो यह है कि उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है या उस पर हम किस प्रकार विजय पा सकते हैं। यदि हीन-भाव का मुकाबिला साहस और परिश्रम के साथ किया जाय तो वह व्यक्ति को सफलता के शिखर पर पहुँचा सकता है। दूसरी तरफ यदि उसे व्यक्तित्व के ऊपर हावी हो जाने दिया गया तो वह स्वास्थ्य और चरित्र दोनों को बिगाड़ देगा।

जैसा पहले भी बताया जा चुका है शरीर के अंगों में किसी प्रकार का दोष आ जाना हीन-भाव का एक प्रधान कारण है। भावुक बच्चों में इस प्रकार की कमज़ोरी या अंग-दोष हीनता की ज़बरदस्त भावना पैदा कर देता है और किशोर या प्रौढ़ावस्था में इसका भयंकर असर जीवन से एकदम निराशा के रूप में प्रगट हो सकता है। पिछले परिच्छेदों में हमने इस प्रकार की निराशा तथा अन्य लक्षणों की व्याख्या की है; उनका फिर से विस्तार करना आवश्यक नहीं।

हीन-भाव से पीड़ित बालक या प्रौढ़ को अपनी हीनता का सही मुआविज़ा प्राप्त करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि हीनता का कारण कोई शारीरिक दोष

है तो व्यक्ति को ऐसा हुनर प्राप्त करने की ट्रेनिंग दी जानी चाहिए, जो स्वयं उसकी निगाहों में तथा समाज की निगाहों में उसकी योग्यता और मूल्य को उसकी कमी के मुकाबिले कहीं बहुत अधिक बढ़ा दे।

यदि शारीरिक दोष ऐसा है जिसे दूर नहीं किया जा सकता या जिसका मुआविजा नहीं हासिल किया जा सकता, तो उसे साहस और स्वाभाविक भाव से स्वीकार करना चाहिए। आखिर दोष के लिए उस व्यक्ति की तो कोई जिम्मेदारी है नहीं, और न ऐसे दोषों की तरफ कोई निन्दा या अपमान की दृष्टि से ही देखता है। यदि किसी के चेहरे या आकृति में, हाथ, पैर या आँख में कोई खराबी हो, बालों का रंग साधारण से भिन्न हो या वे अवस्था से पहले ही गिर गये हों, तो शायद ही कोई इनकी तरफ ध्यान देता हो। असल चीज जो देखी जाती है, वह है मनुष्य का भाव तथा समाज के प्रति उसकी सेवा। मनुष्य के आदर का कारण उसकी शारीरिक पूर्णता नहीं (हालांकि उसे क्षुद्र नहीं कहा जा सकता) बल्कि समाज के लिए उसकी उपयोगिता है।

जो विशेषताएं हमें अपने समान्य साथियों से ऊपर उठा देती हैं, वे हैं हमारा व्यक्तित्व, सामर्थ्य, योग्यता तथा विशेष कौशल। इस प्रकार जहाँ एक तरफ ये हमें उनसे अलग करती हैं, वहीं दूसरी तरफ व्यक्ति की मानवोचित दुर्बलताएं तथा उसके सम्मिलित सुख दुःख ऐसी विशेषताए हैं जो उसे और उसके साथियों को एक बना देती हैं। इस प्रकार हमारी असमर्थता का चाहे जो भी

रूप हो, उसे हमें भाई-चारे के बन्धन में बाँधना चाहिए, न कि अलग करना।

दूसरी श्रेणी, जो हीन-भाव का शिकार बनती है, वह है बिगड़े हुए बालकों की, जिन्हें बचपन से ही यह विश्वास करना सिखाया जाता है कि अपनी दुनिया के केन्द्र वे ही हैं। एक प्रकार से उनका विश्वास ठीक भी है, क्योंकि अपने घर के वातावरण में सचमुच उनकी वही स्थिति रही है। लेकिन इस विश्वास को लेकर जब वे विस्तृत संसार में प्रवेश करते हैं तो उनका सारा स्वप्न भंग हो जाता है। बाहर की दुनिया उनके अतिरंजित विचारों तथा अपने को अद्वितीय समझने की उनकी भावना की तरफ निगाह भी नहीं डालती; उल्टे वह अपने ही निराले ढग में मस्त होती है। यदि बिगड़े हुए बालक में इस नई परिस्थिति का सामना करने के लिए आवश्यक योग्यता और साहस की कमी हुई तो वह जीवन से एकदम निराश होकर या तो उन बुराइयों का, जिनका हमने पिछले परिच्छेद में जिक्र किया है, शिकार हो जायगा या किसी नाड़ी-विकार का रोगी बन जायगा।

एक-दो दृष्टान्त देकर हम इस परिस्थिति को और भी स्पष्ट कर सकते हैं। प्रोफेसर मेकेञ्जी ने अपनी एक पुस्तक में बतलाया है कि किस प्रकार एक बी०ए० का विद्यार्थी अपने दूसरे वर्ष में एकदम निराश होकर बैठ गया। उसे अपने काम में कोई भी दिलचस्पी न रह गई तथा उसमें नाड़ी-विकार (न्यूरेसथेनिया) के स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ने लगे। उन्होंने आगे लिखा है कि "पता

लगाने पर मुझे मालूम हुआ कि जिस स्कूल से यह लड़का आया था. वहाँ इसने प्रथम स्थान प्राप्त किया था। जब मैंने उसके स्कूल-जीवन का अन्वेषण करना आरम्भ किया तो फौरन मुझे पता चला कि स्कूल में उसकी ऊँची सफलता का कारण पढ़ाई के विषयों में उसकी कोई खास दिलचस्पी नहीं, वरन् शाबासी पाने की एक जबरदस्त आकांक्षा थी। और दूर तक खोज करने पर मालूम हुआ कि काफी ऊँची अवस्था में किये हुए एक दूसरे विवाह की वह अकेली सन्तान है तथा पहली स्त्री के सयाने बच्चों के मुकाबिले वह घर-भर का दुलारा 'छोटा मुन्ना' बनकर रह आया है। क्लास में पहले नम्बर के अलावा और कहीं बैठना वह सहन नहीं कर सकता था, परन्तु यूनिवर्सिटी में यह बात बड़ी मुश्किल होती है। नतीजा यह हुआ कि इस धक्के को वह बर्दाश्त न कर सका और उसने हिम्मत छोड़ दी। लेकिन निरन्तर सम्पर्क और साहचर्य के द्वारा ज्यों-ज्यों हम लोगों ने उन घटनाओं और प्रेरणाओं को, जिनका उसके बचपन और स्कूल-जीवन मे प्रभुत्व था, धीरे-धीरे उसकी स्मृति से निकाल दिया, त्यों-त्यों उसकी तन्दुरुस्ती और दिलचस्पी भी लौट आई, और आज वह अपनी योग्यता के अनुसार जितना अच्छा हो सकता है, काम कर रहा है।"

दूसरा उदाहरण एक ऐसे बालक का है जो अपने माता-पिता की आँखों का तारा था। वह उनकी इकलौती संतान था तथा बचपन मे उसका अतिशय लाड़-प्यार किया गया था। जब वह तीन वर्ष का था, बहुत जोरों से बीमार पड़ा। माता-पिता उनके

जीवन से निराश हो गये थे, परन्तु फिर भी उनकी अनवरत सेवा और शुश्रूषा के कारण बालक अच्छा हो गया। लेकिन उसके बाद भी, जब बालक एक प्रकार से समाज की सम्पत्ति बन जाता है, इस बात में उसकी मदद करने की जगह कि बालक अपनेपन को भूल न जाय, उन्होंने बराबर उसकी प्रशंसा करनी तथा उसकी सुन्दरता और शक्ति का जिक्र करना जारी रखा। यह प्रशंसा उसके जीवन-भर चलती रही और नतीजा यह हुआ कि अपनी दुनिया के बाहर वह न जा सका। उसके माता-पिता उसकी छोटी-छोटी जरूरतों और इच्छाओं को भी पूरी करते रहे। जब वह कालेज में दाखिल हुआ तो उसे वहाँ अच्छा न लगा, उसके साथियों ने उसे यों ही साधारण लड़का समझा। यह चीज़ ऐसी थी जिससे उसके अहंकार को चोट लगती थी, क्योंकि अब तक तो उसने अपने को सुन्दरता और गुणों का अवतार समझ रखा था। कई कालेज बदलने के बाद उसने किसी तरह डिग्री प्राप्त की। अब भी अद्वितीयता का उसका पुराना भाव बना था। उसे एक बड़े कारखाने में रसायन-शास्त्री (कैमिस्ट) का स्थान मिल गया। यहाँ भी लोगों ने उसकी योग्यता में कोई खास बात न देखी और उम्मीद करने लगे कि दैनिक वेतन के लिए वह पूरा काम करेगा। ऊपर से कारखाना वह जगह ठहरी जहाँ अपना काम पूरा करने के लिए प्रशंसा तो दूर रही, छोटी-सी ग़लती के लिए भी ठोकरें अवश्य मिलती हैं। किसी ने भी उसका कोई खास ख़याल न किया। उसे यह देखकर कि उसका अपना कोई ऑफिस नहीं है, और भी निराशा हुई। उसकी समझ में नहीं आता था कि आख़िर

कुछ हफ्ते काम करने के बाद उसकी तरक्की अब तक क्यों न हुई? अपने ख़याल से जितना वेतन उसे मिलता था उसकी योग्यता उससे कहीं बहुत अधिक थी। दूसरी तरफ कारखाने के लोग समझने लगे कि वह एक अजीब किस्म का आदमी है और किसी ने भी घर की तरह उसकी प्रशंसा न की। क्रोध के आवेश में एक दिन उसने मैनेजर से कह ही दिया कि यदि उसका ख़याल न किया गया तो वह वहाँ नहीं रुक सकता। मैनेजर ने उसे समझाया कि ज्यों ही उसे मालूम हो जायगा कि उसकी योग्यता अधिक हो गई है, फ़ौरन वह उसकी तनख्वाह बढ़ा देगा। अंत में उस व्यक्ति ने नौकरी छोड़ दी और आज वह बिना किसी काम का है। वह घर पर पड़ा रहता है, जहाँ उसे वह प्रशंसा और खातिर मिलती है, जिसे वह बाहर की क्रूर दुनिया में, जो सफलता के अलावा और किसी चीज़ की प्रशंसा नहीं करती, कभी न मिल सकी।

बिगड़े हुए बालक को सयाना होने पर यह समझना ही पड़ता है कि वह अद्वितीय नहीं है और दुनिया से उसे उस रियायत और लाड़-प्यार की आशा न करनी चाहिए जो उसके माता-पिता से मिलता रहा है। उसे अदम्य साहस, अटूट निश्चय, योग्यता तथा सहयोग से जीवन का सामना करते हुए विशाल मानव-समाज की एक स्वस्थ इकाई बनकर रहना चाहिए।

ऊपर की बातें उस बालक पर भी, जो घृणा और उपेक्षा से भरा हुआ बचपन देखकर सयाना होता है, इतनी ही लागू होती

हैं। कितने ही समझदार लोग इस बात को कि अमुक व्यक्ति कहाँ और किस माता-पिता से पैदा हुआ है, कोई महत्त्व नहीं देते। वे इतना ही जानना चाहते हैं कि वह क्या कर सकता है और उसका अपने प्रति क्या विचार है। ऐसे लोगों का उद्देश्य केवल यही है कि मनुष्य सहयोग और सेवा के भाव से औरों के पास जायगा तो वह देखेगा कि दुनिया उससे दोस्ती करने तथा उसकी मदद करने के लिए तैयार है।

फिर भी चाहे यह उपदेश कितना ही सत्य और अच्छा क्यों न हो, अनेक ऐसे स्त्री और पुरुष मिलेंगे जो बचपन के किसी दूषित अनुभव के कारण इस उपदेश का पालन करने में असमर्थ होते हैं। उनके लिए अपने गहरे हीन-भाव पर अधिकार पाना मुश्किल हो जाता है।

४० वर्ष के एक आदमी का किस्सा है। संयोग ऐसा हुआ कि इस आदमी ने एक के बाद दूसरी करके लगातार कई नौकरियाँ खो दीं। उसे एक नई नौकरी की दरख्वास्त लेकर लन्दन भेजा गया। जब मैनेजर उससे बातचीत करने के लिए आया तो वह बुरी तरह काँपने और हकलाने लगा। 'हाँ' की जगह 'नहीं' और 'नहीं' की जगह 'हाँ' कह कर उसने इतना बुरा ख्याल पैदा किया कि उसे अयोग्य कहकर हटा दिया गया। एक दूसरी नौकरी की खोज में वह किसी और शहर में गया। ज्यों ही मैनेजर सामने आया, अभागे आदमी ने दोनों हाथों से मुँह छिपाकर बच्चों की तरह सिसकियाँ भरना आरम्भ कर दिया। अपने रोने का वह

कोई कारण न बता सका। कोई ज्ञात कारण था भी नहीं। परन्तु उसके इस स्पष्ट हीन-भाव का कारण उसके बचपन से निकाला जा सकता था। एक लम्बे परिवार का वह आखिरी बच्चा था। उसकी कोई जरूरत न थी। स्वयं अपने माँ-बाप से भी उसे पता चला कि उसका जन्म यों ही अकस्मात् हो गया। उसकी शिक्षा में कोई विशेष दिलचस्पी न ली गई। उसकी मौजूदगी में अन्य भाई और बहनों की बराबर तारीफ की जाती थी। अपनी तारीफ सुनने का मौका उसे कभी न मिला। उसके पिता को बार-बार उससे यह कहते रहने का अभ्यास-सा हो गया था, "पता नहीं तुम जिन्दगी में क्या कर पाओगे। एक भी चीज तो ऐसी नहीं जिसे तुम ठीक-ठीक कर सको। किसे तुम सोचते हो कि तुम्हें नौकरी दे देगा ?" एक रात लोगों ने उसे मकान के सबसे ऊपरी कमरे में सिसकियाँ भरते पाया तथा उसी रुखाई के साथ पूछा, "तुम्हें क्या हो गया ?" "मेरी किसी को दरकार ही नहीं।" रोते हुए उसने कहा और बात सच थी। कोई भी तो उसे नहीं चाहता था। फिर इसमें क्या ताज्जुब है कि जब किसी को उस पर विश्वास न था, तो उसको अपने ऊपर भी विश्वास न रह गया।

यही उपेक्षा और घृणा किये जाने वाले बालक की करुण कहानी है। बचपन से ही बेचारे के मन में हीनता का भाव इस क़दर समा जाता है कि किशोर और प्रौढ़ावस्था तक बना रहता है और इस प्रकार साहस, सहयोग और आशा के साथ संसार में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सकने की उसकी योग्यता मारी

जाती है। उपेक्षित बालक का पालन ही इसी विश्वास में होता है कि समाज में उसकी कोई उपयोगिता नहीं और इसलिए उसे जीने का भी कोई अधिकार नहीं है। ऐसे अभागे व्यक्ति का उद्धार इसी में है कि वह कोई ऐसा हुनर सीख ले जो उसे अपने साथियों की मित्रता और आदर का पात्र बनाकर उसके आत्म-सम्मान को जागृत कर सके। यदि बचपन में उसे कोई नहीं चाहता था तो सयाना होने पर ऐसा बन जाना चाहिए कि सभी लोग चाहने लगें। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए उसे जीवन का सामना निरन्तर अध्यवसाय, साहस और सन्तोष के साथ करना पड़ेगा। इन सब में देर भले ही लगे या कुछ समय तक लोग इसे ग़लत समझें, परन्तु अन्त में निःस्वार्थ सेवा और मानव-प्रेम का फल लोगों की सदिच्छा तथा मित्रता में मिलना अवश्यम्भावी है और तब सम्भवतः ही मनुष्य-समाज में अपनी चाह और आवश्यकता भी महसूस करने लगेगा। जैसा किसी प्राचीन महर्षि ने कहा है—एक बार खोकर ही हम अपने को पुनः प्राप्त कर सकते हैं।

हीन-भाव पर अधिकार पाने के लिए यह परमावश्यक है कि हम अपनी प्रधान प्रवृत्ति का ठीक-ठीक पता लगा लें, दूसरे शब्दों में, हमें अपने जीवन-लक्ष्य का भली-भाँति विश्लेषण कर लेना चाहिए। कहीं हमारा लक्ष्य ऐसा तो नहीं है जिसे प्राप्त करना असंभव हो या इतना ऊँचा तो नहीं है कि उस तक पहुँचना हमारी सामर्थ्य के बाहर हो? उस लक्ष्य के पीछे कोई स्वार्थ-

भावना है या समाज-हित की भावना है ? कोई दूसरा लक्ष्य तो ऐसा नहीं है जो हमारी स्वाभाविक योग्यता और सामर्थ्य के अधिक अनुकूल है ? जीवन में उसका उपयोग अच्छा होगा या बुरा ?

जैसा कि हमने पहले भी बताया है, इन बातों का पूर्ण विश्लेषण कर लेना इसलिए आवश्यक है कि जब मनुष्य अपने सामने कोई असंभव, स्वार्थ-पूर्ण या व्यर्थ का लक्ष्य रख लेता है और उसे हमेशा ही अपने से दूर भागता हुआ देखता है तो उसकी निराशा का ठिकाना नहीं रहता तथा उसे अपने सारे परिश्रम की व्यर्थता पर गहरा क्षोभ हो उठता है। उचित लक्ष्य के लिए परिश्रम करने से निराशा कभी नहीं होती चाहे वह लक्ष्य प्राप्त हो या न हो, क्योंकि अच्छा परिश्रम स्वयं भी एक प्रकार का फल है। जब भी हमारा लक्ष्य ग़लत होता है और हम व्यर्थ की व्यक्तिगत शान के लिए परिश्रम करते हैं, तभी लक्ष्य-प्राप्ति में असफलता हमारे निरुत्साह, मस्तिष्क-विकार या अस्वास्थ्य का कारण बनती है। इस विषय पर कविवर हिलेर बेलॉक के शब्द कितने सुन्दर हैं :—

> "सुखमय घरों को छोड़कर जब हम अपने अज्ञात लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं तो आरंभ से लेकर लक्ष्य तक पहुँचने की हमारी थकान का सुन्दर उपहार मित्रों के स्नेह और हास्य से बढ़कर और क्या हो सकता है।"

ऐसा बहुधा देखा गया है कि जब मनुष्य-जीवन के प्रति

आवश्यकता से अधिक अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को समझ जाता है और उसकी जगह उससे अधिक स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण धारण कर लेता है, तो उसका हीन-भाव अपने-आप दूर हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के दो प्रधान शत्रु हैं—स्वार्थ और अज्ञान। इन पर विजय पाना परमावश्यक है और यह तभी हो सकता है जब हमारे अन्दर आत्म-ज्ञान का प्रकाश हो जाय तथा हम दूसरों के हित को अधिक महत्त्व देने लगें। इस खयाल से यदि हम बैठकर सभी संभावित ग़लत दृष्टिकोणों तथा विकृत भावों के कारणों का विश्लेषण कर लें तो इससे बड़ी सहायता मिलेगी। नीचे लिखी सूची को हम नमूने के तौर पर ले सकते हैं :—

शारीरिक दोष

क्या मैं अपने अंग-दोष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व तो नहीं देता ?

क्या मैं और लोगों की राय की बहुत अधिक परवाह तो नहीं करता ?

क्या मैंने अपने दोष का कोई अच्छा-सा 'मुआविज़ा' प्राप्त करने का प्रयत्न किया है ? इत्यादि।

बिगड़ा हुआ बालक

क्या मैं अब भी बचपन के ही भावों में डूबा रहता हूँ ?

क्या मैं आशा करता हूँ कि दुनिया मेरे साथ उसी

प्रकार का व्यवहार करे जैसा मेरे माता-पिता किया करते थे?

क्या मैं अपने को अद्वितीय या औरों से बढ़कर समझता हूँ या लोगों के सामने स्वार्थ-पूर्ण माँगें पेश कर दिया करता हूँ?

क्या जब लोग मेरी तरफ आकर्षित नहीं होते या आदर नहीं प्रगट करते तो मैं निराश हो जाता हूँ?

क्या बड़ा बनने का मेरा लक्ष्य स्वास्थ्य और समाज के लिए भी उपयोगी है?

किस व्यक्ति के मुकाबिले में बड़ा हो जाना चाहता हूँ और क्यों?

क्या मैं जीवन का सामना आशा और साहस के साथ कर रहा हूँ? इत्यादि।

घृणा और उपेक्षा किया हुआ बालक

क्या मुझे इस बात से भी डर लगता है कि लोग मुझे एक आदरणीय ग़रीब समझे?

किस व्यक्ति से मैं अपने को हीन समझता हूँ और क्यों?

क्या अपने बचपन के अनुभवों के कारण मैं अपने साथियो से घृणा करता हूँ?

क्या मैं सामाजिक कायर हूँ या लोगों के सामने जाने से झिझकता हूँ?

क्या मै जीवन की ज़िम्मेदारियों से भाग रहा हूँ?

क्या किसी भय के कारण मैं अपने भावात्मक जीवन का निरोध कर रहा हूँ? इत्यादि।

जब आप इन तथा ऐसे ही और प्रश्नों का उत्तर निकालकर अपने को ठीक-ठीक समझ लेते हैं, तब आपको अपने ठोस गुणों का पता लगाना चाहिए। दुनिया में ऐसा कोई है ही नहीं, जिसमें कोई-न-कोई अच्छा गुण न हो या ऐसी कोई योग्यता न हो, जिसमें वह औरों से बढ़कर हो। हीन-भाव से पीड़ित व्यक्ति को शान्तिपूर्वक उन गुणों को आँकना चाहिए और उन्हीं के आधार पर प्रयत्न करना चाहिए। हमेशा आपको अपने कल्पित दोषों के मुकाबले में अपनी योग्यता और सामर्थ्य पर, चाहे वह जिस भी दिशा में हो, अधिक जोर देना चाहिए।

हाल में ही हमने एक ऐसी युवती नर्स के बारे में पढ़ा जो भयंकर हीन-भाव से पीड़ित रहा करती थी। एक शाम को डॉक्टर लेक्चर दे रहा था और विषय समाप्त कर लेने के बाद उसने लड़कियों से प्रश्न पूछने प्रारम्भ किये। पहली नर्स ने सवाल का जवाब अधूरा दिया। दूसरी लड़की के जवाब पर डॉक्टर ने बहुत नाक-भौं सिकोड़ीं। तीसरी लड़की जब जवाब देकर बैठ गई तो डॉक्टर ने उसके जवाब की बड़ी खिल्ली उड़ाई। अब जब हीन-भाव से पीड़ित नर्स की बारी आई तो वह एकदम घबरा गई। उसने बिलकुल ही ग़लत जवाब दिया।

इस घटना ने उसे बेहद दुखी कर दिया और उसे अपने ऊपर बड़ा क्रोध आया। उस रात उसकी नींद हराम हो गई और वह बिस्तर में पड़े-पड़े सोच रही थी कि किस प्रकार अपनी इस दुर्बलता पर विजय पाये। एकाएक उसे याद आया कि कुछ ही

दिन पहले उसने एक पर्चा किया था जिसके ऊपर उसी डॉक्टर ने लिखा था, "अपनी श्रेष्ठता के लिए दर्शनीय।" इस घटना ने उसे विचार-मग्न कर दिया। बिस्तर में लेटे-लेटे ही उसने अपने-आप से कहा, "यदि मैं उस पर्चे को इतना अच्छा लिख सकी, तो मेरा दिमाग़ जरूर अच्छा होना चाहिए।" वहीं से उसने अपने ठोस गुणों का विकास करना आरंभ किया और अंत में अपने हीन-भाव पर पूरी तरह काबू पा लिया। हीन-भाव हम सभी में मौजूद हैं, कोई भी उनसे बचा नहीं है, परन्तु साथ ही हमारे ठोस भाव भी हैं जिनका सम्बन्ध हमारे विशिष्ट गुणों तथा सामर्थ्य से है, चाहे वे जिस भी प्रकार के हों, हमारा काम इन्हीं ठोस गुणों के आधार पर जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण का निर्माण करना है न कि हीन-भावों के आधार पर। और तभी हम श्रेष्ठता प्राप्त करके आत्म-सम्मान का विकास कर सकते हैं।

हमने गहरे हीन-भावों का विश्लेषण अभी तक छोड़ रखा था, क्योंकि उनके लिए अलग व्याख्या की आवश्यकता है। पिछले एक परिच्छेद में दिखाया गया है कि यह भाव बचपन या सयानेपन के किसी दूषित अनुभव के फल होते हैं। इस अनुभव-जन्य भाव को दबा देने से वह घटना-विशेष तो भूल गई, परन्तु इससे उत्पन्न हीन-भाव मानव की अबोध-चेतना का अंग बन गया। सच पूछिए तो इन भावों की विशेषता ही यह है कि मूल घटना की स्पष्ट स्मृति तो जाती रही, परन्तु हीन-भाव विष की

तरह अबोध चेतना में चक्कर काटता बना रहा। जब तक इस विष को निकाल न दिया जाय, मन का स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता।

प्रयोग करके देखा गया है कि जब उस मूल घटना को याद करके उससे सम्बन्धित हीन-भाव को चेतन मानस का अंग बनाकर निकाल दिया जाता है तो मन की व्यथा अपने-आप दूर हो जाती है।

असली कठिनाई उस घटना या अनुभव को, जो सारी तकलीफ का कारण है, याद करने से होती है। ऐसे तमाम मामलों में किसी कुशल मानस-शास्त्री या संभव हो वो वैद्यक का भी ज्ञान रखने वाले मनोवैज्ञानिक से मदद लेकर उपचार कराना चाहिए। जब भी हम कभी किसी शारीरिक कष्ट से पीड़ित होते हैं तो फौरन किसी वैद्य या डॉक्टर के पास जाते हैं। मानसिक विकारों के प्रति भी हमें ठीक इसी प्रकार के सयाने दृष्टिकोण का सहारा लेना चाहिए। मानस-शास्त्र का ज्ञान और कौशल इतना आगे तक उन्नति कर गया है कि किसी व्यक्ति को मानसिक दृष्टि से लँगड़ा जीवन बिताने की आवश्यकता नहीं। एक कुशल मानस-शास्त्री की सहायता से मानस-विकार से पीड़ित व्यक्ति को जीवन के उस राज-मार्ग पर रखा जा सकता है, जो उसे व्यक्तिगत आनन्दपूर्ण जीवन तथा सामाजिक उपयोगिता की ऊँची मंजिल तक पहुँचा दे।

"मैं उस गायक से एकदम सहमत हूँ जो वीणा के एक ही तार पर विविध राग निकालता हुआ गाता है कि अपनी दुर्बलताओं की सीढ़ी से भी मनुष्य-उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।"

—टेनीसन : इन मेमोरियम।

बचपन के

पहले पांच साल

फैरडानन्ड लेडाल
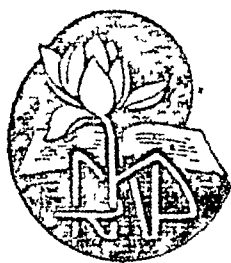
बच्चों से व्यवहार रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के
लिए अत्यन्त उपयोगी पुस्तक

बचपन के

पहले पांच साल

[जन्म से विद्यालय तक]

लेखक

आर. मैक्डानल्ड लेडाल

अनुवादक

पं० अमरनाथ विद्यालंकार

दिल्ली

राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
दिल्ली।

मूल्य एक रुपया

मुद्र
अमरच
राजहंस प्रे
दिल्ली, २२-४

प्रकाशक की ओर से

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक साहित्य का प्रायः अभाव है । इस ओर न तो मौलिक ही और न ही अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि का यत्न हुआ है । संभव है इसका कारण यह रहा हो कि प्रकाशक ऐसे साहित्य को बेच सकने मे असमर्थता का अनुभव करते हों, क्योंकि एक तो विषय गम्भीर और शुष्क है और तिस पर हिन्दी-लेखकों और विचारकों का इस ओर ध्यान भी नहीं गया है।

जो भी हो, हमने इस अभाव को पूरा करने की चेष्टा-भर की है।

अंग्रेजी में मनोविज्ञान संबधी अनंत भण्डार है। हिन्दी में मौलिक ग्रन्थों के अभाव में अनुवाद किये हुए साहित्य के प्रकाशन का निश्चय करके हमने अंग्रेजी में प्रकाशित एक लोकप्रिय मनोविज्ञान-माला के भारत के लिए एकाधिकार प्राप्त किये हैं और तदनुसार यह 'राजकमल मनोविज्ञान माला' प्रकाशित हो रही है।

इस 'मनोविज्ञान माला' के अतिरिक्त अंग्रेजी के मनोवैज्ञानिक उच्च विचारकों द्वारा लिखित पुस्तकों के प्रकाशन का प्रबन्ध भी हम कर रहे हैं। इस योजना से ऐल्फ्रेड ऐड्लर, वैरन वुल्फ़, जङ्ग और फ्रायड जैसे दार्शनिकों की पोथियां भी हिन्दी में शीघ्र ही उपलब्ध हो सकेंगी।

हमें आशा है कि हिन्दी-जगत् में हमारे इस प्रयास का स्वागत होगा।

क्रम

माता पिता से

"वाह, क्या खूब ! एक बिलकुल अपरिचित व्यक्ति हमें यह बतलाने आया है कि हम अपने बच्चो के साथ कैसा सलूक करे ! मै तो लोगो की इस किस्म की बिनमागी नसीहत को सुनते-सुनते थक गई हू । मुझे अच्छी तरह मालूम है जब मेरी मा ने मुझे पाला-पोसा था तो इसके लिए उसने कोई किताबें नही पढ़ी थी । बल्कि प्रत्येक मां को कुदरत ने जो मामूली समझ-बूझ दी हुई है उसी का उसने आसरा लिया था।"

हमारी माताएं इसी तरह का जवाब देगी, जब उन्हे इस पुस्तक को पढने के लिए कहा जायगा ।

इसलिए मै आरम्भ ही मे आपको बतला दूं कि आपको क्यो इस किताब को पढने की जरूरत है ।

१. आम तौर पर लोग "कुदरत की दी हुई मामूली समझ-बूझ" का अभिप्राय वही समझते है जैसा सब लोग करते चले आये है। क्योकि हर कोई पुरानी परम्परा से खूब वाकिफ होता है, और बिना सोचे-समझे बड़े-बूढो की राह पर चलते रहना हर किसी को बहुत सहल लगता है ।

२. हम बच्चो का सारा भविष्य उनके सजोग या भाग्य के आसरे नही छोड़ सकते । हम एक ऐसे जमाने मे रह रहे है जहा हमारी नसो या ज्ञान-तंतुओ पर इतना अधिक

खिचाव पड रहा है जितना हमारे बुजुर्गो की किसो पुश्त को बर्दाश्त नही करना पडा था। यही कारण है कि आजकल नसो की बीमारियों मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

३. सभी ओर हमें मनुष्योचित गुणों की कमी दिखाई पड रही है। आज की गडबड़ाई हुई दुनिया को सवारने के लिए हमें सर्वश्रेष्ठ मानव की आवश्यकता है। क्यों न आपके लड़के और लडकिया इस योग्य बन जाय कि उनकी गणना ससार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियो मे की जाय।

आपकी यह प्रबल अभिलाषा है कि आपके बच्चे अपनी जिन्दगी मे आपसे बढ-चढ़कर कुछ कर दिखाए। अपनी सारी जिन्दगी पर एक-बारगी नजर दौडाने के बाद आप अक्सर पछताने लग जाते है कि कितना समय यूँ ही व्यर्थ खो गया। अपने जीवन मे कितनी निराशाओ, विफलताओं और फिक्र-चिन्ताओ से आपको मुकाबला करना पडा है। क्या आप यह चाहेगे कि आपके बच्चे आपके पिछले तजुर्बो से फायदा उठा-कर एक नई राह अख्तियार कर, और जहाँ तक मुमकिन हो, उन भूलो और परेशानियो से बच जाय, जिनके कारण आपको पछताना पड रहा है।

इस पुस्तक के लेखक को न तो कोई सनक सवार है, और न उसे व्यर्थ किसी किस्म का वहम ही है, जिसके असर में वह यूँ ही मामूली बातो को बडा गूढ बनाकर किताब लिखने बैठा हो। इस किताब की बाते बिलकुल सहल और

मामूली समझ-बूझ से ताल्लुक रखती हैं, जिन्हे आप भली-भाति समझ सकते है।

फिर भी ये बाते असाधारण महत्त्व की है। इस किताब मे जिन्दगी को बच्चो के दृष्टिकोण से देखने की कोशिश की गई है—सयाने और बड़े-बूढों की नजरों से नही, जैसा कि आमतौर पर अब तक होता चला आया है। इसमें मामूली अक्ल से काम लिया गया है, जो हमे सिखलाती है कि अगर आप अपने बच्चों को प्रसन्न रखेगे तो वे खुद ही स्वस्थ और भले-मानस बन जायगे।

—मैकडानल्ड लेडाल

: १ :

शिशु का जन्म—पहली प्रतिक्रिया—सुख अथवा प्रयत्न—खुराक—नींद—दूध छुड़ाना—आदतें डालना—माता का स्वभाव

डाक्टर की जिन्दगी के वे क्षण कितने सतोष और इत-मीनान के होते है जब मानव-जगत् में बच्चा अपने पहले कदम रखता है, और अपने आगमन की सूचना आश्चर्य-भरी पहली चीख द्वारा देते हुए सम्पूर्ण घर को गुंजा देता है। और डाक्टर नर्स के जरिये सीढियों के नीचे खड़े हुए घर वालों, उनके रिश्तेदारों और मित्रों को यह सूचना भेजता है कि "अब सब ठीक हे। सब काम भली-भांति सम्पन्न हो गया है।"

हमारे बीच मे एक नये शहरी का आगमन होगया है। दस मे से नौ मौके ऐसे ही होते है जब नव-जात शिशु बिलकुल ही स्वस्थ और हर तरह से हृष्ट-पुष्ट होता है। उसकी सम्पूर्ण शक्तियां और सामर्थ्य कही से क्षीण नहीं होती। पर बडा होकर यह बालक कैसा बन जायेगा ?

इस सवाल का जवाब बड़ी हद तक उसके मां-बाप के बर्ताव और बच्चे के प्रति उनके रुख पर निर्भर हे। यह लाजमी बात है कि बच्चा मा-बाप की आशाओं और कितनी

ही प्रकार की चिन्ताओ का केन्द्र है। उस नन्हे-नन्हे नव-जात प्राणी को प्यार से निहार-निहार कर वह गद्गद् हो जाते है ,और उनका हृदय एक प्रकार के आत्म-गौरव से भर जाता है। यह प्राणी उन दोनो के अटूट प्यार का फल है। मां ने किस धीरज और सयम से महीनो इन्तजार के गुजारे, और फिर दारुण प्रसव-वेदना सहन की। इस सब पर उसे नाज होना स्वाभाविक है। परन्तु सबसे अधिक भाग तो कुदरत ने उसे बनाने मे लिया है—उसकी मदद के विना यह गुरुतर कार्य कभी सफलता के साथ सम्पन्न नही हो सकता था। तो क्या बालक के लालन-पालन और पोषण मे भी इसी करुणामयी प्रकृति की सहायता पर ही हमे अधिक निर्भर नही रहना चाहिए ?

मा-वाप यदि वालक को अपनी सम्पत्ति समझते हो तो यह उनकी वडी भूल है। अक्सर मा-बाप ऐसा सोचते है कि नये वालक के जन्म के साथ मानो उनकी जगम सम्पत्ति मे एक और वृद्धि हुई ह। इस सम्पत्ति पर वे अपना पूरा प्रभुत्व समझते है, जिसे वे अपनी इच्छाओं, विचारो और मन की मौज के अनुसार जैसे साचे मे चाहे ढाल सकते है, और जिधर मोडना चाहे, मोड सकते है। वस्तुत. मा-वाप इस नये जीवन के 'ट्रस्टी' या सरक्षक-मात्र है। उनका यह गम्भीर कर्त्तव्य है कि इस वात का भली-भाति ख्याल रखे कि वच्चे की अन्दरुनी शक्तिया और सामर्थ्य अधिकाधिक विकास और वृद्धि पा रही है, भले ही यह विकास उनकी

वैयक्तिक इच्छाओ और आशाओ के विपरीत ही क्यो न हो। बालक के निजी व्यक्तित्व का पूरी तरह विकास होना बहुत जरूरी है। मा-वाप को यह भी समझ लेना चाहिए कि वालक का उनके प्रति कोई कर्त्तव्य तव तक नही है, जब तक कि वह उसकी निर्बाध वृद्धि और विकास के लिए पूर्ण अवसर प्रदान करने मे सहायक न हो।

परिस्थिति का प्रभाव

पहले लोगो मे आम तौर पर यही ख्याल पाया जाता था कि बालक बीज रूप मे एक स्वभाव और चरित्र लेकर ही इस दुनिया मे आता है। यह चरित्र आरम्भ मे अविकसित कली की तरह होता है, वालक ज्यो-ज्यो बडा होता जाता है उसके गुण और विशेषताए विकास पाकर अधिकाधिक स्पष्ट होते जाते है। परन्तु आज नये मनोविज्ञान ने हमे सिखलाया है कि यह विचार गलत है।

निस्सदेह बालक चित्त-वृत्तियों (इन्स्टिक्ट्स) की समग्र सामग्री लेकर इस जगत् मे प्रवेश करता है। विश्व के सम्पूर्ण प्राणी कुछ मूल वृत्तिया लिये हुए आते है। वश-परम्परा से कुछ सस्कार भी चले आते है। तो भी इस वात का फैसला वालक की परिस्थिति करती है कि वालक की कौन-कौन-सी वृत्तिया कितनी प्रस्फुटित होगी और उसके चरित्र-निर्माण मे कौन-कौन-सी वृत्तिया प्रधान रहेगी।

परिस्थिति से हमारा अभिप्राय वाहर की उन तमाम अवस्थाओ से है जिनके सम्पर्क मे वालक को आना होता है।

कुटुम्ब में बालक की स्थिति—अर्थात् बाकी भाई-बहनो में उसका बड़ा, छोटा या मझोला होना, उसके मा, बाप, सरक्षक और शिक्षक आदि, और उसके पालतू जानवर इत्यादि सभी की गणना उसकी परिस्थिति मे है। इसके अतिरिक्त दूर की परिस्थिति, जैसे शहर या गाव, बगले या झोपड़े का भी असर होता है, परन्तु समीप की परिस्थिति का असर ज्यादा होता है, जल्दी होता है, और बच्चे की प्रवृत्ति उसका शीघ्र प्रत्युत्तर देती है। दूर की परिस्थिति का प्रभाव जरा स्पष्ट होता है।

एक बड़ का पेड, जिसका बीज कठिन पथरीली जमीन पर जा पड़ा हो, उस बड़ से अवश्य भिन्न प्रकार का होगा जिसका बीज कोमल और उपजाऊ जमीन मे बोया गया हो और जिसकी जड़े धरती मे नीचे तक गई हुई हो, जहा से वह अपनी खुराक सुगमता से खीच सकता हो। हवाओ का रुख उस पेड़ की ऊचाई और तने के झुकाव का फैसला करता है। बच्चो के सम्बन्ध मे भी इस बात को ध्यान मे रखिये कि बच्चे के भीतर छिपी हुई शक्तिया भली-भाति उभरती आवे। इसके लिए यह जरूरी है कि उसे हर वक्त अनुभव होता रहे कि अपनी परिस्थिति मे वह सर्वथा सुरक्षित है। आलोचना और प्रताडना की बर्फीली हवाये उसकी कोमल प्रकृति को शीघ्र ही शुष्क कर देती है।

बालक के चरित्र-निर्माण मे पहले पाच साल बहुत महत्त्व के है। शैशव-काल के सबसे प्रथम सस्कार उसके

नाजुक अग-प्रत्यगों पर स्थायी प्रभाव छोड जाते है।

एक लिहाज से तो बच्चे की शिक्षा उसके स्कूल जाने से भी पहले के वर्षों मे पूरी हो जाती है। यह काल है जब उसके चरित्र की नीव पड जाती है, और उसके चाल-ढाल और व्यवहार की शक्ले नियत हो जाती है, जो उसकी उम्र भर के लिए नमूने का काम देती हैं। ये वर्ष शिशु के सर्वोत्तम गुणों के विकास तथा उसके भावो तथा अनुभूतियो या अहसास को प्रस्फुटित करने मे सहायक होते है, और शिशु के चरित्र का इस तरह से निर्माण करते है जिससे उसकी उपस्थिति इस ससार को किसी कद्र सद्गुणो से समृद्ध और भरपूर बना देती है।

उद्योग का शौक और इन्द्रियां

शिशु की मौलिक आवश्यकताए क्या है ? बहुत ही मामूली और सादी-सी। देह के आराम के लिए हरारत, हिफाजत और खुराक। जन्म से पहले बिना किसी प्रयत्न के उसे ये तीन वस्तुए उपलब्ध हो रही थी। परन्तु इस दुनिया मे आते ही उसे इनकी प्राप्ति के लिए निरन्तर उद्यम करना पडता है।

उद्योग और श्रम जीवन का नियम है। प्रयत्न और उद्योग का रुक जाना जीवन का अन्त है। प्रकृति ने ऐसी युक्ति की हुई है कि उद्योग आनन्ददायक हो। प्रौढ व्यक्तियो का जीवन दो ताकतो के बीच मे लटका हुआ-सा होता है। इन्द्रियो द्वारा मिलने वाला आनन्द; और उद्योग

द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्दोल्लास। इन दोनो को मनोवैज्ञानिक इन्द्रिय-सुख और प्रयत्न-सुख (प्लय्यर प्रिन्सिपल और रिएलिटी प्रिन्सिपल) का नाम देते है।

जब प्रयत्न थकान उत्पन्न कर देता ह और आदमी श्रम से ऊबने लगता है तो वह आत्म-सतोप की तलाश मे इन्द्रिय-जन्य सुख और कल्पना के आभास की शरण लेता है।

हमारे नव-जात शिशु को तो सुखो के इस प्रकार बारी-बारी से रूपान्तर का कोई ज्ञान नही होता। प्रारम्भ मे कुछ हफ्ते तो उसके जीवन मे इन्द्रिय-सुख की ही प्रधानता रहती है। परन्तु उसकी शिक्षा तत्काल प्रारम्भ हो जाती है। अब से पहले तक उसकी परिस्थितिया सदा एक समान रहती थी और इसलिए वह अपने-आपको सर्वथा सुरक्षित समझता रहा था। परन्तु अब अकस्मात् उसकी परिस्थितिया निरन्तर शीघ्रता से बदलती जाती है। इसलिए अगर हम चाहते है कि उसकी 'भय' की मूल वृत्ति स्थायी रूप धारण न कर जाय तो हर काम ऐसे तरीके से होना चाहिए कि शिशु अपने-आपको सर्वथा सुरक्षित समझता रहे।

नव-जात शिशु की स्वाभाविक शान्ति को केवल दो ही बातें भग कर सकती है। एक तो कई दफा उसे ऐसा लगने लगता है कि उसके नीचे कोई आसरा नही रहा, और वह अब गिरा! दूसरे अकस्मात् बे-तहाशा ऊची आवाज का कानो के पर्दे पर पडना। जो बच्चे बहुधा जरा-जरा-सी देर मे चौंक पडते है, अथवा घर के मामूली कोलाहल से बेचैन हो

उठते है वे ऐसे ही बालक होते है, जिन्हे मां-बाप की बेपरवाही के कारण ये बुरी आदते पड जाती है।

तुनक-मिजाज मा शिशु को अपने भीरु और अस्थिर तरीके से हिलाते-डुलाते हुए उसके स्वभाव मे भी अपनी तुनक-मिजाजी दाखल कर देती है। इसी प्रकार अधीर नर्स या दाई निरीह और असहाय शिशु के कपड़े उतारती-पहराती हुई, उसमे भी उसी प्रकार की अधीरता और घबराहट के भाव उत्पन्न कर देती है।

अकस्मात् चौंका देने वाला खटका शिशु के समीप न होना चाहिए। परन्तु जिस शिशु की प्रगति स्वाभाविक रीति से भली-भांति हो रही हो, मामूली बातचीत और घर के शोर-शराबे से उसकी नीद कभी उचटती नही। घर मे लोगो के चलने-फिरने तथा रेडियो की आवाज से भी स्वस्थ शिशु की नीद मे कोई विघ्न नही पड़ सकता।

"चुप,चुप, कही बच्चे की नीद न उचट जाय!" इसकी कभी जरूरत ही नही पड़ती, जब तक हम बच्चे को कच्ची नीद सोने की बुरी लत नहीं डाल देते। यह बुरी लत क्यों पड़ जाती है? बच्चे को बार-बार उठाना, रह-रहकर उसकी खबर-पूछ करना, उसके सम्बन्ध मे असाधारण चिन्ता प्रदर्शित करते रहना—ये सब कारण बच्चे की नीद को बिगाड़ देते है।

शुरू में आदतें पकाना

यह बहुत जरूरी है कि बच्चे की आदते शुरू ही मे पक

जाय। आदते और अभ्यास जीवन-चर्या को बहुत सुगम कर देते है। आदत और अभ्यास का मतलब यह है कि जिन कार्यों को करने के लिए पहले विचार-विवेक के प्रयोग की आवश्यकता हुआ करती थी, वे बार-बार के अभ्यास के बाद अबोध (अनकॉन्शस) मन की सहायता से बिना किसी प्रयास के आप-से-आप होने लगते है। प्रारम्भ से ही आपके शिशु को आप-से-आप सो जाने की आदत पड़ जानी चाहिए–चाहे उसका बिछौना साबुन की एक पेटी पर लगा दिया गया हो। लोरिया अथवा थपकिया देकर सुलाने की आदत डालकर आप व्यर्थ अपने लिए एक मुसीबत मोल ले रहे है। स्वय सो जाने की आदत बच्चे मे स्वावलम्बन के भाव को भी कायम रखती है।

खाने, सोने और मल-त्याग करने के कार्य बच्चे के स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इन कार्यों के सम्बन्ध मे बच्चे की आदते डालने और उन्हे बिगडने न देने की भरसक कोशिश पहले दिन से ही होनी चाहिए। आदते जितनी ठीक-ठीक पक जायगी उतना ही मा और शिशु दोनो को आराम मिलेगा। परन्तु इस बात का ध्यान रखिये कि ये आदते बच्चे की आवश्यकता और उसकी अपनी रुचि के अनुकूल बननी चाहिए, न कि मा-बाप और अभिभावकों की सहूलियत और पसन्द के लिहाज से।

यह कोशिश करना फिजूल है कि बच्चे को उन किताबों की नसीहतो और उसूलो को सामने रखकर चलाया जाय,

जिन किताबो को न उसने अभी पढा है, और न पढ सकता है। दूध दिन मे तीन मर्तबा दिया जाय अथवा चार मर्तबा, दूध पिलाने मे कितना समय खर्च किया जाय, और कितना दूध पिला दिया जाय, ये सारे प्रश्न स्वास्थ्य-विज्ञान की पुस्तको के सहारे हल करने के नही है। शिशु के जन्म के फौरन बाद कुछ ही दिन का अनुभव और अभ्यास हमे बच्चे की रुचि और उसकी जरूरतो का अन्दाजा करा देगा। इस विषय मे बच्चे की प्रकृति और प्रवृत्ति ही हमारी अधिक सहायता कर सकती है।

क्योंकि शिशु-स्वास्थ्य-विज्ञान की किसी पुस्तक के अनुसार अभी बच्चे को भूख न लगनी चाहिए, इसलिए उसे दूध के लिए बिलखने देना, यहाँ तक कि वह रो-रो कर थक जाय, सर्वथा अनुचित है। जरा प्रयत्न करके देख लो कि कही वह भूखा तो नही रह गया। यदि ऐसी बात नही है, तो उसका बिछौना सवारकर आराम से और हिफाजत के साथ पालने मे करवट बदलकर सुला दो, जहां से गिरने का भय जरा भी न हो। इससे वह अपने-आपको सुरक्षित समझने लगेगा और उसकी बेचैनी दूर हो जायगी।

शिशु की बाकायदा आदते बन जाय इस बात का महत्त्व तो स्पष्ट ही है। परन्तु यह भी न भूलना चाहिए कि तबियत और रुचि म कुछ स्वाभाविक फर्क भी होता है। इसलिए जब तक आपको बिलकुल यकीन न हो जाय कि अमुक बात बच्चे के बिलकुल ही अनुकूल बैठी है, तब तक उस पर

बच्चे को नियमित रूप से चलाने के लिए आपका आग्रह करना उचित नही है।

मां का दूध देना

जहा तक बन पड़े, शिशु के शारीरिक स्वास्थ्य और मनोवैज्ञानिक उन्नति दोनो की दृष्टि से यह जरूरी है। शिशु के लिए मा के दूध से अच्छी दुनिया मे कोई भी खुराक नही। दूध पीते समय मा के शरीर के साथ जिस कोमल और स्नेहमय सम्पर्क का आनन्द शिशु को मिलता है, वह उसकी प्रकृति की मृदुलता की माग को पूरा करता है। शैशव-काल मे यदि बच्चे को यह मृदुल सम्पर्क न मिले तो बड़ी आयु म उसे कई प्रकार के मानसिक रोग हो जाते है।

मा के स्तनो से दूध खीचने के लिए बच्चे को मुह से ज्यादा जोर लगाना पड़ता है। बोतल से दूध पीते वक्त उतना जोर नही लगाना पड़ता। बच्चे की उन्नति प्रत्येक कार्य मे व्यायाम और उसके प्रयास पर निर्भर है। दूध पीते समय मुह के आस-पास की पेशियों को बार-बार हरकत मिलती है, और इससे मुह और होठो की शक्ल सुडौल बन जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शिशु मा के स्तन को मुह मे नही लेता। इसका एक कारण यह हो सकता है कि मा घबराई हुई हो और उसकी मानसिक दशा का असर शिशु पर भी पड रहा हो।

वास्तव मे यही वह काल है जिसकी महीनो से मा को [illegible]क्षा होती है। उसकी दीर्घ परीक्षा का अब जाकर अन्त

हुला है। अब वह अनुभव करने लगी है कि उसके मातृत्व की योग्यता की परख इस बात से होती है कि वह भली-भांति शिशु का लालन-पालन कर सके। इसलिए मातृत्व के आरम्भिक दिनो मे उसका जरा-जरा-सी बात पर बेचैन हो जाना, घबरा उठना या आशंकित हो उठना और कई बार इसके कारण उसके व्यवहार मे बेढंगेपन की झलक दीखना स्वाभाविक है।

परन्तु इस अवसर पर धीरज और भरोसे से काम लेना ही आवश्यक है। न तो ऐसा होना चाहिए कि घबराहट से मा के हाथ-पर फूल जायं, और न उसे बच्चे को घबराहट मे डालना चाहिए।

यदि शुरू-शुरू मे बच्चा मां के स्तन को मुह मे न डाले तो मां को चाहिए, जरा सहारा करे। बच्चा स्वयं स्तन मांगेगा और उसे तलाश कर लेगा। पीछे सहारा लगाकर मां को इस तरह आराम के साथ दूध पिलाने बैठना चाहिए कि बच्चा भी आराम के साथ दूध पी ले और अपने-आपको सर्वथा सुरक्षित समझ सके।

पहले छ या नौ महीनो मे कब तक मां बच्चे को दूध पिलाने योग्य रह सकेगी, यह सब मां की मानसिक दशा पर निर्भर है। कई औरतो की प्रकृति शान्त, कोमल और मधुर होती है और वे बच्चों का पालन करने मे स्वभाव ही से बहुत निपुण होती है। परन्तु यदि किसी का स्वभाव कुदरत की तरफ से 'गाय की तरह कोमल' न भी हो, तो भी उसे शिक्षा

और अभ्यास द्वारा ऐसा बनाया जा सकता है।

जो मां यह -चाहती हो कि वह बच्चे को स्वय दूध पिलावे उसे समझ लेना चाहिए कि सारा दिन उसे बच्चे के अर्पण कर देना पड़ेगा। अर्थात् उसे अपनी जीवन-चर्या इसी के मुताबिक बना लेनी होगी। उसे घबराहट पैदा करने वाली बातो से परहेज करना होगा। उसे ऐसे कमरों मे बैठना-उठना चाहिए जो हवादार हो। अधिक रात गये तक न जागना चाहिए, चिन्ता और फिक्रो से सर्वथा बचना चाहिए। उसका सारा ध्यान इस समय सब ओर से हटकर इस नवागन्तुक नन्हे प्राणी पर लग जाना चाहिए।

प्रथम अध्याय का सारांश

१. शिशु आपकी सम्पत्ति नहीं है, जिसे आप अपनी इच्छा के अनुसार ठोक-पीटकर मनमाने सांचे में ढाल लेंगे। उसका अपना व्यक्तित्व है, और वह संसार का एक स्वतन्त्र प्राणी है।
२. आपका शिशु अद्वितीय है, यह किसी की नकल नहीं। और उसे ऐसा ही होना चाहिए।
३. शिशु के जन्म-जात सस्कारों को आप बदल नहीं सकते। आपका काम सिर्फ इतना ही है कि आप उसकी शक्तियों के स्वाभाविक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितिया उपस्थित करें।
४. सब काम नियम से करने की आदतें डालना बहुत ही जरूरी है। परन्तु शिशु की दिन-चर्या बनाते वक्त इस बात का भी ख्याल रखें कि वह शिशु के आराम और सुविधा तथा उसकी रुचि और आवश्यकता के अनुकूल हो।
५ शिशु की मानसिक उन्नति तथा शरीर की वृद्धि के लिए मां के

स्तन से दूध पिलाना बहुत जरूरी है।

६. तुनक-मिजाजी की आदत बच्चे को विरासत में नहीं मिलती, प्रत्युत वह आस-पास वालों के देखा-देखी आ जाती है। तुनक-मिजाज मां बच्चे के स्वभाव को भी वैसा ही बना देती है।

७. उद्योग और श्रम से प्राणियों को आराम और संतोष उपलब्ध होता है। इन्द्रिय-जन्य सुख से बच्चे ज्यादा संतोष प्राप्त करते हैं। प्रत्येक आदमी सारी उम्र इन दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों से युद्ध किया करता है।

: २ :

डर और उसकी रोक-थाम—स्वावलम्बन की शिक्षा—खुराक का प्रश्न—शिशु की बोल-चाल

प्रतिदिन शिशु को नया-से-नया अनुभव प्राप्त होता है। यह बात याद रखने की है कि इन सब अनुभवों का जो असर उसके मन और मस्तिष्क पर पड़ता है वही भावी जीवन मे उसके व्यवहार और चाल-ढाल का आधार बनता है।

मान लीजिए, किसी अपरिचित नवागन्तुक ने प्यार से शिशु को थपथपाकर चौका दिया, और अपने नये प्रकार के शोर और कोलाहल से शिशु को स्तम्भित और हैरान-सा कर दिया। इस सबको वह सहसा समझ नही पाता । बस यही से अपरिचितो से भय, शका और सकोच का श्रीगणेश होगया, जो अब से लगातार उसके स्वभाव का अग बनकर जीवन-भर उसके साथ चलेगा। इसी प्रकार शिशु को जोर-जोर से ऊपर उछालना उसमे गिर पडने का भय उत्पन्न करता है, और बहुत छोटी उम्र मे इससे भी परहेज करना चाहिए।

कुछ काल बीत जाने के बाद जब शिशु कुछ बडा होता है और उसमे अपने-आप पर भरोसा कुछ ज्यादा पैदा हो जाता है तो वह मामूली भय-प्रद पदार्थो के साथ खिलवाड करने और उन पर काबू पाने में कुछ आनन्द अनुभव करने

लगता ह । कुदरत की तरफ से यह प्रेरणा है जो उसे भय को जीतने के लिए उत्साहित करती है। किसी पदार्थ से अपरिचित होना भय का कारण होता है। शिशु खेल-खेल मे उन पदार्थों से परिचित हो जाना चाहता है—ताकि उसका भय मिट जाय । तथापि कम-से-कम पहले बारह महीनों तक तो बाल-गृह मे भय-प्रद पदार्थों और भय उत्पन्न करने वाले दूसरे कारणो का प्रवेश न होने देना चाहिए ।

बिना समझे-बूझे हर वक्त बच्चे को चूमते-चाटते और पुचकारते रहना भी ठीक नही । ऐसा करने से उसमे उद्योग और उद्यम करने का भाव कम हो जाता है, और इन्द्रिय-सुख की प्रवृत्ति बढती है । परन्तु इसका तात्पर्य यह कभी भी नही कि मा और शिशु के भीतर एक दूमरे पर अपना प्रेम जताने का जो स्वाभाविक उत्साह और उन्माद है उससे उन दोनो को वचित रखा जाय । कहने का अभिप्राय केवल यह है कि इस लाड़-प्यार का महत्त्व तब ही ज्यादा बढेगा जब कि इसका प्रयोग पूरे सयम के साथ किया जाय; और जो कोई भी नवागन्तुक हो उसे बालक पर जैसे-तैसे अपना प्यार जताने का अवसर न दिया जाय ।

चाहे किसी गुदगुदे खिलौने का कोमल स्पर्श हो, अथवा किसी चमकदार छडकने का कर्कश शोर, ऐसे हर प्रकार के नये और विचित्र अनुभव से शिशु का धीरे-धीरे परिचय कराना चाहिए । ऐसा न हो कि शिशु का ध्यान उनकी ओर बरबस आकर्षित हो, और वह चौंक उठे ।

निप्पल चुसाना और दूध छुड़ाना

प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य यह है कि बच्चे की वृत्तियो को धीरे-धीरे इन्द्रिय-सुख-लिप्सा (प्लय्यर प्रिंसिपल) के मार्ग से हटाकर प्रयत्न-सुख (रियलिटो प्रिंसिपल) के मार्ग पर लाया जाय और उसे जिन्दगी की ठोस वास्तविकता का अनुभव करने का अभ्यास डाला जाय। इसलिए मनोविज्ञान की दृष्टि से चूसने की निप्पल का इस्तेमाल ठीक नही है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसका चूसते रहना बच्चे के लिए ठीक नही है। निप्पल चूसने की इच्छा व्यर्थ के इन्द्रिय-सुख की लालसा का चिह्न है। हर वक्त कुछ चबाते रहने का अभ्यास यो भी सामाजिक शिष्टाचार की दृष्टि से बुरा है।

मां का दूध छुड़ाना भी शिशु के जीवन मे एक जोखम की घड़ी होती है। इस मौके पर आकर वह जिन्दगी की कठोर वास्तविकता और गम्भीरता का पहले-पहल अनुभव करता है। यदि दूध छुडाने मे होशियारी, सावधानी और जरा जुगत से काम न लिया जाय तो बच्चे के मन पर इसका बहुत बुरा प्रभाव रह जाता है। सहसा उस की दिलशिकनी हो जाती है, जिससे उसके स्वभाव मे निराशा-वृत्ति का बीज बोया जाता है। यह निराशा वृत्ति प्राय सारी उम्र हर काम मे उसके दृष्टिकोण पर छाई रहती है।

दूध छुड़ाते वक्त मां और शिशु दोनो को कुछ त्याग करना होता है। जिन्दगी मे उन दोनो मे परस्पर क्या भाव

रहना चाहिए, इसका कुछ परिचय उन्हे इस समय होता है। मा को अब तक यह अनुभव करके कि शिशु सर्वथा उसी पर निर्भर है, एक प्रकार का आत्म-सतोष और सुख मिलता रहा था। दूध छुड़ाकर उसने उसका किसी हद तक त्याग कर दिया। शिशु को मा के कोमल और हल्की हरारत वाले जिस्म से चिपटकर जो मधुकर शरीर-सुख का अनुभव हो रहा था, वह उसका त्याग कर देता है।

अब से शिशु को शिक्षा और अभ्यास ऐसे तरीके से होने चाहिए कि मां और शिशु के बीच का अन्तर उत्तरोत्तर बढता चला जाय, ताकि ज्यो-ज्यो शिशु बड़ा होता जाय मा के साथ उसका सम्बन्ध एक दूसरे की सेवा और सहायता पर आश्रित हो जाय और दोनो मे से कोई एक दूसरे को अपने निजी स्वार्थ और सुख के लिए इस्तेमाल न करे।

जहां तक सम्भव हो छुटपन से ही शिशु को चम्मच से स्वय खाने का अभ्यास डाल देना चाहिए। प्रारम्भ मे कठिनाई अवश्य होगी—शिशु कई बार सब-कुछ बिगाडकर रख देगा, और सब उलट-पुल्टकर देगा। प्रारम्भ मे आप जो कुछ उसके हाथ मे देगे वह उसे खराब कर देगा। परन्तु यह सब इस बात के लिए कोई मजबूत दलील नही कि बिगाड के भय से उसे न जाने कब तक उस आत्म-सन्तोष से वचित रखा जाय जो स्वय उद्योग और प्रयत्न द्वारा नये-नये अनुभव प्राप्त करके शिशु को मिलता है। शिशु का पैदा किया हुआ

बिगाड़ ठीक किया जा सकता है, परन्तु शिशु को प्रयत्न करने से रोक देने अथवा हर बात मे टोका-टोकी करने से उसे जब निरुत्साहित कर दिया जाता है और उसके हाथ से चीजे छीनकर उसके उन्नति के मार्ग मे जो बाधा डाली जाती है उसका निराकरण और क्षति-पूर्ति असम्भव हो जाती है।

कामयाबी हौसला बढ़ाती है

चम्मच के थाली या रकेबी से बार-बार टकराने की टन-टन एक प्रौढ आदमी के लिए बड़ी कर्कश आवाज हो सकती है, और कई बार शिशु से जब फिर-फिर ऐसा होता है, तो अक्सर बड़े बुजुर्ग खीझ उठते है। परन्तु अक्सर वे यह भूल जाते है कि शिशु के अन्दर यह कर्कश आवाज भी आत्म-विश्वास का ऐसा भाव उत्पन्न कर देती है कि आखिर वह भी अपन आस-पास के वातावरण मे कुछ असर पैदा कर सकता है। अपने पालने से खिलौना या गेद बार-बार नीचे गिरा देना ताकि कोई फिर-फिर उसे उठाकर दे, शिशु के लिए एक रिझाने वाला अभ्यास है। उसमे आत्म-विश्वास भी पैदा होता है। आप इस खेल को अधिक मनोरजक और अपने लिए आसान बनाने के लिए खिलौने या गेद को रस्सी मे बाध दीजिए। बच्चा रस्सी से फिर उसे अपने पास खीच लिया करेगा—और आप बार-बार की परेशानी से बच जायगे। फेकने और फिर रस्सी से खीचने से मशीन-विद्या का प्रारम्भिक पाठ उसे मिल जाता है।

शिशु को खुद काम करने मे जो संतोष और सुख मिलता है उसकी कभी बे-कद्री मत कीजिए। इससे उसमे आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है। अपनी अधीरतावश उसके हाथों से काम छुड़ाकर उसके उत्साह को ठण्डा न कर दीजिए। शिशु के प्रथम पांच वर्षों मे तो इसका बहुत अधिक ख्याल रखना चाहिए। खास तौर पर नहाना, कपड़े पहनना और खाना इत्यादि कार्य तो जहा तक हो सके शिशु को खुद ही करने चाहिए। ठीक है, इन कामो को करते हुए वह बहुत देर लगा देगा अथवा काम को बिगाड़कर और लम्बा कर देगा जो आपकी परेशानी बढाने का कारण होगा। परन्तु, भले ही आप कितनी जल्दी मे हो, धीरज के साथ बच्चे की ढील-ढाल को बर्दाश्त कर लीजिए, आपको आगे जाकर इसका अच्छा बदला मिलेगा। क्योकि आपका बालक स्वावलम्बी बन जायगा, और आप सारी उम्र कई तरह की चिन्ताओं और जिम्मेवारियो से बचे रहेगें।

हा, जब बच्चा स्वय कोई काम करता है तो अक्सर उसे सही राह बतलाने के लिए आपकी उपस्थिति की जरूरत हो सकती है। ऐसे वक्त पर बच्चा जब खाहिश करे तो होशियारी के साथ उसकी सहायता करने को सदा उद्यत रहिये। परन्तु यह न भूलिये, कि बच्चे के उद्योग मे किसी प्रकार की बाधा पहुचाना न केवल उसके उत्साह को ठण्डा कर देगा बल्कि कई दफा आपका ऐसा व्यवहार उसे अधीर बनाकर आपे से बाहर कर देगा। बार-बार ऐसा करने से

बच्चे के स्वभाव में चिड़चिड़ापन और कड़वाहट उत्पन्न हो जायगी।

बालक के कामों में दखल न दो

बालक स्वय किसी काम को करना चाहता ह, जंसे खाना या कपड़े पहनना इत्यादि। मगर अज्ञान और अनभ्यासवश वह इसे गलत तरीके से कर रहा होता है और इससे पहले ही कि वह कोशिश कर-करके हार जाय, आप बीच मे दखल देते है, तो ऐसा करके आप उसकी तरक्की में रुकावट डाल देते है। उसका अपनी परिस्थिति पर काबू पाने का उत्साह जाता रहता है—और उसे सहसा ऐसा जचने लगता है कि वह बहुत ही निर्बल और अशक्त है। यही उस हीन भाव (इन्फीरियारिटी कॉम्प्लैक्स) का आरम्भ है, जिसकी चर्चा अक्सर हम सुना करते है।

इसका एक यह भी परिणाम होता है कि बच्चे मे गुस्सा बढ जाता है। उसका स्वभाव चिडचिडा हो जाता है। बच्चों के स्वभाव मे चिडचिडापन और तुनक-मिजाजी इसी प्रकार की रोक-टोक का परिणाम होते है। दस मे नौ मौके ऐसे ही होते है जब यह रोक-टोक बच्चो के हित, और सुविधा के उद्देश्य से नही बल्कि हमारी अपनी सुविधा की दृष्टि से की जाती है। जहा यह कार्य बच्चे के हित की दृष्टि से किया जाता है वहा भी उसे बिलकुल रोक देने की अपेक्षा हम ऐसा कर सकते है कि बच्चे का ध्यान एक कार्य से हटाकर उससे अधिक हितकर काम मे लगा दें। ढीठ और नटखट बच्चे

वस्तुतः अपनी परिस्थिति का परिणाम होते है।

सुनहला उसूल तो यह है कि बालक को किसी ऐसी बात के सम्बन्ध में बिलकुल मजबूर न किया जाय जिस का आखिरी फैसला बच्चे को खुद ही करना आवश्यक है। यथा खाना, पीना, सोना और दूसरे शरीरोपयोगी आवश्यक कार्यों के सम्बन्ध मे बालक पर जोर-जबर्दस्ती करना अत्यन्त अनुचित है। ऐसा करने से बच्चो का स्वभाव इतना बिगड सकता है कि फिर कभी भी न सुधरे। भोजन मे खाने-पीने की चीजों मे जोर-जबर्दस्ती करने का परिणाम यह होता है कि खाने की चीजो से उसे यो ही सख्त नफरत हो जाती है। बच्चा क्या खाता है, अथवा क्या नही खाता, या बिलकुल भी नही खाता-पीता, इस बात को आप बहुत अधिक महत्त्व देते हैं, अथवा इस सम्बन्ध मे बहुत अधिक चिन्तित है ऐसा ख्याल बच्चे के दिल मे मत पैदा होने दीजिए।

सयाने आदमी की तरह बच्चे मे भी यह जबर्दस्त ख्वाहिश होती है कि उस पर हर किसी की नजर पड़े, और हर वक्त उसकी पूछ-ताछ और मिजाज-पुर्सी होती रहे। जब बालक को यह मालूम हो जाय कि खाना न खाने से सबका ध्यान उसकी ओर खिच जाता है तो उसकी खुद-पसन्दी उसकी भूख पर विजय पा लेती है, और जब-जब उसे मौका मिलता है, वह ऐसी ही हालत पैदा करने की ताक मे रहता है।

इसी तरह रोजमर्रा टट्टी-पेशाब जाने के बारे मे भी घबराहट और चिन्ता न प्रकट करनी चाहिए। यदि बालक

को बुखार आदि कुछ न हो तो इस बात से मत घबराइये। अगर किसी दिन शौचादि अपने स्वाभाविक वक्त से आगे-पीछे हो जावे तो इसे भी महत्त्व न दे मामूली कब्ज से स्वास्थ्य को कोई खास नुक्सान नही होता। और एक स्वस्थ बच्चे को यदि ज्यादा कब्ज रहता हो तो उसका कारण यही हो सकता है कि उसके साथ घर वाले बहुत नादानी का व्यवहार करते रहते है।

बच्चा शरीर के सब व्यवहार अपनी तबियत और मर्जी के मुताबिक करना पसन्द करता है। हर समय "यो करो, यह करो, यहा करो" की रोका-टोकी से वह बहुत बुरा मानता है। आपका संकेत-मात्र उसके लिए काफी है—उसके बाद यदि आप बार-बार बहुत जोर न देकर स्वयं अमल करते जायगे तो आपकी देखा-देखी वह आप-से-आप दैनिक आवश्यक कृत्य समय पर करता जायगा। परन्तु जोर देने से वह जिद्द पकड जाता है और कामो मे ढील डालने लगता है। इससे न केवल उसका स्वभाव बिगडता है, बल्कि उसकी तबियत मे जिद्दीपन सवार हो जाता है। जब उस पर आप अपनी मर्जी "ऐसा तुम्हे करना ही होगा" कहकर ठोसते है तो उसकी तबियत—"नही करूगा" कहकर जवाब देने की तरफ झुकती है।

शिशु की बोल-चाल का प्रश्न भी बहुत महत्त्व का है। एक वक्त मे आप बच्चे को एक ही बोली तो सिखा सकते है। या तो आप उसे तोतली बोली मे ही बोलता रहने दीजिए या शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना सिखा लीजिये। बच्चा अपनी तोतली

बोली मे बहुत-से शब्दो को गलत बोलता है। उसके बोलने की नकल करके उन शब्दो को बिगाडकर बोलना और बच्चे के मुह से भी उन्हे बार-बार वैसा ही सुनना प्यारा और मीठा तो बहुत लगता है परन्तु ऐसा करना हानिकारक है। भले ही आपका इससे आत्म-रजन हो, परन्तु आपका ऐसा करना बालक के लिए हानिकारक और उसे गडबडा देने वाला सिद्ध होता है। बच्चा तो आपके मुह से शब्द सुनकर उनका शुद्ध अनुकरण करने का गम्भीर यत्न कर रहा होता है—आप उसके इस प्रयत्न मे सहायक न होकर उसके महत्त्वपूर्ण उद्योग को खिलवाड बना लेते हैं। इसलिए बच्चे के काम मे सहायक होने के लिए आपको चाहिए कि बच्चे के सामने प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अक्षर को अत्यन्त शुद्ध रीति से उच्चारण करे।

तोतली जबान की नकल करके मा भले ही अपना लाड़ जता ले, परन्तु इससे बालक को बोलना सीखने मे बडी ही मुश्किल पेश आती हे। बच्चे के सामने "मू मू—जीबी, गु-गु" आदि निरर्थक आवाजे निकालना भी उसकी वाणी को शुद्ध और सुसस्कृत बनाने ने बाधक सिद्ध होता है।

बच्चे को बोलना सिखाने मे भी वही सिद्धान्त काम मे लाने चाहिए जो उसके प्रारम्भिक वर्षो के लिए, जो कि उसकी बनावट का काल है, निश्चित किये गए है। बच्चा तरक्की की अगली सीढी पर चढता चला जाय, इसके लिए जो कुछ भी आपसे बन पडे आपको करना चाहिए। ऐसा न होना चाहिए कि किसी भी बात मे बच्चा वहां-का-वहा खड़ा रह जाय।

को बुखार आदि कुछ न हो तो इस बात से मत घबराइये। अगर किसी दिन शौचादि अपने स्वाभाविक वक्त से आगे-पीछे हो जावे तो इसे भी महत्त्व न दे मामूली कब्ज से स्वास्थ्य को कोई खास नुक्सान नही होता। और एक स्वस्थ बच्चे को यदि ज्यादा कब्ज रहता हो तो उसका कारण यही हो सकता है कि उसके साथ घर वाले बहुत नादानी का व्यवहार करते रहते है।

बच्चा शरीर के सब व्यवहार अपनी तबियत और मर्जी के मुताबिक करना पसन्द करता है। हर समय "यो करो, यह करो, यहां करो" की रोका-टोकी से वह बहुत बुरा मानता है। आपका सकेत-मात्र उसके लिए काफी है—उसके बाद यदि आप बार-बार बहुत जोर न देकर स्वय अमल करते जायगे तो आपकी देखा-देखी वह आप-से-आप दैनिक आवश्यक कृत्य समय पर करता जायगा। परन्तु जोर देने से वह जिद्द पकड जाता है और कामो मे ढील डालने लगता है। इससे न केवल उसका स्वभाव बिगड़ता है, बल्कि उसकी तबियत मे जिद्दीपन सवार हो जाता है। जब उस पर आप अपनी मर्जी "ऐसा तुम्हे करना ही होगा" कहकर ठोसते है तो उसकी तबियत—"नही करूगा" कहकर जवाब देने की तरफ झुकती है।

शिशु की बोल-चाल का प्रश्न भी बहुत महत्त्व का है। एक वक्त मे आप बच्चे को एक ही बोली तो सिखा सकते है। या तो आप उसे तोतली बोली मे ही बोलता रहने दीजिए या शब्दों शुद्ध उच्चारण करना सिखा लीजिये। बच्चा अपनी तोतली

बोली मे बहुत-से शब्दो को गलत बोलता है। उसके बोलने की नकल करके उन शब्दो को बिगाडकर बोलना और बच्चे के मुह से भी उन्हे बार-बार वैसा ही सुनना प्यारा और मीठा तो बहुत लगता है परन्तु ऐसा करना हानिकारक है। भले ही आपका इससे आत्म-रजन हो, परन्तु आपका ऐसा करना बालक के लिए हानिकारक और उसे गडबड़ा देने वाला सिद्ध होता है। बच्चा तो आपके मुंह से शब्द सुनकर उनका शुद्ध अनुकरण करने का गम्भीर यत्न कर रहा होता है—आप उसके इस प्रयत्न मे सहायक न होकर उसके महत्त्वपूर्ण उद्योग को खिलवाड बना लेते है। इसलिए बच्चे के काम मे सहायक होने के लिए आपको चाहिए कि बच्चे के सामने प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अक्षर को अत्यन्त शुद्ध रीति से उच्चारण करे।

तोतली जबान को नकल करके मा भले ही अपना लाड़ जता ले, परन्तु इससे बालक को बोलना सीखने मे बडी ही मुश्किल पेश आती हं। बच्चे के सामने "मू मू—जीबी, गु-गु" आदि निरर्थक आवाजे निकालना भी उसकी वाणी को शुद्ध और सुसस्कृत बनाने ने बाधक सिद्ध होता है।

बच्चे को बोलना सिखाने मे भी वही सिद्धान्त काम मे लाने चाहिए जो उसके प्रारम्भिक वर्षो के लिए, जो कि उसकी बनावट का काल है, निश्चित किये गए है। बच्चा तरक्की की अगली सीढी पर चढता चला जाय, इसके लिए जो कुछ भी आपसे बन पडे आपको करना चाहिए। ऐसा न होना चाहिए कि किसी भी बात मे बच्चा वहा-का-वहा खड़ा रह जाय।

स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन के लिए प्रोत्साहित करो

बच्चे म स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन का भाव खूब भर देना चाहिए। इसके लिए जैसा अवसर आपको तब मिलता है जब बच्चा अपने पैरो पर खड़ा होना और चलना सीख रहा होता है, वैसा अवसर आपको फिर कभी भी नही मिलेगा। बच्चा बार-बार गिर पडता है और बहुत बार अपना मुह तथा सिर फोड़ लेता है। ये बार-बार की निराशाए उसकी हिम्मत तोड़ने के लिए काफी होती है। परन्तु कुदरत की प्रेरणा बडी जबर्दस्त होती है। इस समय मा-बाप को खास बात यह ध्यान मे रखनी चाहिए कि कही बच्चा जरा-सी बाधा से घबरा तो नही जाता और जरूरी खतरे मोल लेने के लिए उद्यत तो रहता है ?

यह बहुत ही गलत तरीका है कि बच्चा जरा लडखड़ाकर गिरा नही कि आपने घबराकर उसे उठा लिया और झाड़ पोछकर पुचकारना शुरू कर दिया। आमतौर पर बच्चे मामूली रगड लग जाने या थोडा खून बह निकलने से डरते नही। आस-पास के लोग जब तक उनको चोट देखकर घबराहट प्रकट नही करते तब तक बच्चे काफी सख्त चोटे भी बिना एक भी आसू बहाए बर्दाश्त कर लेते है। कई बार तो वह अपने बदन से निकलते हुए खून को अचम्भे के साथ देखने लग जाते है। यह अच्छी बात है कि दो तीन साल का बच्चा स्वय गिरकर स्वय ही उठ जाय, और स्वय ही ये डीन की शीशी तलाश करके चोट पर दवाई लगा ले।

उसका मामूली-सी चोट पर रोते-रोते मा के पास दौडे आना कुछ अच्छा नही।

यह तरीका भी बुरा है कि रोते हुए वच्चे को वहलाने के लिए झूठ-मूठ वेजान पदार्थों को दोष दिया जाय, और वच्चे ने स्वय क्या भूल की थी इसका परिचय उसे न होने दिया जाय। मेज के पर को मारकर सजा देना, और इस तरह के शब्द कहना "निकम्मी और गन्दी मेज कही की—मेरे वच्चे को मारती है।" इससे वालक पर यह मानसिक प्रभाव पडता है कि उसकी परिस्थितिया उसके वहुत ही विपरीत है। जिसका परिणाम यह होता है कि परिस्थिति पर विजय पाने का उसका हौसला कम हो जाता है।

साथ ही इससे वालक के स्वभाव मे यह दोष भी उत्पन्न हो जाता है, जो अक्सर हम लोगो मे पाया जाता है कि हमारी अपनी ही भूलो के नतीजे के तौर पर हम पर जब कोई विपत्ति आती है तो हम अपना दोष स्वीकार करने की वजाय आस-पास के हालात और दूसरे लोगो पर दोष मढने की कोशिश करते है।

अन्त मे इस वात को फिर दुहराने की जरूरत है कि यह सव स्वभाव वीज रूप से वचपन के पहले पाच वर्षो मे वन जाते है। इन वर्षो मे मनुष्य के स्वभाव और चाल-ढाल का नक्शा निश्चित हो चुकता है और उसी के अनुसार वड़े होने पर हमारा सव व्यवहार चलता है।

दूसरे अध्याय का सारांश

१. जब बालक कोई नया अनुभव प्राप्त करने लगे तो आपको बहुत सावधान हो जाना चाहिए। इस अवसर पर आसानी से उसके मन में नई वस्तु से भय का संचार हो सकता है जो आगे जीवन में हानिकारक होता है।

२. चूसने की निप्पल या ऐसी ही अन्य वस्तुओं का उपयोग स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक है। मानसिक दृष्टि से भी इसका असर यह होता है कि बच्चा वास्तविकता से दूर भागता है।

३. मां का दूध छुड़ाना बच्चे के जीवन की बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है और उसका मानसिक प्रभाव गहरा होता है।

४. बच्चे को हमेशा अपने से धीरे-धीरे दूर होते जाने के लिए उत्साहित कीजिए, और उसे अपना काम स्वयं करना सिखलाइये।

५. अगर आप बालक का अपने साथ सम्बन्ध चिरस्थायी बनाना चाहते है तो वह परस्पर सेवा और सहायता पर आश्रित होना चाहिए। वह प्यार, जिसमे बच्चे पर अधिकार का भाव हो, एक कैद बन जाता है।

६. यदि आपका बालक ढीठ और काबू से बाहर है तो इसमें आपका अथवा घर के किसी और प्रौढ़ व्यक्ति का कसूर है।

७. कब्ज का ख्याल बहुत न कीजिये। बच्चे को हर बात में वक्त की चक्की में ऐसा न पीस डालिए जैसा उसके स्वभाव के अनुकूल न हो।

८. अपनी ही भूलों से सहेजी हुई मुसीबतों के लिए बेजान वस्तुओं को दोपी ठहराने की आदत बच्चे को कभी मत डालिए। इससे जिन्दगी में उसका एक गलत नजरिया बन जायगा जिसका उसके भावी जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा।

: ३ :

नटखट अंगुलियां—खेलने का वक्त—संकेत की शक्ति—चित्त की मूल वृत्तियां और उनका धीरे-धीरे परिष्कार

मैंने पिछले अध्याय मे बालक को बचपन से ही स्वावलम्वन की आदत डालने की आवश्यकता पर जोर दिया था। पहले पांच वर्षो मे उसके जैसे विचार और स्वभाव बन जायगे—वह उम्र भर के लिए नमूना बने रहेगे।

इसी कारण से, नई-नई वस्तुओ को देखकर चकित होने और उन वस्तुओ के रहस्य के विषय मे कौतूहल और जिज्ञासा की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति बालको मे प्रारम्भ से ही होती है उसे दवा देना अत्यन्त अनुचित है। कौतूहल और जिज्ञासा की तह मे वस्तुत वालक का वह निरन्तर प्रयत्न है जो आस-पास की वस्तुओ और अवस्थाओ के साथ अपना यथोचित सम्बन्ध स्थापित करने और उनको अपने कावू मे लाने के लिए वह कर रहा होता है। वड़ी उम्र मे वैज्ञानिक तत्त्वान्वेषण और मौलिक विमर्श का यह कौतूहल अग्रदूत है। इसलिए यदि वचपन मे इसे दवा दिया जाय तो वडे हो जाने पर भी वह लडकपन की वाते किया करेगा और अपने स्वभाव और व्यवहार मे वाल-वुद्धि का परिचय देगा।

बालक अपनी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए प्रायः घर के सयाने लोगो को अपने सवालो की भरमार से परेशान कर देता है। वह प्रत्येक वस्तु के साथ ऐसे-ऐसे तजुर्वे करता ह जो वयस्क व्यक्तियो को व्यर्थ की तोड-फोड़ प्रतीत होते हे। यह इस बात का चिह्न है कि अव आपका बालक बचपन की पहली मजिल पार करके दूसरी मजिल मे कदम रख रहा है।

बच्चे को चचल अगुलिया फर्नीचर के किसी गदेले मे सूराख ढूढ निकालेगी, और उसके अन्दर भरी हुई रुई खीच-खीच-कर बाहर निकालने मे आनन्द अनुभव करेगी अथवा बालक अपने खिलौनो को पकडकर टुकडे-टुकड़े कर देगा। पानी के नल को खुला छोड़ देगा—इस प्रकार एक-से-एक बढकर नटखटपने के काम बच्चा करता हं। सयाने लोगो के लिए उसके ये काम काफी परेशानी और तकलीफ का कारण वन जाते है। परन्तु इसका यह इलाज नही है कि आप बच्चे को शरारती और उच्छृङ्खल कहकर दोष देते रहे और उसे बुरा-भला कहकर डाट-डपट करते रहे। इसका इलाज यह है कि बालक को किसी मुनासिव जगह पर ले जाय जहा आस-पास कोई कीमती सामान न हो जिसके बिगडने का भय हो। वहा ऐसा सामान हो जिससे बच्चा कुछ सीखता भी जाय। इसी के साथ आप घर की चीजो, जैसे गैस और पानी की नालियों, विजली के स्विच, और दियासलाई वगैरा का ठीक-ठीक इस्तेमाल उसे सिखला दे।

चार साल के वच्चे को अपने-आपको हानि पहुचाये विना

दियासलाई जलाना आना चाहिए। बालक को इस तरह के काम सावधानी और होशियारी के साथ सिखाने पड़ते है। प्रारम्भ से ही बालक हस्त-कौशल का अभ्यास करना चाहता हं। यह सब उसे इस तरह नही आ सकता कि जिस चीज को हाथ लगावे वह उसके हाथो से छीन ली जाय। यदि आप उसकी स्वाभाविक इच्छाओ को दवाने का यत्न करगे तो वह कभी-न-कभी आपसे छिपकर अपने कौतूहल के तकाजे को पूरा करने की ताक मे रहेगा। और सम्भव है कि आपके डर और छिपकर काम करने की घबराहट के कारण वह अपने-आपको भारी हानि पहुचा ले।

यह कहने की आवश्यकता नही कि बालक को आग के समीप असुरक्षित दशा मे कभी भी नही छोड़ना चाहिए। अच्छा तरीका यह है कि वचपन के प्रारम्भिक दिनों मे ही जव वच्चा लुढक-लुढककर आग के काफी समीप तक जाता हो, तो उसे जाने देना चाहिए, ताकि वह आपकी उपस्थिति मे आग की अरुचिकारक दाहकता का दूर-दूर से ही अनुभव कर ले और वडी उम्र मे आग के सम्बन्ध मे उसका कौतूहल ज्यादा वाकी न रह जाय।

खिलौने उन्नति में सहायक होते हैं

जहा तक सम्भव हो खिलौने मजवूत और सीधे-सादे होने चाहिए। वहुत छोटी उम्र मे चावी देकर चलने वाले कमानीदार खिलौने वच्चो मे कुछ भय और ऐसा कौतूहल उत्पन्न कर देते है जिसे समझ सकना उनकी बुद्धि और

थोड़े से तजुर्बे से बाहर की बात होती है। इसीलिए ऐसे खिलौनों को जल्दी-जल्दी तोड़कर बालक खुशी अनुभव करते हैं। (

पहियों वाले ऐसे खिलौने, जिन्हें बच्चा धागा या रस्सी बांधकर खीचकर चला सके, बहुत अधिक मनोरंजन बढ़ाते है। क्योकि स्वय चलाते हुए बालक उस खिलौने पर अपना पूरा अधिकार समझता है, और इस कारण अपने-आपको सशक्त समझने लगता है। सस्ते गुदगुदे तथा कोमल बालो वाले खिलौने और पालतू जानवर बच्चे को बहुत ही प्यारे और भले मालूम देते है। ये खिलौने उसकी बाल-कल्पनाओ के विकास मे सहायक होते है, और उसके लिए प्यार और नफरत की भावनाओ का मार्ग खोल देते है।

गुडियो को बच्चा अपने सुख-दु ख और खेल का फर्जी साथी बनाकर खुब आनन्द उठाता है। अपने मन के विविध बाल-उद्वेगो को वह इन कल्पित साथियो पर प्रकट करके खूब सन्तुष्ट हो जाता है, और कल्पना की इस दुनिया मे मस्त रहता है। वह उनसे दिली मुहब्बत करता है, और वर्षों तक उनके प्रति वफादार रहता है। इस प्रकार अपने कल्पित साथियो के साथ वह समय पर बिछौने पर चला जायगा और अपने-आपको अकेला नही समझेगा। अकेलेपन मे बच्चे जल्दी ही ऊब जाते है, और तग आकर शरारतें करने पर उतर आते हैं।

अपने खिलौने के पास आने-जाने की बालक को दिन-भर

खुली छुट्टी होनी चाहिए। बच्चा किसी एक ही वस्तु पर अधिक देर तक ध्यान नही जमाए रख सकता। उसकी तबियत एक चीज से हटकर दूसरी चीज पर भागती है। एक के बाद दूसरी आजमाइशो का मजा वह लेना चाहता है। यह भूल है कि उसे एक वक्त एक खिलौना पकड़ा दिया जाय, और यह आशा की जाय कि वह बहुत देर तक उसी के साथ रीझा रहेगा।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मा-बाप अपनी पसन्द के मुताबिक बहुत अच्छा नया खिलौना बड़े शौक से बच्चे के लिए ले आते है। पर बच्चा उससे ऐसा खुश नही होता जैसी उन्होने उमीद की होती है। इससे उन्हे निराशा होती है। परन्तु मां-बाप को धैर्य से काम लेना चाहिए। यदि नया खिलौना वस्तुत बच्चे की मानसिक जरूरत को पूरा करने वाला है तो कभी उसकी बारी भी आ जायगी और बच्चे का ध्यान उसकी ओर अवश्य खिचेगा।

दिन का सुखपूर्वक बीत जाना

जब बालक अपने खेल की धुन मे मस्त हो तो उसे अकस्मात् मनमाने तरीके से उधर मत हटाइये। आप स्वयं सोचिए, जिस वक्त आप कोई दिलचस्प किताब पढते होते है और कोई चाहे कि आप अकस्मात् पुस्तक बन्द करके अलग रख दे, तो उस वक्त आपको कैसा लगेगा। जब बालक से उसका काम छुड़ाना हो, आप धीरे से उसे सूचना-भर दे दीजिये कि उसके नहाने, खाने या सोने आदि का समय हो

गया है और उसे अब अपना काम समेटना चाहिए। यह भी प्रबन्ध कीजिए कि नहाना, खाना या सोना इत्यादि बालक की नजरों मे अरुचिकर और आफत के काम न बन जाय, बल्कि उसके लिए सुखदायक हो। ऐसा न हो कि वह महसूस करने लगे कि उसे जबर्दस्ती उसके बिछौने पर ठेल दिया गया है और वह इस इन्तजार मे रहे कि कब उसकी मुसीबत का खात्मा हो।

बारह वर्ष की आयु के बाद से बालक को मां-बाप से अलहदा कमरे में सोना चाहिए। यह हमेशा सम्भव नहीं होता, परन्तु यदि छुटपन मे ही आदत डाल दी जाय तो वह अकेला रहने मे डर अनुभव नही करता।

ज्यो ही बालक इतना बड़ा हो जाय कि दरख्तों और ऊचे खम्भो पर चढ़ने लायक हो, तो उसे इन पर चढने और खतरा मोल लेने के लिए उत्साहित करते रहना चाहिए। परन्तु इस बात का आप ख्याल रखिये कि बालक कही इतनी चोट न लगवा बैठे कि उसके अन्दर भविष्य के लिए डर बैठ जाय, और आइन्दा कोशिश करने से ही कतराता रहे।

ऐसी चेतावनी देना—"देखो, तुम गिर पड़ोगे, और कही हाथ-पैर तुड़वा बैठोगे!"—बालक पर ऐसा असर करता है मानो आप उसे रोक रहे हैं। बालक इस पर फौरन अमल करता है। बालक को साफ और सीधी जबान मे निश्चित बात कहनी चाहिए और वह भी ऐसे ढंग से कि जैसे आप हुक्म नही, मशवरा दे रहे है। जैसे—"देखो, ऐसा करना अच्छा है! तुम बुरे लड़के कहलाओगे यदि यह काम न करोगे!"

बालक के साथ हमेशा साफ और पक्की बात कीजिए

आप हमेशा साफ और पक्की बात कीजिए। साफ बताइये, आप बालक को कैसा देखना चाहते हैं। बालक आस-पास की दुनिया को और उसमे उसकी अपनी क्या हकीकत है, जानना चाहता है। आस-पास के लोगों से वह अपने बारे में जो विचार सुनता है वही ख्याल अपने सम्बन्ध मे दिल में बिठा लेता है। उसे कहो कि "तुम बहुत नटखट, सरकश और आज्ञा भंग करने वाले हो—" तो वह वैसा ही अपने-आपको समझने लगेगा और वैसा ही व्यवहार बार-बार करेगा। उसके विपरीत उसे सराहा जाय—"तुम्हारे जैसे भले लड़के तो कभी ऐसा नहीं किया करते।" यह वाक्य बालक को भला और आज्ञा-पालक बना देता है।

बालक के मन में बैठे हुए भय के निरुत्साहक विचार प्रायः हमेशा सयाने लोगों के सुझाए हुए होते हैं। "आशा है कि कि तुम अकेले अंधेरे मे सोये रहने में डर तो महसूस न करोगे।" देखने को बहुत सीधा-सादा-सा वाक्य है परन्तु इस वाक्य ने बच्चे को जताकर होशियार कर दिया कि अंधकारमय एकान्त मे कुछ भय का कारण अवश्य मौजूद रहता है।

भयंकर सपने लेना और सोए-सोए चीख उठना, इस बात का परिचय देते हैं कि बालक भयभीत हो रहा है। 'कहीं वह मां-बाप का लाड़-प्यार खो तो न बैठेगा?' ये चिन्ह प्रायः उस समय प्रकट होते हैं जब बालक का कोई भाई अथवा बहन जन्म लेता है और मां-बाप का ध्यान ज्यादातर इस

नव-जात शिशु की ओर आकर्षित हो जाता है। नव-जात बालक ने सचमुच पहले बालक का स्थान छीन लिया है; और उसे इस बात का रंज होना स्वाभाविक है। मां-बाप को यही उचित हं कि ऐसे समय मे एक तो बालक की दिलचस्पी नये बालक मे उत्पन्न करे। दूसरे पहले बच्चे को कुछ और समय निकाल कर प्यार कर ताकि वह अपने-आपको मा-बाप के लाड़-प्यार से वचित न समझे।

नव-जात शिशु के-प्रति पहले बालक की ईर्ष्या-वृत्ति को भी काबू में रखने का यही सफल उयाय हं कि नए बच्चे के जन्म से पहले ही बड़े बालक को उसके जन्म की प्रतीक्षा हो। इस प्रतीक्षा मे वह उत्साह पूर्वक नव-जात शिशु का स्वागत करने को तैयार बैठा हो। तब वह जन्म के बाद से ही उसमे दिलचस्पो लेना आरम्भ कर देगा। नव-जात शिशु के आगमन की सूचना पहले से ही बालक को होनी चाहिए।

जब घर मे एक ही बच्चा हो तो उसके पालन-पोषण की कठिनाइया बहुत अधिक बढ जाती है। दो-तीन वर्ष की उमर तक तो बालक अपने-आप ही मे मस्त रहता है, और बहुत से साथियो की आवश्यकता अनुभव नही करता। परन्तु उसके बाद वह अपने समान वय वाले शिशुओ का साथ चाहता है। घर मे बालक अकेला ही हो तो मा-बाप उस पर ज्यादा अधिकार समझते है, और उसका लालन-पालन भी विशेष लाड-प्यार के साथ करते है। ऐसे बच्चे का स्वभाव ऐसा बन जाता है कि वह अपनी ही फिक्र मे रहता है, और दूसरो मे कोई दिलचस्पी लेना नही सीखता। दूसरो के लड़ने झगड़ने

प्यार करने इत्यादि की सब वृत्तियां दबी रहती है; क्योकि उन्हे प्रकट होने के लिए कोई राह नही मिली होती। वस्तुओं का आदान-प्रदान लडना-झगडना, शोरो-गुल करना और चीजों की एक दूसरे से छीना-झपटी इत्यादि बाते बालक की मूल चित्त-वृत्तियो (इन्स्टिक्ट्स) के प्रदर्शन के लिए सुन्दर अवसर प्रदान करती है।

शिक्षा का उद्देश्य केवल इतना ही है कि चित्त की मूल वृत्तियों का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) कर दे। इसका तात्पर्य यह है कि इन वृत्तियो मे मनुष्य को प्रेरित करने की जो जबर्दस्त शक्ति है, वह बजाय यह कि मामूली इन्द्रिय-सुखों की तृप्ति हासिल करने के लिए खर्च होती रहे, उधर से हटकर सामाजिक मानव-हित की साधना के लिए उपयोग मे लाई जाने लगे।

मूल चित्त-वृत्तियो का इस प्रकार का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) सम्भव नही है, यदि प्रारम्भ मे ही इन वृत्तियो की प्रेरणा का सर्वथा निरोध (रिप्रेशन) कर दिया जाय। बचपन मे जिस चित्त-वृत्ति का मार्ग इस रीति से अवरुद्ध कर दिया गया हो, बडी उम्र मे समय पाकर वह अपनी प्रारम्भिक अपरिपक्वता को लिये हुए फूट पडती है, और बालक कई प्रकार के अपराध करने लगता है।

यदि बालक की प्रारम्भिक शिक्षा मे सहायक होने के लिए उसके भाई-बहन कोई न हो तो कहीं-न-कहीं से उसके योग्य साथी अवश्य तलाश कर देने चाहिए, और इसके लिए

आधुनिक शिशु-शाला (नर्सरी स्कूल) से अच्छा कोई स्थान नहीं है।

मूल चित्त-वृत्तियों का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) का विषय इतना महत्त्वपूर्ण है और इसे लोग इतना कम समझते हैं कि इस पर कुछ अधिक लिखना जरूरी मालूम होता है।

मूल चित्त-वृत्तियो की कोई परिभाषा या व्याख्यान जाने बगैर भी हर कोई इतना तो समझ सकता है, कि मनुष्यों मे कई प्रकार की स्वाभाविक अन्त प्रेरणाए (इम्पलसिज) होती है जो निचले दर्जे के पशुओ और मनुष्य मे एक समान मिलती-जुलती पाई जाती है।

खतरा हो तो हम 'डर' महसूस करते है, और हमारी अन्त. प्रेरणाए हमे भागने पर मजबूर करती है। जब कोई किसी काम मे हमारी राह रोकता है, अथवा हमसे कोई वस्तु छीन लेना चाहता है, तो हमे 'क्रोध' आता है, और हमारे अन्दर उससे लडने की प्रेरणा होती है। जब हम किसी अद्भुत पदार्थ को देखते है तो हममे 'कौतूहल' उत्पन्न होता है, और हम उस पदार्थ की नजदीक से परीक्षा करना चाहते है।

ऐसे हर मौके पर हमारी तबियत जबर्दस्त तकाजा करती है कि हम इस अन्त. प्रेरणा के अनुसार काम करे। यह दूसरी बात है कि बाहर से कोई ताकत हमारा मार्ग रोके हुए हो, और उसके सामने हमारी अत प्रेरणा रुक जाय यवा सर्वथा कुचली जाय, और इस प्रकार हमारे मानसिक

उद्वेग उस वक्त के लिए ठंडे पड जायं।

चित्त-वृत्ति का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन आफ इन्स्टिंक्ट्स)

अगर आपने कोई कुत्ता बिल्ली अथवा कोई जानवर पाल रखा है तो आप उसके व्यवहार मे भी इन अन्तः प्रेरणाओ की भली-भांति पहचान कर सकते है। परन्तु यहां हमारा अभिप्राय यह है कि आप जरा अपने बालको मे इन की परीक्षा करे। जैसे-जैसे हम बड होते जाते है, इन प्रेरणाओ की लगाम ज्यादा अपने काबू मे करते जाते है और उसे कम ढीला छोड़ते है। यदि हम बडे होकर भली-भांति इन्हे काबू मे न रख सके तो समाज मे अपनी प्रतिष्ठित जगह नही बना सकते। परतु इनको काबू मे करने का अभ्यास हम बचपन मे ही करते है। धीरे-धीरे इन अन्त.प्रेरणाओ को संयम मे लाते-लाते हम उनके उद्देश्य और उनकी दिशा को बदल डालते है, यहा तक कि ये प्रेरणाए हमारे जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी बन जाती है।

'भय' अपने प्राकृतिक रूप मे कायरता का चिह्न है। पर हम उस पर विजय पा लेते है, और हम 'प्राकृतिक शक्तियो से भय' के स्थान पर 'लोकमत के भय' अथवा 'अप्रतिष्ठा के भय' को अवस्थित कर लेते है—और इस प्रकार अपने लिए लोकमत का अनुरंजन करने वाले शिष्टाचार का एक आदर्श कायम कर लेते है और इस आदर्श से नीचे गिरने से भयभीत होने लगते है। इस प्रकार 'भय' की स्वाभाविक मूल चित्त-वृत्ति परिष्कृत होकर ऐसे 'भय' मे रूपान्तरित हो

गई कि जो हमे समाज मे आदर का पात्र बना देती है। यही चित्त-वृत्ति का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) है। इसके द्वारा मनुष्य समाज के अनुकूल और उसमे आदर पूर्वक उठने-बैठने और रहने के योग्य बन जाता है। इतना ही नही, जैसा हम पहले भी कह आये है कि "कौतूहल वृत्ति" हमे ससार के साथ अपनी अनुकूलता और समानता बिठाने मे सहायक होती ह, और वैज्ञानिक तत्त्वान्वेषण की तह मे यही उत्कर्षित वृत्ति 'जिज्ञासा' के रूप मे काम कर रही होती है।

जीवन मे यदि हम अपने व्यक्तित्व को रक्षा करना चाहते हैं तो किसी हद तक 'आक्रमण शीलता' (अग्रेस्सिवनैस) और 'अहम्मन्यता' (सैल्फ एस्टीम) उसके लिए आवश्यक गुण है। आत्म-सम्मान की भावना दफ्तर के एक मामूली क्लर्क के लिए भी उतनो ही आवश्यक हं, जितनी किसी राष्ट्र के प्रधान-मन्त्री के लिए। इन गुणो का सर्वथा अभाव मनुष्य को सार-हीन बना देता है। लडने-भिड़ने और दुश्मन का बहादुरी के साथ मुकाबला करने का उत्साह मनुष्य को निर्बलों की हिमायत करने और सामाजिक बुराइयो का घोर विरोध करने के योग्य बनाता है। परन्तु यदि मूल चित्त-वृत्तियों को सयम मे लाकर पूरी तरह परिष्कृत और सुसस्कृत न कर लिया जाय, तो वह समाज-विरोधी प्रवृत्तिया बन जाती है, और दूसरों को व्यर्थ डराने-धमकाने, रौब गाठने, बात-बात मे अपनी शेखी बघारने इत्यादि दुर्गणो के, रूप मे प्रकट होती है।

चित्त-वृत्तियो का उदात्तीकरण एक अबोध (अनकॉशस)

किया है, परन्तु वृत्तियो पर काबू पाने के लिए सबोध चेतना (कॉशस) की मदद की ज़रूरत होती है। ज्ञानपूर्वक हम इन वृत्तियो की दिशा और स्वरूप को बदल सकते है, परन्तु इन प्रवृत्तियो के प्रवाह को बांध लगाकर सर्वथा रोक नही सकते। इसलिए यह आवश्यक है कि बचपन मे इन वृत्तियो को पूरा करने का कोई सुरक्षित मार्ग दे दिया जाय, और धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा उनके मार्ग और दिशा को बदलकर उन्हे संयत किया जाय।

मिसाल के तौर पर यदि आप किसी बच्चे को इतना दबा दे कि वह अपने क्रोध और आक्रमणशील वृत्ति को कभी किसी प्रकार प्रकट ही न कर सके, तो सम्भव है कि आप यह समझकर भले ही संतुष्ट हो ले कि आपका बालक 'शिष्टाचार', 'सद्व्यवहार' तथा शराफत का पुतला है, परन्तु आप यह उम्मीद न रखे कि जीवन मे वह कभी बहुत आगे बढ़ सकेगा।

ज्ञानपूर्वक वृत्तियो के संयम का मार्ग संकेत द्वारा तथा मिसाल पेश करके शिक्षा देना है। इनका स्थायी प्रभाव बहुत धीरे-धीरे बालक के चित्त पर पडता रहता है और उसकी वृत्तिया आप-से-आप परिष्कृत होती जाती है।

तीसरे अध्याय का सारांश

१. 'जिज्ञासा' एक मन्द प्रेरणा है, जो बहुत ही उपयोगी है—इसे दबाना न चाहिए।

२. बालक के भावुकतामय जीवन के लिए खिलौनों का बड़ा ही महत्त्व है। कलदार खिलौने प्रारम्भ में बहुत उपयोगी नहीं होते

और कभी-कभी वे बालक के दिल में डर पैदा करते हैं।

३. जितनी जल्दी हो सके बालक को मां-बाप से अलहदा कमरे में अकेला सोने की आदत डाल दो।

४. संकेत एक प्रभावोत्पादक तरीका है, जो बालक के जीवन को ढालने के लिए बड़ा ही उपयोगी है। आपको संकेत का भली प्रकार इस्तेमाल आना चाहिए।

५. घर में एक और बालक का जन्म पहले बालक पर बुरा प्रभाव पैदा कर सकता है। ईर्ष्या एक बड़ी विनाशकारी भावना है, और बहुत आसानी के साथ उठ खड़ी होती है। इसके प्रभाव से बालक की रक्षा करने के लिए आपको अत्यन्त धैर्य से काम लेना चाहिए।

६. चित्त-वृत्तियों (इन्स्टिक्ट्स) का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) शिक्षा का उद्देश्य है। परन्तु बालक की वृत्तियों को दबा देने से यह उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता।

७. यदि चित्त-वृत्तियों को भली-भांति प्रकट करने और उनके परिष्कार के लिए घर में उपयुक्त परिस्थितियां मौजूद न हों तो बालक को किसी नर्सरी में भेज देना उचित है।

: ४ :

बालक और रति-वृत्ति—शरीर के अंग-प्रत्यंगों के यथोचित नाम—आचार-विचार और शिष्टाचार—टेढ़े-मेढ़े सवाल—हस्त-मैथुन

कुछ लोगो को बालक के प्रथम पाच वर्षों पर विचार करते हुए रति (सैक्स) विषयक चर्चा उठाना बहुत अजीब-सा मालूम होगा। तथापि इस विषय का बहुत अधिक महत्त्व है।

वे सब वेदनाए और स्वाभाविक अन्त प्रेरणाए (इम्पलसिज़), जो सयानी उम्र मे आकर स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण का मूल वन जाती है, शिशु के जीवन मे आरम्भ से ही बीज रूप मे उपस्थित रहती है। बच्चो मे दूसरो को प्यार करने का उत्साह और दूसरों से प्यार पाने की अभिलाषा प्रारम्भ से हो होती है। केवल प्यार की वृत्ति की दिशा तथा स्वरूप मे परिवर्तन हो जाता है, परन्तु मूल वासना उसी प्रकार अखण्ड बनी रहती है। हां, उसमे कुछ और भावनाए भी आकर मिल जाती है।

रति विषयक शिक्षा (सेक्स एजकेशन) का उद्दश्य यह है कि देह और देह के विविध अगो के व्यापार के प्रति बालक के भाव सर्वथा उचित और भावुकता-शून्य हो जाय। यह तभी

सम्भव है जब कि माता-पिता और आया आदि के भाव भी वैसे ही हो, और वह शरीर के अगो और उनके कार्यों का जिक्र करते हुए कोई शर्म या घबराहट महसूस न करते हों।

जब बालक को शरीर के अगो के नाम बतलाये जाते ह—(अगुलिया, कान, नाक, हाथ इत्यादि) तो प्राय कुछ अगों के नाम जान-बूझकर नही बतलाये जाते। इससे हमे मालूम हुए बगैर बालक के मन पर एक गहरा और अवाछनीय प्रभाव बैठ जाता है। इसलिए बालक को जब शरीर के अग प्रत्यगों के नाम बतलाये जायं तो सब नाम ठीक-ठीक बतलाये जाय। कोई बनावटी नाम बताने की कोशिश न की जाय। बालक के भाव देह के प्रति सर्वथा वास्तविक हो और हमारे बतलाने मे कोई सकेत ऐसा न हो जिससे बच्चे के दिल मे ऐसा ख्याल उत्पन्न हो कि शरीर मे कोई बात रहस्यपूर्ण, गोपनीय अथवा मलिन है।

दैहिक व्यापार के सम्बन्ध म भी जब आप चर्चा करे तब भी सर्वथा भावुकता-रहित सात्विक भाव बनाये रखे। बाद मे जब बालक को शिष्टाचार और सद्व्यवहार की शिक्षा दी जाय उस समय उसे यह बात सुगमता से समझाई जा सकती है कि खास-खास अंगो और उनके व्यापार के सम्बन्ध मे सयम-रहित चर्चा समाज के शिष्टाचार के विपरीत समझ जाती है। परन्तु यहां भी हमें शिष्टाचार (मैनर्ज) और नैतिकता (मॉरल्स) दो पृथक्-पृथक् वस्तुओ को आपस मे गडबड़ाकर फ न कर देना चाहिए।

निन्दापूर्ण विशेषणों—(यथा,गन्दा, घिनौना, भद्दा इत्यादि) जिनमे एक हद तक नैतिक भर्त्सना का भाव पाया जाता ह, उनका प्रयोग उचित नही। इन्द्रियो के व्यापार के सम्बन्ध मे बालक की स्वाभाविक दिलचस्पी को दबाना उचित नही, क्योकि भविष्य मे रति-वृत्ति का जो स्वाभाविक विकास होना है उसमे यह कौतूहल सहायक होता है।

बच्चे नंगे दौडने-फिरने मे अधिक प्रसन्न और स्वच्छन्दता का अनुभव करते है। उन्हे टोकते रहने की बजाय उन्हें ऐसा करते रहने देना चाहिए। बल्कि मा-बाप को अपने शरीर के अग भी बच्चों के सामने बहुत ढापकर और छुपाकर नहीं रखने चाहिए।

रति सम्बन्धी टेढ़े प्रश्नों के उत्तर

यदि बच्चे की रति सम्बन्धी धारणाओ को भटकने से बचाना हो तो उसके स्वाभाविक कौतूहल और इस विषय की जिज्ञासा को यथाशक्ति सतुष्ट करना चाहिए और उसके प्रश्नो के ठीक-ठीक और पूरे-पूरे जवाब देने मे कोई झिझक अथवा हिचकिचाहट जाहिर न करनी चाहिए।

अगर आपने हैरान व परेशान हुए बिना बालक के प्रश्नो के उत्तर दे दिये, तो समझ लीजिये आपने बालक की 'रति सम्बन्धी शिक्षा की समस्या' को हल कर लिया। तब रति विषयक बातो का उसके जीवन मे उतना-भर महत्त्व रह जाता है जितना दूसरी अनेक मामूली-मामूली बातो का।

उसमे कोई राजदारी या गोपनीयता तथा रोक-टोक और खौफ नही रह जाता। वालक को बनावटी लम्बी-चौडी कहानियां सुनाकर टालने या गुमराह करने की कोशिश का परिणाम यह होता है कि वह जो इस दुनिया को अपनी असली शक्ल मे पहचानने और समझने की कोशिश कर रहा था, हमने उसके मार्ग मे अटकाव पैदा कर दिया। कभी-न-कभी जब उसे असलियत का ज्ञान होगा तव अपने माता-पिता और शिक्षक पर से उसका विश्वास बुरी तरह हिल जायगा, जिसका परिणाम बहुत ही भयकर निकल सकता है।

सब प्रश्नो के उत्तर ईमानदारी और सच्चाई के साथ देने चाहिए ताकि जितनी बात बच्चा पूछता है उतनी का उत्तर उसे पूरा-पूरा मिल जाय। कोई कारण नही कि बिल्ली के बच्चो और कुत्ते के पिल्लों की उत्पत्ति का रहस्य उसे क्यों न समझा दिया जाय, और इस रहस्य का भी उतना ही वे-खटके क्यो न जिक्र किया जाय जितना कि मुर्गियो के अंडे देने का।

जब बालक मोटरकार अथवा सूर्य या चन्द्र-ग्रहण के सम्बन्ध मे प्रश्न करता है तो हम इसे भली-भाति समझाने मे कोई असाधारण घबराहट अनुभव नही करते। परन्तु क्या यह अजीब बात नहीं कि जब अपनी उत्पत्ति और अपने शरीर के व्यापार सम्बन्धी प्रश्न करे—जो प्रश्न उसके अपने लिए भी बडे महत्त्वपूर्ण है, तो हम उसे इस विषय मे डाटडपटकर चुप करा दे।

इस साधारण-सी भूल से मा-बाप और शिक्षक एक सीधी-सी बात को जटिल समस्या बना लेते है। इसका मूल कारण तो यह है कि बहुत कम आदमी अब तक इस तर्क-हीन धारणा से अपना पिंड छुड़ा सके है कि रति-वासना की तृप्ति मे अवश्य कोई अनौचित्य और अपराध है। यदि आप कोई ऐसी तरकीब निकाल सकें कि आपके बच्चे अपनी देह के उपयोग के विषय मे इस अपराधीपन के भाव से छुटकारा पा जाय तो आप बच्चों को न केवल अधिक सुखी बनायगे बल्कि स्वस्थ भी।

हस्त-मैथुन और सूनापन

जब बच्चा अपने ही अंगो से कुछ आत्म-सन्तोष पाने की चेष्टा करता दिखाई दे, चाहे वह अंगूठा चूसने मे मग्न हो, अथवा उसकी अगुलिया अपनी जननेन्द्रिय से खेल रही हों तो यह अवसर उस पर नैतिक गिरावट का सन्देह करने और उसके लिए उसकी भर्त्सना करने का नही है। यह वस्तुतः इस बात का चिह्न है कि बालक की तबियत ऊबी हुई है, और वह दिल-बहलाव की सामग्री की तलाश मे है। उसकी दिक्कत यह है कि बाहर उसे दिल-बहलाव की और कोई सामग्री नही मिल रही। यह भी सम्भव है कि उसे मृदुलता और स्नेह का अभाव खटक रहा है और सन्तोष प्राप्त करने के लिए वह अपने ही शरीर को साधन बना रहा है।

यदि आप अपने बालक को स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं तो यह कभी न भूलिए कि बालक को

मृदुलता और स्नेह की बचपन के प्रारम्भिक वर्षों में बहुत अधिक आवश्यकता है। यद्यपि आपका बालक अकेला ही अंधेरे कमरे मे सोता है, परन्तु आपके लिए यह लाजमी है कि सोने के लिए निर्जन कमरे मे छोड़ते हुए उसे यह यकीन करा देने से कभी न चूके कि आपका स्नेह उस पर निरन्तर बना हुआ है और उस जगह अकेला होने पर भी वह पूरी तरह आपकी हिफाजत मे है।

लड़कपन और किशोरावस्था मे किसी हद तक हस्त-मैथुन तो लड़के और लड़कियो म स्वाभाविक होता है, और उसके लिए उन्हें इतना ही सकेत दे देना पर्याप्त होता है कि "अपने हाथो से यह लड़कपन की कुचेष्टा न करके कोई बेहतर काम करो तो क्या ही अच्छा हो।"

जब आदत ज्यादा सवार हो जाय तो समझ लीजिए कि बालक मे अपराध का भाव बहुत जबर्दस्त हो गया है, और भय इतना बढ गया है जो मन मे सदा उपस्थित रहता है। और यह भी स्मरण रखिये कि बालक का मन जिस चीज से डरता है उधर उसका ध्यान बार-बार खिच जाता है।

शैशव-काल और बचपन मे हस्त-मैथुन की आदत को कम किया जा सकता है, यदि बालक को दिल-बहलाव का काफी सामान दे दिया जाय और/उसे यकीन करा दिया जाय कि मा-बाप का स्नेह उस पर निरन्तर बना रहेगा।

चौथे अध्याय का सारांश

१. रति-वृत्ति को जाग्रत करने वाली अन्तःप्रेरणाएं जन्म के साथ ही

बच्चे में मौजूद होती हैं। अपने बच्चों के अन्दर रति-वृत्ति या काम-वासना का विचार करके आप घबरा न जायं।

२. रति-शिक्षा (सेक्स एजूकेशन) कोई समस्या नहीं है। रति शैशव काल में ही आरम्भ हो जाती है और निरन्तर इस शिक्षा में उन्नति होती जाती है।

३. अपने बालक के प्रश्नों का भली-भांति और सचाई के साथ उत्तर दीजिए।

४. आप जैसे मोटरकार की रचना और कार्य-शैली समझाते हैं, शरीर के विविध अंगों की रचना और कार्य-शैली भी आप उसी अविकृत भाव से क्यों नहीं समझा सकते?

५. यदि आपका बालक बुरी आदतों का शिकार हो रहा हो तो घबरा न उठिए, सिर्फ इस बात का इन्तजाम कीजिए कि आपके बालक की तबियत ऊबने न पाए।

: ५ :

सामान्य सिद्धान्त—कपड़े पहनाना और दूसरों के यहां मेल-मुलाक़ात के लिए जाना—बालकों की उपस्थिति में उनके ही सम्बन्ध में बातें करना—नियन्त्रण और सजा—अंत में आपका बालक कैसा बन गया

प्रौढ़ लोग छोटे बच्चो की जिन्दगी को बहुत आसानी के साथ एक मुसीबत-सी बना सकते है। बच्चे के लिए वह समय कितनी सख्त आजमाइश का होता है जब आपके साथ उसे आपके किसी दोस्त रिश्तेदार के यहा मेल-मुलाकात के लिए जाना पड़े। बच्चा अपने किसी दिलचस्प खेल या किसो काम मे सर्वथा मग्न होता है, जब अकस्मात् उसे आपका हुक्म हुआ और आपने उसका सब काम सहसा जबर्दस्ती छुडा दिया। अब बच्चे की मा ने उसके मुह, सिर, नाक, हाथ-पैरो को रगड़-घिसकर उसे जल्दी-जल्दी सजाया-संवारा। उस अवसर पर उसे ज्यादा कसे हुए चुस्त कपडे पहनाये जाते है, जिन्हें हमेशा पहनने का उसे अभ्यास नही है, और जो उसे बहुत तकलीफदेह मालूम हो रहे है। तिस पर उसे सख्त ताकीद की जाती है कि कही इन कपड़ो को गन्दा न करे। इस तरह उसे साज-सवारकर घर के एक कोने अथवा तग गाड़ी में ठेल दिया जाता है और कोई आध

घंटा चुपचाप इन्तजार कराया जाता है, ताकि इस बीच में घर के सब लोग सज-धजकर तैयार हो ले।

अच्छा उसूल तो यह हं कि जब सब लोग तैयार हो लें तो सबके पीछे बच्चे को तैयार किया जाय, ताकि खेल से छुड़ाने के बाद बाहर जाने तक उसे विशेष इन्तजार न करना पड़े। अन्यथा बालक के मन पर उस दिन की भेंट मुलाकात का स्थायी असर यह रह जायगा कि वह ऐसे अवसरों की गणना थकाने वाले और बे-लुत्फ कामों में करने लगेगा और इसलिए जब कभी प्रौढ़ लोगो की चहल-पहल में हिस्सा लेने के लिए उसे कहा जायगा, वह उसे नापसन्द करेगा।

सैर करते वक्त आपने बहुत दफा ऐसा नजारा देखा होगा कि कोई थका-हारा मुसीबत का मारा लाचार बच्चा मा का पल्ला खीचता हुआ उसके पीछे-पीछे दीन दयनीय दशा मे घिसटता जा रहा है, अथवा बच्चेगाड़ी मे बैठा-बैठा थुनकता और बिलबिलाता हुआ चला जा रहा है और मां बच्चे की तरफ से बे-परवाह होकर अपनी किसी सहेली के साथ गप्प लडाती हुई चली जारही है।

यदि मा अपनी सहेली से बच्चे के विषय मे चर्चा कर रही है, बच्चे की बोल-चाल, उसके दिलचस्प व्यवहार इत्यादि का जिक्र चल रहा है तब तो मामला और भी ज्यादा खराब है, क्योकि अपने सम्बन्ध मे मा के मुह से चर्चा सुनकर वह अपने बारे मे एक राय कायम कर लेगा—जब बालक अपनी विचित्र बाल-चेष्टाओ पर सयाने लोगो को हंसते देखता है तो कई बार शरमा जाता है, और इससे उसके मन में

अपने सम्बन्ध में हीन-भाव (इन्फीरिआरिटी कम्प्लैक्स) बैठ जाता है। अथवा बालक दूसरी सीमा पर चला जाता है। जिन-जिन बातों में सयाने लोग ज्यादा दिलचस्पी लेते है, हसते और खुश होते है उन्हे वह बार-बार दुहराकर अपनी दिखावट करता है, और फिर अपने से बड़ो को खुश करने का यही आसान तरीका पकड़ लेता है। नई-नई बाते सीखकर उनको खुश करने की कोई कोशिश नही करता।

इसलिए बच्चे के सामने आपस मे उसकी चर्चा कभी न कीजिए, जब तक इस चर्चा का उद्देश्य बच्चे को सकेत द्वारा शिक्षा देना न हो, "श्यामू मुझे एक मिनट के लिए भी तग नहीं करता। समय पर चुपचाप बिस्तर पर जाकर लेट जाता है, और रात-भर मीठी नीद सोया रहता है।" यह कथन यद्यपि पूर्णतया सत्य न हो, परन्तु श्यामू को सुनाकर उसकी तारीफ के ये शब्द आप अपने किसी दोस्त से इस ढग से कहेगे मानो आपके इल्म मे श्यामू उन्हे सुन नही रहा, तो इन शब्दो मे सकेत द्वारा शिक्षा का पूरा-पूरा बल उपस्थित हो जायगा, और वह मन-ही-मन आपके कथन पर विचार करके आपकी शिक्षा को ग्रहण कर लेगा। परन्तु यदि श्यामू आपके मुह से यह शब्द सुन लेगा—"श्यामू बड़ा नटखट लडका है, और रात-भर दिक किया करता है", तो इसके बाद श्यामू के सुधारने की बहुत कम आशा रखिए।

नियन्त्रण स्वाभाविक होना चाहिए

नियन्त्रण का सवाल काफी मतभेद और विवाद का

विषय बना हुआ है। यह तो बहुत जरूरी है कि बालक की दिनचर्या भली-भांति नियम और व्यवस्था से चलती रहे, और वह सोने, जागने, खाना खाने इत्यादि मे पूरी तरह वक्त की पाबन्दी करना सीखता चला जाय। परन्तु इस विषय मे हमे बिलकुल नियम का गुलाम और सनकी भी न बन जाना चाहिए। आदत और अभ्यास के बारे मे यह भी जरूरी है कि मौका आ पड़ने पर उसे बे-खटके तोड़ा या बदला भी जा सके।

दिन-भर की खेल-कूद के बाद साझ के वक्त बिछौने पर जाना बच्चे के लिए एक हर्ष और आह्लाद का अवसर होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब बालक को उस वक्त मां-बाप का विशेष प्यार मिले, और वह अपने-आपको उनकी पूरी हिफाजत मे समझकर निर्भय हो सके। इसलिए बच्चे को कभी यो ही जबर्दस्ती बिछौने पर ठेल न देना चाहिए कि उसे एक आफत-सी महसूस हो।

उसी नियन्त्रण की कोई कीमत है जिसकी प्रेरणा बालक के भीतर से हो। बाहर से ठूसा हुआ नियन्त्रण निरर्थक होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि फलां काम वह करेगा और फला काम वह कभी न करेगा, इस प्रकार एक स्टैंडर्ड-सा बन जाने के बाद उसे न कोई ताकत बाहर से मजबूर करती है, और न बाहर से कोई सजा का डर उसे किसी काम से रोकता ही है।

इसलिए कायदे कम-से-कम बनाने चाहिए। जो कायदे

बनाये जायं वह भी बालक के हित की दृष्टि से ही बनाये जाने चाहिए, न कि सयाने लोगों की सहूलियत के ख्याल से। बालक से शुरू-शुरू मे यह आशा तो की ही नही जा सकती कि वह शराफत के उस मापदण्ड पर चल सकेगा जो बडे-बूढों के लिए बना हुआ हैं। वह देखा-देखी धीरे-धीरे अनुकरण और अभ्यास करता हुआ उन तौर-तरीको को सीखता तो जायगा, परन्तु उस पर शिष्टाचार और सद्व्यवहार के किसी पमाने को ठूसना और उस पर चलने के लिए विवश करना व्यर्थ और हानिकारक है।

इसालिए इस बारे मे बहुत जोर देने की जरूरत हं कि उसी नियन्त्रण का कोई लाभ है जिसकी प्रेरणा भीतर से मिलती है। बाहर से ठूसा हुआ नियन्त्रण किसी भी काम का नही। इसी तरह, सजा की शक्ल ऐसी होनी चाहिए जो बालक को अपनी कुचेष्टाओ का स्वाभाविक और अवश्यम्भावी परिणाम-मात्र प्रतीत हो। और यदि जान-बूझकर कोई सजा दी जाय तो उसके लिए कोई ऐसी ही वजह होनी चाहिए जिसे बालक भली-भाति समझ सकता हो।

सजा और जिम्मेवारी

ऐसा कभी न होना चाहिए कि आप किसी बात के लिए एक वक्त तो कडी सजा दे डाले, और किसी और वक्त उसी बात के लिए उसे कुछ कहे ही नही। चाटे या बेत मारना अगर कभी जरूरी हो ही जाय, तो बहुत ही कम अवसरो पर ऐसा करना चाहिए। इसकी कभी-कभी जरूरत पड़ सकती

ह जब बालक को फौरन ही ठीक रास्ते पर लाना हो । जसे जब बालक दूसरे बच्चो को मारता-पीटता हो । ऐसे अपराधों के लिए शारीरिक दण्ड देकर बालक को आप यह महसूस करा सकते है कि जब उसे मारा-पीटा जाय तो उसे कैसा लगता है ।

प्राय. लोग सजा और नियन्त्रण के प्रश्न पर बहुत ही परेशान हो उठते है । हर कोई अपने व्यक्तित्व को प्रकट करने के लिए किस प्रकार उत्सुक रहता है, और यदि उसे इसका अवसर न दिया जाय और उसकी इस वृत्ति को बिलकुल कुचलकर रख दिया जाय, तो इससे कैसी-कैसी बुराइया उत्पन्न होती है, इस विषय मे उन्होने बहुत-कुछ सुन रखा होता है, और उन्हे इस बात का डर बना रहता है कि कहीं उनकी अपनी गलतियो की वजह से बच्चे के चरित्र पर बुरा प्रभाव न पड़े ।

यह खतरा बिलकुल निराधार नही है । परन्तु समझदार मा-बाप को डरने और घबराने की कोई जरूरत नही है । सामान्य व्यवहार-बुद्धि, स्वभाविक समझ-बूझ और हर बात को बच्चे के दृष्टिकोण से देखने की भरसक कोशिश इस विषय मे जितनी अधिक सहायक होती है उतना जरूरत से ज्यादा विज्ञान का अनुयायी बनने का प्रयत्न नही । आप जो नियम बनावे वे केवल बच्चे के लाभ को दृष्टि मे रखकर बनावे, न कि सयाने लोगो को परेशानी और चिन्ता से बचाने की खातिर ।

परन्तु इसके विपरीत बालक को उसके चाल-चलन के सम्बन्ध मे जिम्मेदारी के बोझ से बुरी तरह लाद देना भी ठीक नही है। नहाना, खाना, सोना तो बच्चे के मामूली नित्य-नियम बन जाने चाहिए, और इन्हे करते हुए बालक को पूरी तरह बेफिक्री और हिफाजत का विश्वास होना चाहिए। परन्तु अगर आप उससे यह आशा करे कि बाग मे खेलते वक्त भी वह अपने-आपको साफ-सुथरा रखे तो ऐसी आशा करना फिजूल है।

बच्चे के कपड़े ऐसे होने चाहिए जो हर मौके के मुताबिक हो। बच्चे की अवस्था उस समय कितनी दयनीय और करुणाजनक होती है जब उसे धमकाकर एक कोने मे बिठा दिया जाता है, नटखटपन से बाज रहने की ताकीद की जाती है, और बच्चा चुपचाप डरते-डरते वही अपनी अगुलियों से कुछ खेलकर दिल बहलाने की चेष्टा कर रहा होता है। बाल-जीवन का उद्देश्य एक ही है कि नित्य नये तजुर्बे किये जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे खेल और उछल-कूद की खुली छुट्टी होनी चाहिए।

अपनी भाव-वृत्ति को काबू में रखिए

बालक के साथ सलूक करते वक्त जहा अक्लमद माता-पिता कुशल व्यवहार-बुद्धि का परिचय देते है वहा अपने मिजाज और तबियत पर भी हमेशा नजर रखते है। अगर आपकी तबियत मे किसी वक्त चिडचिड़ापन है, और जब सरकारी टैक्स लेने वाला आपसे बार-बार तकाजा करता

है, धोबी कपडे देर से धोकर लाता है, अथवा घर का नौकर आपके बुलाने पर आने मे देर कर देता है, उन दशाओ मे आपकी तबियत का पारा बे-तहाशा ऊंचा चढ जाता है, और आप गालियो की बौछार लगा देते है, घर म एक तूफान खड़ा कर देते है, तो यह बिलकुल स्वाभाविक है कि आपके बच्चे की तबियत पर भी इसका स्थायी असर पड जाय। इसलिए इस विषय मे आपको बहुत ही सावधान रहना चाहिए और कम-से-कम बच्चो के सामने अपनी भाव-वृत्तियो को यत्नपूर्वक काबू मे रखना चाहिए। यह बहुत ही कठिन कार्य है, पर है निहायत जरूरी। प्राय. शिकायत की जाती है कि बच्चे आजकल बहुत 'गुस्ताख' होते जाते है, लेकिन हम भूल जाते है कि वह बोल-चाल और व्यवहार मे अपने से बडो का अनुकरण कर रहे होते है। परन्तु कितने लोग ऐसे है जो बच्चे के आइने मे अपना स्वरूप देखकर अपनी भूलो को समझने और उन्हे सुधारने के लिए तैयार होते है।

मा-बाप प्राय. भूल जाते है कि उनके बच्चे उन्हे उस दशा मे देखने का कम ही अवसर पाते है जब वह परस्पर प्यार और स्नेह मे डूबे हुए शराफत और भलमनसाहत की मूर्ति बने बैठे होते है। प्यार करने की दशा मे वह बच्चों से अलहदा होते है। परन्तु बच्चो की निगाह मे जब तक वे रहते है, आपस मे एक दूसरे के साथ व्यग और गुस्से मे तकरार करते नजर आते है, गर्मा-गर्म बहस मे उलझे हुए होते है अथवा लोगो से बात-बात पर बिगडते दिखाई देते है। सम्भव है कि यह सब उनके

विवाहित जीवन की ऊपरली सतह पर ही हो और वैसे उनके परस्पर सम्बन्ध बहुत ही स्नेहपूर्ण हों, परन्तु बच्चे जितना कुछ देख पाते है वह उनके चरित्र के लिए एक खतरनाक नमूना होता है। एक तो वह लड़ाई-झगडे से यों ही डर जाते है, दूसरे मा-बाप के विवाहित जीवन का नक्शा देखकर वह उसी के आधार पर जरा बड़े होने पर अपने विवाहित जीवन की कल्पना मन मे बिठा लेते है। इस कल्पना का उनके जीवन पर स्थायी प्रभाव होता है।

आप बच्चो के सामने विवाहित जीवन का जो नमूना पेश करते है उस पर बहुत-कुछ इस बात का दारो-मदार है कि आपके बालक और बालिका बड़े होकर सुखी विवाहित जीवन बितायगे अथवा कलह-क्लेश करेगे यद्यपि यह ठीक है कि इसमे कुछ और महत्त्वपूर्ण बातो का प्रभाव भी पडता है।

जब बालक घर की चहारदीवारी से निकलकर स्कूल की जरा बडी दुनिया मे प्रवेश करने लगता है तो उसे कुछ नये अनुभव होते है, जिनके विषय मे माता-पिता को कुछ ज्ञान नही होता। समझदार माता-पिता इस अवसर पर बडी होशियारी और समझदारी से काम लेते है और इस बात का भली-भाति ख्याल रखते है कि बालक के मन पर नई परिस्थिति का अच्छा ही प्रभाव पडे। वह इस बारे म तसल्ली कर लेते है कि बालक के चरित्र-निर्माण की आधार-शिला ठीक तरीके से रखी गई है, और जिन्दगी के प्रति बच्चे के भाव बिलकुल ठीक-ठाक है।

यदि बालक के साथ उचित रीति से सब बर्ताव हुआ हो

तो वह किस नमूने का होगा ?

आधुनिक बच्चा

यह यकीनी बात है कि आजकल के बालक को देखकर पुराने जमाने के बडे-बूढे चौककर दातो-तले अगुलियां देने लगेगे। बीते जमाने मे लोग 'सब कुछ ठीक है' मानकर अपने-आपसे पूर्ण सतुष्ट थे। तब बच्चो का लालन-पालन और शिक्षण किस रीति से होता था, कोई बड़ी बुढ़िया आपको अपने तजुर्बे सुनाकर बताएगी, और कहेगी, "ओह ! उस वक्त के बच्चे कितने भले और सुशील होते थे।" मौसी भागदेवी आपको जब यह सब सुना चुकेगी तो चचा गणेश कसम खाकर कहेगे कि आपका लड़का बडा ही शरीर और काबू से बाहर हुआ जा रहा है, और बूढी दादी अपनी कांपती हुई आवाज मे आप पर रोष प्रकट करके कहेगी कि सारा कसूर तो आपका है, अगर आपने उसकी नसीहत पर कान दिया होता तो बच्चा क्यो बिगड़ता ? बात यह है कि इन बुजुर्गो को अपने वक्त मे यह सिखाया जाता था कि बालक को उसकी बाहर की हरकतों से जाचो। लेकिन परख का यह पैमाना ठीक नही। इन आदरणीय बुजुर्गो की नजरो मे भली-भाति सिखाया-पढाया हुआ बच्चा वह है जो अपनी छोटी-सी उम्र मे ही इन सुसभ्य और शिष्ट बुजुर्गो की हू-बहू छोटी-सी तस्वीर हो। बच्चा बिलकुल साफ-सुथरा, चुप साधा हुआ, शर्म, शील, नम्रता का पुतला, चौके या खाने की मेज के तमाम तकल्लुफ और

शिष्टाचार के नियमों का ऐसा पाबन्द हो कि आपको कही टोकने की जरूरत न पड़े । बस यह नमूना वह पसन्द करेंगे ।

हमारा पाच साल का बच्चा इस परीक्षा मे कभी पूरा नही उतरेगा । उसमे उपर्युक्त प्रकार के कोई भी गुण नही होंगे । फिर भी वह उपर्युक्त प्रकार के बालक से बेहतर होगा। आप देखेंगे कि इसके सब काम आप-से-आप और अत्यन्त स्वाभाविक रीति से सम्पन्न होते है । इसकी हर चेष्टा मे आपको उसकी अपनी सूझ-बूझ और प्रेरणा तथा उत्साह नजर आयगा । आपकी बैठक मे अपनी मां की अगुली पकडे-पकडे प्रवेश करके वह गुम-सुम एक तरफ दुबककर न बैठ जायगा, और न आपके सवालो का जवाब शरमाकर केवल 'हा' या "न' मे देता चला जायगा । वह बे-खटके आपके कमरे मे चला आयगा, और वहा जो भी कोई बैठा होगा उसके साथ बिना किसी झिझक के खुली तरह बात करता रहेगा । इसमे आप हर बात की जिज्ञासा और कुछ-न-कुछ करने की लालसा देख पायगे ।

खाना खाते समय इसके व्यवहार म आप कुछ नुक्स अवश्य निकाल सकेंगे । भोजनशाला के शिष्टाचार का सुसभ्य समाज मे अपना स्थान है, परन्तु उन पर जरूरत से ज्यादा जोर न देना चाहिए । उपदेश से ज्यादा आसरा लीजिए, और यदि आपका बालक जानता है कि उसे कब कैसा व्यवहार करना है तो इस बात की चिन्ता न कीजिए कि वह सदा व्यवहार के आदर्श पर पूरा ही उतरे ।

बच्चों और प्रौढ़ लोगों के अधिकार

जिस बालक का लालन-पालन उचित रीति से हुआ हो, कोई वजह नही कि वह आपके लिए किसी भाति भी दु ख-दायी साबित हो। बालक का अपना व्यक्तित्व है और उस व्यक्तित्व को जतलाने का उसे पूरा अधिकार है। परन्तु यदि उसने आत्म-सम्मान का भाव ग्रहण कर लिया है तो उसे यह समझाने मे दिक्कत न होगी कि दूसरो के इस अधिकार का भी उसे पूरा-पूरा सम्मान करना चाहिए। इस बात का यदि ध्यान रखा जाय कि बालक को बिलकुल अकेले खेलने का अवसर मिले, जहा उसका निरीक्षण और नियन्त्रण करने वाला कोई व्यक्ति न हो, तो बालक भी मा-बाप को, जब वह किसी काम मे ज्यादा संलग्न होगे, अकेला छोड़ देगा और उनके एकान्त को भग न करेगा। वह उनके इस अधि-कार को स्वीकार करेगा।

बच्चे के खिलौनो और उसकी फर्जी चीजो की कद्र करते हुए यदि आप उसी भाति व्यवहार करेंगे मानो ये वस्तुए उसकी कीमती सम्पत्ति है, तो वह भी बड़ो के उपयोग की वस्तुओ की कद्र करना सीख जाता है, और उन्हे बिगाड़ता नही। यदि घर मे इतनी जगह न हो कि बालक और प्रौढ दोनों ही अपनी-अपनी दुनिया साथ-साथ बसा सके, और दोनों मे जगह के लिए तकरार होती हो, तो घर के प्रौढ लोगो को तगी उठानी चाहिए, और बच्चे के लिए उन्हे जगह की तक-लीफ अपने ऊपर झेल लेनी चाहिए—लेकिन बच्चे को

मुश्किल न पड़नी चाहिए।

इसमे अवश्य कठिनाई और तगी तो महसूस होगी, परन्तु जिन्दगी को आगे वढाना है, और हमारे बच्चों को ही हमारे बाद जिन्दगी की मशाल को जिन्दगी की दौड मे अगली मंजिल पर पहुचाना है।

पांचवें अध्याय का सारांश

१. जब आपको कहीं मेल-मुलाकात के लिए जाना हो तो बच्चे को सबसे पहले तैयार करके बाद में इन्तजार मत कराते रहिए। पहले आप तैयार हो लीजिए और फिर बच्चे को तैयार कीजिए।

२. आपके बच्चे आपके साथ चल रहे हों, और आप-अपने दोस्तों-मित्रों के साथ गप्पें लड़ाते जा रहे हों, यह ठीक नहीं है। ऐसे वक्त सोचिए कि आपके लिए यह गप्पबाजी भले ही दिल-बहलाव का साधन हो, परन्तु आपके बच्चों को उन बातों में कोई दिलचस्पी नहीं है। वे इस तरह से सैर से उकता जायंगे।

३. बच्चे की उपस्थिति में उसके सम्बन्ध मे कोई बातचीत न कीजिए।

४. आपके घर के सब नियम बच्चे की सुविधा के अनुकूल होने चाहिएं, आपके आराम के ख्याल से नहीं।

५. अपनी तबियत पर काबू रखिए। कल आप बच्चे के जिस व्यवहार पर हँस दिये थे, आज उसी तरह के व्यवहार पर आपका उसे डांटना-फटकारना कितना अनुचित है। इस से बच्चा भौंचक्का-सा रह जाता है और सहम जाता है।

६. हर समय बच्चे से लोकाचार के नियमों के पूर्ण पालन की आशा न कीजिए। इतना काफी है कि आपके बालक को मालूम हो कि

मुनासिब बात क्या है। उस बालक की अपेक्षा जिसके व्यवहार में देखने में तो नुक्स नहीं, लेकिन यूं बनावट है; वह बालक ज्यादा अच्छा है जो स्वाभाविक रीति से खुद-बखुद काम करता है ।

ऊधमी बालक—झुंझला उठने वाली तबियत—ईर्ष्या-झूठ बोलने की आदत—परियों की कहानियां—धर्म-शिक्षा का प्रश्न

हम ऊपर कह आये है कि घर के कायदे-कानून सब बच्चे के फायदे के लिहाज से होने चाहिएं, न कि प्रौढ़ पुरुषो की सहूलियत के लिए। हम ऊपर जो कुछ लिख आये है उससे यह भी साफ होगया होगा कि 'नटखट' बच्चे अपनी परिस्थितियो का ही परिणाम होते है।

अगर इस बात का कारण जानना हो कि श्यामू अथवा रेणुका दोनो बच्चे क्यों आपके लिये इतने दुखदाई और एक आफत सी बन गये है, तो माता पिता को आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, और यह जाच करनी चाहिए कि इन बच्चो की बूढ़ी बडी अम्मा या मौसी उनसे किस प्रकार का सलूक करती है, अथवा और जिन सम्बन्धियों से उन्हे हर रोज वास्ता पडता है उनका व्यवहार कैसा रहा है।

प्रशंसा की आवश्यकता

अपने चुस्त और फुर्तीले जीवन मे बच्चा हरदम यह चाहता है कि आपका ध्यान उसकी ओर खिचा रहे और आप जी भरकर उसकी तारीफ करते रहे। यदि इस उद्देश्य

को वह उचित मार्ग से हासिल नही कर सकता तो फिर वह अनुचित तरीको को काम मे लाता है। यदि मुनासिब तरीके से प्रशसा की जाय तो उसमे शेखी का भाव पैदा नही होता। "वाह,वाह! तुमने यह काम तो खूब कर लिया, इसी तरह रहा तो एक दिन ऐसा आयेगा जब तुम इससे भी अच्छी तरह इसे कर सकोगे।" तारीफ मे यह भाव रहना चाहिए, चाहे जब शिशु आप-से-आप स्टूल पर चढ जाय तब, अथवा जब स्कूल जीवन मे सफलता लाभ करे तब।

खाने पर नाक-भौ सिकोडते रहना यह भी एक तरीका है जो बड़ो का ध्यान अपनी तरफ खीचने और मशहूरी हासिल करने के लिए बच्चे अक्सर अख्तियार किया करते है। इसका इलाज यही है कि जब बच्चा खाना खाने से इन्कार करे तो इस बात को बिलकुल ही महत्त्व न दीजिये, और बगैर कुछ कहे-सुने इस बात को जाने दीजिये। परन्तु यह याद रखिये, आपका कर्तव्य इतने मे समाप्त नही हो जाता। आपको अभी जाच करनी है कि बालक के खाना खाने से इन्कार करने का असल कारण क्या है, और उसकी अहम्मन्यता को किस बात से ठेस पहुचो है, जिसने उसे इस टेढे-मेढे तरीके से अपने व्यक्तित्व को जतलाने के लिए मजबूर किया है।

जैसा कि हम पहले भी कह आये है कि जब घर मे और बच्चा पैदा हो जाय तो प्राय ऐसा होता है कि पहला बच्चा, जो पहले हसता, खेलता और खुश रहा करता था,

और हर तरह से ठीक चल रहा था, एक दम लडकपन की बात करने लगता है, और ऐसा आचरण करता है मानो अभी छोटी उम्र का शिशु ही हो। वह अपनी सब पहली शिक्षा और अभ्यास भूल-सा जाता है। वात-वात पर झुझला उठना, विछौने पर पेशाव कर देना और कपडे गन्दे कर लेना इत्यादि वातो से मां-वाप का सारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेना चाहता है जो ध्यान वह इस समय नव-जात शिशु पर इतनी उदारता के साथ खर्च कर रहे होते है।

अर्थात्, अब आपका वालक जिन्दगी की दौड मे आगे बढने की वजाय पीछे को लौट पडा है। "मै भी तो शिशु हूं, मै भी आपके स्नेह और आपकी परवाह का हकदार हू।" यह बात वालक अपने अद्भुत व्यवहार के द्वारा आपसे कहना चाहता है। ऐसे अवसर पर वालक के साथ विगडिये नही। नव-जात शिशु से जरा समय वचाकर इसके साथ भी स्नेह कीजिए और इसे यकीन दिला दीजिए कि उसने आपका प्रेम गवाया नही है। सवसे वडी बात यह है कि उपर्युक्त असाधु व्यवहार के लिए उसकी डाट-डपट न कीजिए, क्योकि इससे उसकी ईर्ष्या का आवेग इतना वढ जायगा कि वह सहार न सकेगा।

ईर्ष्या की समस्या

ईर्ष्या के कारण से जो नटखटपन वच्चे म आ जाता ह, ज़री नही कि वह नव-जात शिशु के कारण ही पैदा हो।

घर मे कोई बच्चा आ जाय, और मा या बाप स्वाभाविक तौर पर उसकी देख-भाल और खातिरबाजी मे इतने लग जायं कि उनका सारा ध्यान उसी पर केन्द्रित हो जाय तब भी घर का बच्चा ईर्ष्या से जल जायगा। ऐसे सब अवसरों पर इसका एक ही उपाय है कि बच्चे को यकीन हो जाय कि आप उसे ही अधिक स्नेह करते है, और साधारण तौर पर उसकी तारीफ करते है, चाहे किन्ही विशेष अवसरो पर ऐसा न भी दीख पड़ता हो।

"तुम बहुत शरीर लडके हो। जाओ, मै तुम्हे प्यार नही करता।" इस प्रकार के वाक्य जितने हानिकारक है आप उनका अन्दाजा नही लगा सकते।

झूठ बोल देना और मामूली चोरी करना इस उम्र मे इतनी स्वाभाविक चेष्टाये है कि आप इन्हे कोई समस्या समझिये ही नही। पाच वर्ष तक—और छ. या सात वर्ष तक भी—बच्चा कल्पित क्या है और असल वस्तु क्या है इन दोनो मे भली-भाति पहचानकर ही नही सकता। इसे पहचान करने मे सहायता देनी चाहिए, परन्तु जब कभी वह सचाई से दूर जा रहा हो तो हमेशा यही न समझ बैठना चाहिए कि वह जान-बूझकर आपको गुमराह करने के लिए ऐसा करता है। क्योकि आप बच्चे को ठीक राह पर लाना चाहते है इसलिए अपने कथन पर ज्यादा ध्यान दीजिए और इस बात का प्रयत्न कीजिए कि आप बिल्कुल यथार्थ बात कहे और उस मे रत्ती-भर भी अत्युक्ति न हो।

मां-बाप को जरा देखने-भालने से मालूम हो जायगा कि वह स्वय इस विपय मे कितने अधिक अपराधी है।

दूसरों की वस्तुओ की कद्र करना सिखाना हो तो आपको खुद बच्चे की वस्तुओ को कद्र करनी पडेगी। और यह भी न भूलना चाहिए कि और कई प्रकार के असद्-व्यवहारो की तरह चोरी करना भी केवल अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने का एक साधन-मात्र हो सकता है। चोरी करता हुआ बच्चा शायद स्नेह का भूखा हो। और प्रायः कई मा-बाप अपने ऊपर तथा बच्चे पर अनावश्यक नियत्रण ठूसकर बालक को स्नेह से वञ्चित कर देते है।

परियों की कहानियां

कई दफा मुझे ऐसे मां-बाप से मिलने का अवसर हुआ है जो बालक के सम्बन्ध मे प्रत्येक बात ठीक-ठीक ही करना चाहते है, और उन्हे सन्देह रहता है कि परियो की कहानियां सुनाकर वच्चो की कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करना उचित होगा अथवा नही।

काल्पनिक कहानिया सुनाना और बात है, और जान-बूझकर जीवन के कुछ तथ्यो को गलत तरीके से बयान करना बिलकुल दूसरी बात है। मनुष्य के मानसिक विकास में कल्पना-शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह उच्च आदर्श की झाकी करा देती है और उस पर पहुचने की प्रेरणा इसी से मिलती है।

जिस वच्चे को वास्तविकता के अतिरिक्त कुछ भी न

बतलाया गया हो, जो निरी ठोस घटनाओ और सूखे सीधे तथ्यो की चक्की पीसता रहा हो वह एक अरसिक, उत्साह-हीन और निस्स्वत्व-सा प्राणी बन जायगा।

कल्पना का अभ्यास और उपयोग वास्तविकता को समझने की योग्यता भी बढा देता है। परियो की कहानियो का बच्चे की शिक्षा मे अपना ही स्थान है। परतु ये कहानिया सुनाते हुए उनका आरम्भ ऐसे वाक्यो से करना चाहिए—"कभी की बात है कि··" "बहुत ही पुराने जमाने की बात है कि—" इत्यादि।

धर्म-शिक्षा के सम्बन्ध में सावधानी

बचपन के प्रारम्भिक वर्षो मे धर्म-शिक्षा का प्रश्न बहुत टेढा है। धार्मिक श्रद्धा रखने वाले मा-बाप की यह इच्छा बहुत ही स्वाभाविक है कि उनका बालक शुरू से ही धर्म की राह अख्तियार करे। परन्तु यदि प्रारम्भ मे ही बालक के दिमाग मे धार्मिकता भर दी गई तो सम्भव है कि बालक उसके कुछ अगो पर आवश्यकता से अधिक ध्यान दे, और इसका उसके मन और बुद्धि पर बहुत बुरा असर हो।

सबसे जरूरी बात है कि बालक के दिमाग पर ऐसी पाप-भीरुता सवार न हो जाय कि हर बात मे उसे पाप का भय ही सताता रहे। बच्चे इस भय को जल्दी ही पकड लेते है। आप कितनी ही कोशिश करे, दिन मे अनेक बार बच्चे को ऐसा अनुभव होगा कि वह बार-बार गलती करता

है। बच्चा अपने-आपको इतना छोटा ख्याल करता है, और आसपास की दुनिया से उसकी स्वाभाविक अन्तः-प्रेरणाए इतनी भिन्न होती है कि अपने-आपको वह रह-रहकर कसूरवार समझने लगता है।

पाप की भावना स्वाभाविक नही है, वह दूसरो से ली जाती है, इसी के साथ पाप के पश्चात्ताप के लिए सजा की जरूरत भी देखा-देखी मनुष्य अनुभव करने लगता है।

यदि हम मनोवैज्ञानिक विवेचन करे तो बच्चे के नटखटपन की तह मे सजा पाने की एक इच्छा पाई जाती है जो उसकी अबोध चेतना मे उपस्थित है। इसका आधार यह धारणा है कि दण्ड लेकर मनुष्य दुनिया के अनुकूल बन जाता है, और बालक तो दुनिया के साथ अपनी अनुकूलता स्थापित करने का निरन्तर उद्योग कर ही रहा होता है। खीझकर मा-बाप कहते है—"शरारते करके तुम खुद वह चीज (दण्ड) माग रहे हो, जो तुम पाओगे और वस्तुत. बिना समझे-बूझे वह हालत की बिलकुल ठीक मनोवैज्ञानिक व्याख्या कर रहे होते है।

एक भयानक सत्ता—जो बच्चे के अपने मा-बाप से ज्यादा बडी और महान् है—अत्यन्त रहस्यमय है, और प्रतिक्षण बच्चे की हर चेष्टा को देख रही है—यह धारणा उसे अपनी हीनता और तुच्छता का पहले से भी ज्यादा अनुभव करा देती है। हमेशा हर काम करते वक्त उसे कोई देखता रहता है, यह धारणा भी उसकी घबराहट और परेशानी का कारण

बन जाती है ।

परमात्मा की धारणा

इसलिए यदि बालक को परमात्मा के सम्बध मे कुछ बताना हो तो उसे इस रूप मे पेश न करना चाहिए मानो वह कोई बड़ा सिपाही है जो सदा देखता रहता है कि कब कोई कसूर करे और वह गिरफ्तार करे। इसके स्थान पर परमात्मा को सृष्टि के सिरजनहार के रूप मे पेश करना चाहिए ।

मेरा यह अभिप्राय तो नही कि बालक को धर्म-शिक्षा दी ही न जाय—परन्तु कहने का मतलब यह है कि यह शिक्षा-मनोवैज्ञानिक ढग पर, बालक के मनोभावो और समझ-बूझ के अनुकूल ही होनी चाहिए ।

प्रार्थना का अभ्यास

धर्म-भाव वाले मा-बाप के बच्चे देखा-देखी शायद परमात्मा का भजन भी करना चाहे। उन्हे इसके लिए प्रार्थना के घिसे हुए शब्द रटाने की बजाय यह समझा देना काफी है कि प्रार्थना का अभिप्राय इतना ही है कि वह दिन-भर मे जितनी भली बाते हुई है उनको याद करे, उन पर विचार करे और उनके लिए शुक्रगुजार हो।

यह स्थूल-सा सकेत-मात्र है । बहुत से मा-बाप इसम काफी सुधार कर लेगे । यहा उसूल की तरफ इशारा किया गया है । वह धर्म जो व्यक्ति से आत्म-सम्मान छीनकर उस

मे यह भाव बिठा दे कि वह महापातकी या गुनहगार है, ऐसा धर्म वा शिक्षा वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से निन्दनीय है।

धर्म-शास्त्रो की प्रार्थनाओं मे कही कोई ऐसा भाव नही है। और जहा कही धर्म-शास्त्र मे इसका सन्देह होता है वहा उसका उद्देश्य अपराधीपन की भावना को पक्का करना नही, बल्कि मनुष्य को यह बतलाना है कि वह अपने-आपको ही सब कुछ समझकर अपने-आप मे ही भूला न रहे।

मा बच्चे के अदर कितना ही धर्म-भाव भरने का प्रयत्न क्यों न करे वह धर्म की कद्र करना या उससे घृणा करना मा-बाप के व्यवहार को देखकर ही सीखता है। निस्वार्थ भाव का जीता-जागता उदाहरण सचाई, भलमनसाहत और सौन्दर्य की निरन्तर व्यावहारिक उपासना बालक के मन को ठीक रास्ते पर डाल देती है। बालक को यह भी विश्वास करा देना चाहिए कि परमात्मा उसकी ओर है। धार्मिक विश्वास बाद मे स्वय दृढ होते रहते है।

छठे अध्याय का सारांश

१. ऊधमी बालक अपने आसपास की अवस्थाओं का परिणाम होते हैं।

२. सब बच्चे अपनी प्रशंसा के भूखे होते हैं। यदि उन्हें वह भलमनसाहत से नहीं मिलती तो वह नटखट बनकर उसे हासिल करने की कोशिश करते हैं।

३. बच्चों को झूठ बोलने अथवा मामूली चोरी करने की आदत इसलिए पड़ जाती है कि बच्चे को ऐसा लगने लगता है कि मां-बाप

का स्नेह उस पर निरन्तर कम हो रहा है अथवा वह असुरक्षित दशा में है।

४. परियों की कहानियों का कोई नुकसान नहीं है। दुनिया की घटनाओं के सम्बन्ध में कभी गलत बातें कहकर बच्चे की बुद्धि को गड़बड़ाहट में मत डालिए।

५. धार्मिक शिक्षा देते वक्त मां-बाप को पूरी कोशिश करनी चाहिए कि बालक में यह भाव उत्पन्न न हो जाय कि वह गुनहगार है। पाप-भीरुता हानिकारक है।

६. बालक के मन में परमात्मा के लिए धारणा सखा-भाव की हो। वह उसे खतरनाक पुलिसमैन ख्याल न करता रहे।

हमारी

मनोविज्ञान माला की

आगामी पुस्तकें

बाल्यावस्था

(५ साल से १० साल तक के बच्चो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण) —मेरी चैडविक

हीन-भाव

(उसका विश्लेषण और दूर करने के उपाय) —डब्ल्यू. जे. मैकब्राइड

इच्छा-शक्ति

(इसके विकास के उपाय) —जौन कैनिडी

रति-वृत्ति

(सैक्स सम्बन्धी प्रामाणिक मनोवैज्ञानिक विश्लेपण)